THE BOOK WAS DRENCHED

TIGHT BINDING BOOK

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_178773

UNIVERSAL
LIBRARY

मेरी कमला

मेरी कमला

कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी

सरोजिनी साहित्य मंदिर
हुसैनीआलम रोड़, हैदराबाद (दक्षिण).

प्रगति प्रकाशन
नई दिल्ली

अनुवादक

ठाकुर राजबहादुर सिंह

प्रोग्रेसिव पब्लिशर्स, १४-डी, फ़ीरोज़शाह रोड,
नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित।
मुद्रक—गोपीनाथ सेठ, नवीन प्रेस, दिल्ली

मूल्य चार रुपये

अनुक्रम

१.	मेरी कमला	....	७
२.	एक साधारण अनुभव	....	१५
३.	कोकिला	....	२३
४.	मेरा उपयोग	....	४५
५.	एक पत्र	... .	५६
६.	गौमति दादा का गौरव	....	६४
७.	शामलशाह का ब्याह	....	७३
८.	शकुन्तला और दुर्वासा	....	८५
९.	गुजरात के कविवर	....	९५
१०.	मैं क्या करूँ ?	... ...	१०७
११.	नई आँखें, पुराना तमाशा	....	११३
१२.	अपनी सफाई में	....	१२५
१३.	स्मरण देश की सुन्दरी	... .	१३३
१४.	अग्निहोत्री	....	१४५
१५.	प्राइवेट सेक्रेटरी	... .	१५५
१६.	एक स्वप्न	... .	१७७
१७.	मेरी कामचलाऊ धर्मपत्नी	....	१८३
१८.	स्त्री-संशोधक मंडल का वार्षिक समारोह	...	१९९
१९.	कण्डु-आख्यान	... .	२२७
२०.	भावी पत्रकारों के लिए	....	२४९
२१.	वैकुण्ठ से वृंदावन	....	२५५
२२.	फौजदार साहब	....	२७१
२३.	प्रणय—पुराना और नया	....	२९५

मेरी कमला

आप भले ही न मानें, पर कितनों ही के जीवन पर दुर्भाग्य की दुहरी मार पड़ा करती है; आरम्भ से अन्त तक सुख का स्वप्न भी उन्हें दुर्लभ होता है। ऐसे व्यक्ति का उदाहरण चाहिए तो मैं हूँ। जन्म से एक भी पाँसा सीधा नहीं पड़ा, एक भी काम निर्विघ्न नहीं पूरा हुआ, एक भी अवसर ऐसा नहीं गया जब बाधा न पड़ी हो। कभी-कभी तो ईश्वर की भलाई पर भी सन्देह होता है। नहीं तो क्या पहलौंठी का पुत्र जनते ही माँ उसका सुखद रोदन सुने बिना ही स्वर्ग सिधार जाती? क्या बेचारा बाप अपने एकमात्र बेटे की कोई व्यवस्था किये बिना, अथवा किसी को सुपुर्द किये बग़ैर अपनी पत्नी के एक वर्ष बाद ही इस लोक से चल बसता?

होगा! जो होनहार था सो हुआ। बचपन के भोलेपन और अज्ञान-भरी निर्दोषता में प्रियजनों ने बिसरा दिया और मैंने अकेले ही संसार के सुनसान में भटकना आरम्भ किया। कैसी कठिनाई से पढ़ाई की, कहाँ-कहाँ मारा-मारा फिरा, कहाँ भोजन किया, कहाँ सोया—यह सब जानने की ज़रूरत किसको है? बहरी दुनिया को सुनाने से क्या लाभ? बाईस वर्ष तक कबाड़ी की तरह सभी धन्धों में पड़कर मैं जीवन में इतना लाभ प्राप्त करना आरम्भ कर सका जितना किया जा सकता था।

मैं कमाता और मेरी जाति की एक गरीब विधवा घर-बार चलाती। वह मेरे घर में अपनी लड़की के साथ रहती थी। कमला आठ वर्ष की,

रूपवती और तेजस्विनी थी। उसका सदा हँसी से खिला हुआ मुखड़ा मेरे सुनसान घर की शोभा था। वह हँसती और निरन्तर कोई-न-कोई नया नटखटपन दिखाती रहती। मैं उसे अपने साथ खिलाता और कभी-कभी पढ़ाता; पर उसकी माँ को उसके प्रति कोई चाव नहीं था। होता भी क्यों? वह कठोर-हृदया पापिनी माता अपनी इकलौती बेटी को सोती छोड़ एक राजपूत के साथ कहीं भाग गई। उसका पता न लगा। बेचारी अनाथ कमला को अब एकमात्र मेरा ही सहारा रह गया।

अनाथ का अनाथ के प्रति स्वाभाविक आकर्षण होता है। दो निराधार पंछी यदि एक साथ उड़ने लगें तो इसमें नई बात कौन-सी है? मेरे और कमला के न नीचे धरती थी न ऊपर आकाश। हमारा स्नेह बढ़ा। माता-पिता और भाई-बन्द के अभाव में दबी हुई चाह को अब स्थान मिला; कमला मेरी सर्वस्व बन गई। उसके हँसने पर मैं हँसता और रोने पर रोता। चौबीस घण्टे उसीकी याद में समय बीतता, और उसके सुख-साधन तैयार करने में मैं अपने जीवन को कृतार्थ मानता। मेरी कमला को तनिक भी आँच आती तो मैं जल मरता। उसे माँ का वियोग सताता, पर मैं उसे स्नेहार्द्रता द्वारा ऐसा सन्तोष प्रदान करता रहता जिससे वह उस विछोह को भुला सके। कमला भी मुझे देखकर ही सुखी रहती और मेरे दुःख से दुःखी हो जाती। उसके कोमल अन्तःकरण ने मेरे स्नेह को स्वीकार कर लिया।

वह और मैं—दोनों प्रेम-पाश में बँध गये।

मुझे कभी-कभी सन्देह होता कि क्या इस हँसती-कूदती हिरनी का अस्थिर स्वभाव अगाध प्रेम को समझ सकेगा? उसका स्वभाव बड़ा ही चंचल था, एक विषय पर टिकना उसके लिए दुःखद प्रतीत होता। मेरी शंका कभी बढ़ती और कभी नष्ट हो जाती; पर मैं अपने ढंग से ही चलता गया। पढ़ाई के बाद बैंक में नौकरी करके मुझ में कुछ नियमितता आगई थी, पर अब मैं उसे भी भुलाने लगा। कमला की हँसी में वह बिजली होती जो मेरे कठिन-से-कठिन नियमों को भंग कर देती। उसकी

आँखों का इशारा पाकर मैं अपना बड़े-से-बड़ा निर्णय शौक से भंग कर देता। उसका रूप बढ़ने लगा। वह जवानी की पहली सीढ़ी पर चढ़ने लगी। उसके सौन्दर्य ने मेरे हृदय में अनेक विकारों की प्रेरणा कर दी। उसका कोई निकट-सम्बन्धी तो था नहीं। मैंने उससे पूछा तो उसने मुझे अपना बनाना स्वीकार कर लिया।

हमारा विवाह हो गया। इसके पश्चात् के सुख का क्या कहना? जहाँ एक-दूसरे के प्रति प्रेम की चाह उभरती हो वहाँ सुख की क्या सीमा? समय, धन, धर्म, प्रभुता—सबको ठोकर मारकर मैं अपनी कमला को रिझाने में व्यस्त रहा। दोनों हृदयों के सुख-संगीत में एक तार था। मैंने जगत् का जंजाल और भविष्य का भान छोड़ प्रचण्ड प्रेम-यज्ञ का समारम्भ कर दिया। इसे पागलपन कहो या मूर्खता, पर थी यही बात। मेरे विचार से तो वही बुद्धिमता की चरम सीमा थी। इस सुख के पीछे स्वर्ग भी आकांक्षा करने के योग्य नहीं प्रतीत होता।

वर्षों बीत गये। मेरे मित्र मेरे इस ढंग पर हँसते। मेरी सांसारिक प्रवृत्ति की बेपर्वाही से मेरे व्यापार में नुकसान आने लगा और मेरे शुभ-चिन्तक मुझे चेतावनी देने लगे; फिर भी मैं बेपर्वाह ही बना रहा। प्रेम मिले तो फिर किसकी पर्वाह? वे क्या जानते थे कि मैं प्रेम का रोगी था?

अन्त में ग्रहदशा बदल चली और एक रात एक स्त्री ने आकर किवाड़ खटखटाये। मेरी कमला की माँ अनैतिकता से संत्रस्त, भटकती, ठोकर खाती, हड्डियों का ढाँचा बनी अब अपनी बेटी की खोज में आई थी। मैंने उसे चली जाने के लिए कहा; पर वह मेरी बात कब सुनने-वाली थी? उसकी दृष्टि अपनी बेटी, और दामाद की कमाई पर थी। वृद्धावस्था में अपनी पुत्री का सुख देखने के लिए उसने मेरे घर ही रहने का निश्चय प्रकट किया। ऐसी कठोर और बदचलन स्त्री मेरे घर में रहे और मेरी पत्नी के निष्कलंक अन्तःकरण को कलुषित करे, यह बात मुझसे सहन नहीं हुई। मैंने उसे अलग ही रखा, पर इस तरह वह फुसलाई

जानेवाली नहीं थी। वह सारे दिन मेरे ही घर रहती और मेरी कमला के कोमल मन पर पूरा अधिकार जमाती। वह मेरे और कमला के बीच भेद का पर्दा डालने लगी। मैं लड़ा-झगड़ा और बिगड़ा; पर मुझे शान्त होकर सब कुछ सहना पड़ा। कमला तो मेरे विपरीत अपनी माँ को अपने मन में एक पवित्र मातृ-मूर्ति के ही रूप में देखती थी। उसके निन्दनीय आचरण को वह भुला देती, और मनस्वी माता की मूर्त्ति को अपने हृदय का अर्घ्य अर्पण करती। मैं कहता तो वह नाराज़ होती। मैंने भी उधर ध्यान देना कम कर दिया। मुझे कमला पर पूरा विश्वास था। मैंने आँखें मूँद लीं, सुनी-अनसुनी कर दी और मैं अपने इस रुख का परिणाम देखने की प्रतीक्षा करने लगा। मेरी कमला के एक क्रोधपूर्ण कटाक्ष से मेरा सारा दिन बेचैनी में बीतता। उसे प्रसन्न रखने के लिए मैं धीरे-धीरे उसकी माँ की ओर भी चुपचाप ही देखने लगा।

पर कमला में यह अन्तर? मैं इसे मान भी न सकता था। क्या उसका प्रेम कुछ घट गया? जो पहले मुझमें ही मस्त रहती थी, वह अब अपनी माता के गुणानुवाद में ही ग्रस्त रहने लगी। पहले जिस उत्तम दिशा में उसके विचारों का झुकाव था वह बदल गया। जिस प्रीति-रीति का संचार हममें पहले हुआ था वह उसे भूल गई और जहाँ सरल विश्वास था उस पर अब दाग पड़ने लगा। मैंने समझा कि इसमें मेरा भ्रम हो सकता है। ऐसे विचारों को मन से निकाल डालने का प्रयत्न भी मैंने किया। पर वे कैसे जाते? जो सारे दिन मेरे लिए ही व्यस्त रहती, वह अब इस बात की भी पर्वाह नहीं रखती कि मैंने खाना खा लिया या नहीं। यह कैसी विचित्रता थी!

कुछ दिनों बाद मेरी कमला की माँ बीमार पड़ी और उसके योग्य दूसरी दुनिया में जहाँ जगह थी वहाँ के लिए सिधार गई। प्रेम स्वार्थी होता है। मैंने सोचा था कि अब मेरी कमला फिर मेरी हो जायगी। उस समय तो वह महान् शोक-सागर में डूब गई। उसके चेहरे पर तेज नहीं रहा। हँसी गायब हो गई और वह सारे दिन माँ के लिए विलाप

करने लगी। मेरे आश्वासन देने पर वह चिढ़ती और मेरे स्नेह से वह रौद्र रूप धारण करती। मैंने यह समझा कि समय अपना काम करेगा। मैं चुप रहा। पर अफसोस! दिन-पर-दिन बीतते गये, फिर भी उसमें कोई अन्तर न आया। उसने अपनी माँ का शोक मनाने में लगकर सुख को अन्तिम नमस्कार कर लिया। वह अभागी माँ मरते-मरते मुझसे बैर निभाती गयी और मेरे संसार-सुख पर पानी फेरती गयी।

इस प्रकार कब तक चलता? मैं अकुला उठा और इस तरह का व्यवहार नहीं सह सका। मैं अभी तक उसे अपनी प्यारी कमला ही समझता था, और जिस प्रकार उससे कहने की मुझे आदत थी, और मेरी लम्बी सेवा ने मुझे जिस रूप में कहने का अधिकार दिया था, उस तरह मैंने उसे समझाया-बुझाया और विनय की। पर इससे वह तुरन्त एक सिंहिनी की भाँति गर्ज उठी। उसे इस प्रकार बोलने से मैंने रोका कि "मुझे अब संसार में सार नहीं दिखायी देता। माँ के निःस्वार्थ प्रेम के बिना सारा जीवन राख के समान है।" मैं चौंका। वाह री स्त्री-जाति! शाबाश मेरी सहचरी! धन्य मेरी संसार-तारिणी! संसार-त्याग का नया ढंग मैंने तभी जाना। थोड़े दिनों में नया परिवर्त्तन दिखायी दिया। मैं उसके लिए बेकार हो गया। अब मेरे आचरण में उसे असंख्य त्रुटियाँ दिखायी देने लगीं और वह उनका विश्लेषण रस ले-लेकर करने लगी। जिसे वह कभी ईश्वर के रूप में पूजती थी उसका नख-शिख अब उसे दोषपूर्ण दिखायी देने लगा। सारे दिन अपनी दुष्टता का वर्णन सुन-सुनकर मैं सचमुच अपने को राक्षस मानने लगा।

मनुष्य अन्याय कब तक क्षमा कर सकता है। ईसा मसीह की-सी सहनशीलता सबको सुलभ नहीं होती, और मैं उसका दावेदार भी नहीं हूँ। सूरदास अपने-आप भले ही सीधे न चले, पर चिन्तामणि के चेतावनी देने से तो जग गये, यही सही! मैं भी अन्त में जगा, और मेरी इतने वर्ष की सेवा—इस स्त्री के लिए मैंने जो-जो दुःख, अव्यवस्था, नुकसान और धर्मस्खलन भोग किया, वह सब मेरी दृष्टि के सामने आ-आकर

मुझे दोष देने लगे। मुझे बड़ा सन्ताप हुआ। मैं क्षुब्ध हुआ। हिन्दू पतियों के अत्याचारपूर्ण बर्ताव मुझे याद आये। पर यह नीचता और क्रूरता किसके विरुद्ध ? मेरी कमला—मेरे ही लाड़-प्यार से पली हुई, मूर्ख पर निर्दोष प्रियतमा के विरुद्ध ? नहीं-नहीं, इस पापाचार की अपेक्षा तो चाहे जितना दुःख भोग लेना अच्छा होगा। मैंने चाहे कितना ही क्यों न समझाया, पर उत्तर मिला—"तुमने क्या किया ? जो-कुछ किया उसीसे तो मैं अधिक दुःखी हुई। तुम मुझे अपने साथ न रखते, तो मेरी माँ मुझे अपने साथ रखती—मैं सुखी होती और उसकी सेवा करने का मुझे अधिक अवसर मिलता।" शाबाश ! मेरी कमला ! मैं यह बातें नहीं सहन कर सका। क्रोधावेश में ज़बान पर काबू न रहा। बहुत-कुछ कह भी डाला और सुना भी।

यह दुःख का महीना भी बीत चला। पहले का अकेलापन अब और भी अखरने लगा। संसार में निर्जनता तो थी ही, अब वह और भी विकट हो उठी। समझदारी और आशा चूर-चूर हो गयी। मन को दबाकर हृदय के झरने को सुखा दिया—दिन-रात अश्रुपात-द्वारा अन्तर्वेदना बहाते हुए दिन काटने लगा। मेरी मिटी हुई कमला ! वह तो अब भी दुःख में डूबी रही। वह शोक की अनियंत्रित स्वच्छन्दता में आवृत रही। मैं अपमानित प्रेम के गर्व में दूर-ही-दूर रहा। दुःख का दबाना दुस्सह हो उठा। मैं अलग हो गया।

अब हम संयोग से ही कभी बातचीत कर पाते। प्रगाढ़ सम्बन्धी होकर भी, बन्धन-हीनता आ गयी और हम एकाकी बन गये। पर जब मैं विचार-मग्न होता और उसका हास्य या शब्द मेरे कानों में गूँजते तो मेरे मन में अनेक तरंगें उमड़ आतीं, नष्ट हुई मधुरता के स्मरणमात्र से मिठास का प्रसार हो उठता, भूतकाल वर्त्तमान हो उठता और जिन सुखों का अनुभव किया था, जिन आन्तरिक ऊर्मियों को भेदकर हमने प्रेम-सागर में लहरें उत्पन्न की थीं, जिस 'मैं' और 'तुम' के सूक्ष्म भेद को दूरकर हमने ऐक्य का अनुभव किया था, हृदय से उठते हुए तूफानों को

झेलकर हम जिस प्रेममयता में तल्लीन हो गये थे, उसका स्मरण आने पर हृदय विदीर्ण होने लगता।

मैंने निश्चय किया कि मैं अपनी बदली करा लूँ। मेरी धारणा थी कि अनुपस्थिति से घाव भर जायँगे। इसीलिए मैंने देश-निकाला स्वीकार किया। समय बीत गया, पर मेरी धारणा सफल नहीं हुई। पाँच सौ कोस दूर से भी मुझे मेरी कमला की याद सताती, और उसकी मूर्त्ति दिन-रात मेरे नेत्रों के सामने खड़ी रहती। महीने-खाँड़ में उसे मनीआर्डर भेज देने के सिवा मुझसे और उससे कोई सम्बन्ध शेष नहीं रहा था। मैं कठोर होना चाहता और हृदय की प्रेरणाओं का नाश करने के कुछ उपाय करता, अनेक अभ्यास करता, पर दुखाया हुआ हृदय नन्हें बालक की भाँति शान्त रहने से इन्कार कर देता। किन्तु समय किस पर तरस खाता है। आँसू और हँसी दोनों की अवगणना करके समय का प्रवाह निरन्तर आगे बढ़ता जाता है। मेरे साथ भी यही हुआ।

कुछ दिनों बाद मैं एक दिन बाहर से लौटकर घर आया। चौमासे के दिन थे। आकाश मेघमालाओं से घिरा था। मन बेचैन हो उठा। विरह की प्रेरणा से मेरे मन की व्यथा ताज़ी हो उठी। अपने निर्जन घर में घुसना मुझे सदा अखरता था। प्रेम बिना हृदय और गृहिणी बिना घर व्यर्थ है। इससे तो श्मशान अधिक अच्छा लगता। नौकर ने बताया—"ऊपर कोई मिलने आया है।" मैं ऊपर गया। यह कौन? क्या मेरी कमला है? किसी भयंकर रोग से पीड़ित होने के कारण मेरी कमला के कोमल शरीर का प्रत्येक अवयव सूख गया था। पर यह कैसा परिवर्त्तन था? बाट जोहते-जोहते उसका थका हुआ शरीर नींद के वशीभूत हो गया था। उसे देखकर मेरा हृदय काँप उठा। मैं अब भी प्रेम के दर्प से अनिश्चित खड़ा रहा। प्रेम ने उछाल मारी। पिछली बातें भुलाकर मैं उसका आलिंगन करना चाहता था। अनुभूत दुःख और अन्याय को मैंने दूर हो जाने को कहा। उसकी शारीरिक दुर्बलता देखकर मेरे मन में धक्का लगा। मैंने सोचा था कि किसी दिन ऐसा

प्रसंग भी आ सकता है जब पश्चात्ताप से पवित्र बनी अपनी प्रियतमा को मैं एक बार फिर अपनी बनाऊँगा। पर यह शरीर ?

वह जगी। उसके पीले पड़े हुए निस्तेज नेत्र मुझे देखकर चमक उठे। अब यह विचार हुआ कि बात किस प्रकार की जाय। भूतकाल को पीछे ढकेलकर मैंने ही बात आरम्भ की। मुझे ऐसा लगा कि इस दण्डार्ह स्त्री को भलमनसी दिखाना भूल होगी, किन्तु प्रेमपूर्ण हृदय, बाट देख-देखकर थका हुआ किसीका भी दुःखी हृदय कभी ऐसा अंकुश मानता है कि मेरा माने ? मैंने उसका हाल-चाल पूछा।

उत्तर में वह रो पड़ी।....पाप का प्रायश्चित्त करके उसने मुझे लज्जित कर दिया। स्नेह-सागर उमड़ पड़ा। उसका रोना मैं स्थिर होकर नहीं सुन सका। चाहे जैसी हो, भले ही अनीति के नरक में पड़ गई हो, इससे क्या ? दृढ़ता, नियम, न्याय ये सभी विचार मैंने फेंक दिये। प्रेम की बाढ़ के आगे फूँक मारने से क्या लाभ ? मैं सब-कुछ भूल गया। केवल बाल्यावस्था की साथ खेली हुई लाड़-प्यार की पली प्रियतमा ही नज़रों के सामने रह गयी। मेरी कमला को मैंने फिर अपनी बनाया। अपनी हृदयेश्वरी को मैंने फिर सिर-ताज पहनाकर अपने जीवन का साम्राज्य सौंपा। पर हाय ! दुर्दैव को तो यह भग्न सुख देना भी नहीं रुचा। मेरी कमला वियोग में सूखकर ऐसी दुःखी हो गयी थी कि उसने भयंकर क्षयरोग को आमन्त्रित कर दिया था। बड़ा परिश्रम किया, अनेक उपचार किये; पर वह यमदूत वापस नहीं गया। दिन-पर-दिन उसका शरीर क्षीणतर होता गया। हमारे संयोग-सुख को पन्द्रह दिन भी पूरे न हो पाये थे कि मुझे बिलखता छोड़ भ्रम में फँसी पवित्र हृदय की वह प्रेममूर्त्ति इस शरीर को छोड़ गयी।

मेरा सुख भी कैसा था ? नारियल-वृक्ष की छाया भी भाग्य ने नहीं दी। देखते ही नारियल से ताड़ टूटकर गिर गया। अब किसे शत्रु मानूँ ? दुनिया को या दुर्दैव को ?

एक साधारण अनुभव

रघुनन्दन और मैं दोनों घनिष्ठ मित्र थे। बचपन में हम दोनों साथ-साथ पढ़े थे। इतना ही नहीं, हर प्रकार की भावी आशा के कंगूरों पर हम दोनों साथ-साथ चढ़ते थे, और उस पर भी हम दिन-रात के साथी थे। कालेज में पढ़नेवाले अनुभवहीन युवकों की स्वच्छन्द कल्पना से हम अनेक प्रकार के विचार करते; विश्व-व्यापक हलचलों का नेता बनने के लिए अपने को सशक्त मानते, हम समझते कि प्रलयकाल की समुद्र-तरंग के सदृश लूथर की आत्मा का बुद्धि और उत्साह हममें है, और हम इन सभी शक्तियों को संसार की उन्नति के लिए उपभोग में लाने का दृढ़ निश्चय करते। मेरी अपेक्षा रघुनन्दन में बनाव-सिंगार अधिक था, उसकी ज़बान भी अधिक चलती थी जिससे मैं यह न समझ पाता था कि वह कितनी ऊँचाई पर पहुँचेगा। कभी ऐसा लगता कि वह धार्मिक सुधारक बनकर सत्य के लिए ईसा मसीह की श्रेणी में मृत्यु की महत्ता प्राप्त करेगा और क्षण में यह प्रतीत होता कि वह देश-प्रेम में जान खपानेवाला कोई वीर नररत्न बनेगा। किसी घड़ी उसे देखकर यह भी आशा होने लगती कि वह सर सुरेन्द्रनाथ के समान महान् वाग्मी बनकर अपनी वक्तृत्व-शक्ति से चारों दिशाएँ गुँजा देगा।

बाद में वह बम्बई आया। खर्च की कुछ कमी के कारण मैंने तो एक अंग्रेजी स्कूल में चालीस रुपये महीने की अध्यापकी करके अपने

मनोराज्य को विश्राम दे दिया। रघुनन्दन ने पढ़ाई जारी रखी। हमारा पत्र-व्यवहार बराबर होता रहता, और मुझे यह जानकर सन्तोष होता कि भले ही मैं कुछ न कर सका, मेरा मित्र तो बाल्यकालीन स्वप्नों को अवश्य मूर्त्तिमान कर दिखायेगा।

वर्ष-भर बाद हम फिर मिले। मन में कुछ खेद हुआ। मैंने यह समझ रखा था कि रघुनन्दन के निर्मल हृदय की स्वच्छता पर कभी तनिक भी कालिमा न चढ़ेगी; पर उसके रंग-ढंग से मुझे आश्चर्य हुआ। उसमें आन्तरिक उल्लास के बदले बाहरी दिखावा अधिक बढ़ गया था। उद्देश्य और उत्साह के निर्मल झरने में दुनियादारी का कीचड़ अधिक बढ़ गया था। मैंने अपने मन से इन बातों का विचार निकाल दिया। शायद मेरे निर्णय में कोई गलती हो। मैंने पुराने स्वप्नों की बात छेड़ी। उसने उसमें थोड़ी दिलचस्पी ली, पर अधिक रस तो बम्बई के मज़े, वहाँ के नाटक, वहाँ के फैशन आदि के ही वर्णन में लिया। ऐसा प्रतीत होता था कि उसने आशा के महलों में कुछ परिवर्त्तन कर लिया है। फिर भी उसमें मेरी श्रद्धा अडिग रही। भौतिक सुखों को इष्ट माननेवाले पाश्चात्य संस्कृति के अलबेले बाज़ार बम्बई के वातावरण से ऐसा मानसिक परिवर्त्तन स्वाभाविक था। अपने स्नेह के कारण मैंने उसके भावी अधःपतन के लक्षणों को देखा-अनदेखा और सुना-अनसुना कर दिया।

रघुनन्दन और एक सुशील बालिका में कुछ प्रेम था। वह उसके गुणों का वर्णन मुझे सदा अपने पत्रों में किया करता और मेरा ख़याल था कि कुछ दिनों में वह उसीसे विवाह करेगा; पर मुझे बताया गया कि लड़की के पिता की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं रही इसलिए विवाह स्थगित हो गया।

लगभग दो महीने बाद मेरे पास पत्र आया कि रघुनन्दन ने अपनी शादी किसी अमीर की लड़की के साथ कर ली है। पहले तो मुझे विश्वास नहीं हुआ। रघुनन्दन को लिखा तो उसने कोई जवाब

नहीं दिया। मैं यह नहीं मानता था कि रघुनन्दन-जैसा स्नेहभावपूर्ण व्यक्ति अपनी प्रेम-बन्धन से बँधी प्रियमता को छोड़ किसी और से विवाह करेगा। इसी बीच मुझे बम्बई जाना पड़ा। वैसे तो सदा ही पत्र लिखने पर रघुनन्दन दौड़ा हुआ स्टेशन पर आता था। इस बार वह मेरे बम्बई जाने पर मिलने भी नहीं आया। मेरे मन में शंका हुई। मेरे हृदय में बड़ी पीड़ा हुई। रघुनन्दन की भावी महत्ता और देश के प्रति उसकी उपयोगिता पर मेरी इतनी श्रद्धा थी कि मेरी समझ से उसका अधःपतन होने पर देश और समाज को गहरा घाव लगता।

दो-एक दिन बाद भाई रघुनन्दन के दर्शन हुए। विलायती फैशन और कीमती कपड़ों में चमकते हुए रघुनन्द्न को देखकर मुझे आश्चर्य हुआ। सादा जीवन और उच्च विचार की पवित्र भावना के साधक में यह भड़कदार प्रदर्शन ? साहब बना हुआ रघुनन्दन आ बैठा। ऊँची सोसाइटी की कथित चालाकी के साथ थोड़ी देर तक इधर-उधर की बातचीत की। मुझसे न रहा गया। मैं पूछ ही तो बैठा।

"हाँ, अमुक सेठ की इकलौती लड़की के साथ मेरी शादी अगले महीने होगी।" अँगुली में पहनी हुई अँगूठी का चमकदार नग ऊपर लाते हुए उसने कहा—"तुम्हें भी आज वालकेश्वर आना होगा। तुम्हारा परिचय कराऊँगा।" बात छिपाकर, मित्रद्रोह,—गरीब माँ-बाप की निराधार कन्या को धोखा देकर किया गया प्रेमद्रोह,— धन के लोभ में स्वीकार किये गये सम्बन्ध तथा फैशन में डूबकर अपने अन्तरतम पर डाले गये आवरण और आत्मद्रोह, आदि की सभी बातों को मैंने देखा और रघुनन्दन को निर्लज्जतापूर्वक इस प्रकार नाचते देख मेरे मन में उसके लिए तिरस्कार छा गया। यह वही रघुनन्दन था ! उसे मैंने उलटे-हाथों लिया, और एक घण्टे में जितना भी कहा जा सकता था, कहा—तिरस्कार का सारा शब्दकोश खाली कर दिया; पर वह हँसता ही रहा।

अन्त में उसने जवाब दिया—"देखो भाई ! वह सब तो हमारे सपने थे। हममें क्या लूथर या शंकराचार्य की प्रतिभा है ? हम तो अल्प शक्तिवाले हैं। तो भी यदि हमारे पास अच्छी सम्पत्ति हो तो हम कुछ अंश में उसका सदुपयोग कर सकते हैं; उससे देश का कल्याण कर सकते हैं। केवल भाषण न करके धन-व्यय-द्वारा देश-सेवा करने में अधिक शोभा है। तुम ज़रा धीरज धरो। मन को कुछ मारना तो पड़ेगा; पर इससे हम जनसमाज को कितना लाभ पहुँचा सकते हैं !" इस विचार में कुछ हल्कापन था, और वह दिखायी दे रहा था। मैंने यह समझा कि रघुनन्दन लखपती बनकर किसी उच्च त्याग का नमूना पेश करते हुए अब भी कुछ करेगा; लक्ष्मी और सरस्वती दोनों को प्रसन्न करेगा। सचमुच उससे उसकी भावना पूरी हो जायगी।

कुछ दिनों में बड़े धूमधाम से रघुनन्दन की शादी हो गयी। सुना गया कि उसकी पूर्ववर्ती प्रियतमा विरह-वेदना से सूखकर छः महीने में स्वर्गलोक सिधार गयी। उन दिनों रघुनन्दन महाबलेश्वर में मौज करता था। नई पत्नी के सघन-स्नेह में डूबते हुए व्यक्ति पर निर्धन अभागिनी की अकाल मृत्यु का क्या असर पड़ता ? पत्र पढ़कर रघुनन्दन ने उसे रद्दी की टोकरी के हवाले किया और पत्नी के साथ टेनिस खेलने चला गया।

इसके पश्चात् तीन वर्ष पर मैं फिर बम्बई आया। मेरे लिए मोटर हाज़िर थी। असीम धन के विलास में हिलोर लेने का अनुभव प्राप्त करना मेरे लिए नयी बात थी। हम शीघ्रतापूर्वक वालकेश्वर गये। नौकर ने आकर मेरे लिए निर्द्धारित कमरा दिखाया। सारे मकान का वैभव राजाओं का दर्प चूर करनेवाला था। यदि केवल बँगले का सारा सामान बेचकर रुपये जमा किये जाते तो उससे तीसरे साल पड़नेवाले दुर्भिक्ष में एक भी मनुष्य या पशु न मरने पाता। एक जीव जो काठियावाड़ में फूटी कौड़ी के अभाव में अन्नजल बिना तड़प-तड़प

कर मृत्यु-शय्या पर पड़ा था उससे भी अपवित्र जीवन को प्रसन्न रखने, उसकी लिप्सा तृप्त करने के लिए इतना खर्च हो रहा था, इतना परिश्रम किया जा रहा था और इतनी खुशामद की जा रही थी।

फिर मैं रघुनन्दन से मिला। अपने विद्वान् बाल-स्नेही की मानसिक उत्साह से चमकती आँखों, ऊँची अभिलाषा से निकलते गम्भीरतापूर्ण शब्द, विद्या के गौरव से प्रदीप्त मस्तक की जगह आलस्य में डूबी आँखों, फैशनेबुल पारसीशाही भाषा बोलने में ज़ोर जतानेवाला लम्बा कण्ठस्वर और अनेक सुगन्धित पलस्तरों से चमकता चेहरा देखकर मैं तो चौंक उठा।

पीछे जैसे ईंट-कंकड़ और शीशे तथा लकड़ी में कोई भव्यता हो, इस प्रकार वह मुझे बँगला दिखाने ले चला। उसके वर्णन से लाभ तो किसे होना था? मैंने यूनान के एक महात्मा की बात सुनी थी—डायोजिनिस के एक अमीर शिष्य ने अपना महल दिखाकर उस महान् दार्शनिक के मुँह से कुछ प्रशंसा सुनने की आशा की। डायोजिनिस ने अपने शिष्य के मुँह पर थूक दिया और कहा—"वह तो बहुत सुन्दर है, पर गन्दी जगह केवल यह है।" मेरे मन में भी रघुनन्दन को कुछ ऐसा ही जवाब देने की बात आयी।

यह अमुक 'हाल' है और यह अमुक 'रूम' है, कहते-कहते हम कथित लाइब्रेरी में आये। अनेक चमकती आलमारियों में बहुत-सी सुन्दर जिल्दोंवाली सुनहरे नामों से अंकित अस्पृश्य पुस्तकें मैंने देखीं जो किसी विषय-भोग के ज़माने में अमीरों की वासना-तृप्ति के लिए लिखी गयी थीं। कुछ थोड़ी-सी अलमारियों में साहित्य की पुस्तकें भी विराजमान थीं जिनके पन्ने भी काटने का कष्ट अभी तक किसी ने नहीं किया था। ऐसा प्रतीत होता था कि गत पाँच वर्षों से इन पुस्तकों की सँभाल और स्पर्श किसी ने नहीं किया है।

"रघुनन्दन, तुम्हारी कालेज की किताबें क्या हुईं? वे तो तुम्हें प्राणों से भी प्यारी थीं!"

"कौन, वे छः-छः आनेवाली ! वे तो अब बिल्कुल बेकार हो गयी थीं। उन्हें मैंने फेंकवा दिया।"

सचमुच उच्च विचार की जननियों के चले जाने पर भावना कहाँ से रहती ?

इतने में एक नौकर ने आकर सूचना दी कि जोसफ़ाइन की तबीअत खराब है। यह नाम सुनकर मुझे नेपोलियन महान् की पत्नी का नाम याद आगया, और मुझे रघुनन्दन के चिन्तातुर मुँह की ओर देखकर यह जिज्ञासा हुई कि आखिर यह व्यक्ति कौन है ? हम जल्दी से हाँफते-हाँफते एक कमरे में पहुँचे। यह कमरा कुत्तों का पिंजरापोल-सा दिखायी दे रहा था, क्योंकि वहाँ १५-२० कुत्ते बँधे मौज कर रहे थे। वहाँ यह देखकर मेरे मन में अत्यन्त घृणा हुई कि जोसफ़ाइन उन्हीं कुत्तों के बीच एक कुतिया का नाम था। उस भाग्यशाली जानवर के लिए मोटर में डाक्टर आया और जब उसकी तकलीफ़ दूर हो गयी तो रघुनन्दन ने खाना खाया। मुझे उस समय कोमल अवस्था में ही मृत्यु-मुख में गयी रघुनन्दन की प्रथम प्रेमपात्री की याद आगयी। मैं सिहर उठा।

इसके बाद रघुनन्दन ने मुझे कुत्तों की किस्मों, वंशों, गुणों आदि का इतिहास सुनाया। सचमुच इतनी अधिक स्मरण-शक्ति का उपयोग और कहीं किया होता तो हिन्दुस्तान का और ही इतिहास लिखा जाता।

इसके पश्चात् हम अपनी अस्तबल-यात्रा और घोड़ों के गुणों का वर्णन यहाँ लिखकर पाठकों की ऊब का कारण नहीं बनेंगे। मुझे तो ऐसा लगा कि रघुनन्दन कुत्तों या घोड़े-गधों का व्यापारी होता तो अधिक काम करके संसार के लिए बड़ा उपयोगी सिद्ध होता। सब कुछ देखा। फिर रघुनन्दन ने अपनी समृद्धि और वस्तुओं की प्रशंसा की—"क्यों मित्र, सबकुछ टंच है न ? एक ही बात की तकलीफ़ है।"

"क्या ?" मैंने तिरस्कार से पूछा।

"आमदनी पूरी नहीं पड़ रही है। क्या करूँ ? बड़ी कठिनाई आ गयी है !"

बँगले में बँधे दर्जनों घोड़े, कुत्ते और पाँच दर्जन खवास मुझे याद आये, परन्तु मैं बोला नहीं।

"तो और किसी काम में रुपया खर्च हो जाता होगा ?" मैंने पूछा।

"नहीं भई ! एक दमड़ी भी तो नहीं बचती। मैं क्या करूँ ?" इसके बाद उसने इस प्रकार कहा जैसे उसमें दमड़ी की ही कसर हो—"पर सच कहो मित्र, है तो सभी चीज़ों की व्यवस्था मज़े की न ?"

"सचमुच रघुनन्दन, मैंने सब जगहें तो देखीं; पर एक चीज रखने की व्यवस्था नहीं देखी।"

"किस चीज की ?"

"किस चीज की ! यहाँ पर सब-कुछ है, पर तुम्हारी भावना, पुरुषार्थ का ऊँचा आदर्श, त्याग और सेवा के शुद्ध संकल्प का स्थान यहाँ कहीं नहीं दिखायी देता। उनके लिए कहीं जगह नहीं है। ऐसा भासित होता है कि ये सभी चीजें उस छोटी-सी गन्दी कोठरी में रह गयीं जहाँ तुम पहले रहते थे, और वह पुराना रघुनन्दन भी वहीं छूट गया प्रतीत होता है ?"

"अपने छोटे गाँव और थोड़ी तनख्वाह में मैंने अपनी भावनाओं को अधिक अच्छी तरह से क्रियात्मक-रूप दिया था।"

पाँच-छः दिन बड़ी मौज से मेहमानदारी करके मैं अपने गाँव को लौटने के लिए निकल पड़ा। बँगला छोड़ते हुए मुझे भर्तृहरि का यह पद स्मरण हो आया:—

साहित्य-संगीत-कलाविहीनः,
साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः।
तृणं न खादन्नपि जीवमानस्—
तद्भागधेयं परमं पशूनाम्॥

कोकिला

मेरी स्त्री की मृत्यु को दो-तीन महीने व्यतीत हुए थे, इसलिए मैंने स्थानान्तर के द्वारा मन-बहलाव करने का निश्चय कर लिया। मई महीने में छुट्टियाँ थीं इसलिए बम्बई से बाहर जाने का मन हो आया।

कचेहरी के काम से थोड़ा-बहुत अवकाश पाना आवश्यक होता है। मनुष्य की अधमता का इतिहास छोड़कर कभी-कभी प्रकृति की गोद में आ बैठना भी ज़रूरी हो जाता है। पर जलवायु-परिवर्त्तन के लिए जितनी भी विख्यात जगहें हैं उनसे मैं ऊब चुका हूँ। बम्बई का कोलाहल छोड़ स्वाभाविक रूप में मन निरंकुश आनन्द और विनोद के स्थान में जाना चाहता है; पर पाश्चात्य सुधार की अनन्त प्रवृत्ति में न जाने कौन-सी खूबी है कि उसमें लिप्त कीड़ा कभी भी उसके विकार को छोड़ नहीं सकता। माथेरान में फैशन की तुच्छ कृत्रिमता है, महाबलेश्वर तो जैसे दूसरा वालकेश्वर ही है, असन्तोषी डुम्मस भी इसी रास्ते जाने का लोभ रखता है! ऐसा करते हुए यदि हम भूलकर स्वर्ग चले जायँ तो मुझे निश्चय है कि बेचारे पुराने ईश्वर को भी किसी फ़ैशनेबुल सम्मेलन का अध्यक्ष बनाकर सुधरे रंग-ढंग सिखा देंगे।

इन सभी कारणों से इस बार मैंने पावागढ़ पसन्द किया। मेरे प्राचीन प्रिय गुजरात का ऐतिहासिक राजनगर चम्पानेर मेरे मन में हिलोरें लेकर उल्लास भरता था। उसे देखकर मेरे देश का पुराना वैभव नज़रों के सामने आजाता है; नया उत्साह उत्पन्न होता है। उस

काल का शौर्य और तेज, उन दिनों की कँपा देनेवाली जीवन-कथा, उस वीर-युग का आत्मोत्सर्ग इस व्यापारिक युग में अस्त हो गया है। केवल खण्डहर देखकर ही हम उसका विचार करते हैं।

मैंने छुट्टी के शेष दिन माँची में व्यतीत करने का निश्चय किया। पावागढ़ की देवी के पुजारी की सिफ़ारिश से मेरे लिए सभी सुविधाएँ कर दी गयी थीं। मैंने निश्चय किया था कि दुनिया से दूर जाकर बहुत दिनों से मन पर चढ़ा हुआ बोझ उतारूँगा और उसे अन्तर की गहनता में डुबोकर चिरकाल से इच्छित निवृत्ति का अनुभव करूँगा। मुझे ऐसा नहीं लगा कि वहाँ मेरे सिवा कोई और भी है। पर मुझे जहाँ ठहराया गया था उस स्थान में कितने ही कमरे थे। मैं यह देखने निकला कि वहाँ कोई रहता है या नहीं। अन्तिम कमरे में कुछ कपड़ा-जैसा दिखाई दिया। यह समझकर कि मेरे-जैसा कोई दूसरा फक्कड़ निर्जनता का लाभ लेने वहाँ आया है, मैं उस ओर गया। किवाड़ खोला तो आश्चर्य से चौंक उठा। किसी चतुर सौन्दर्य-सेवक का सामान पावागढ़ में देखकर मैं स्तब्ध होगया। विख्यात् रसावतार शेली का अंग्रेज़ी काव्य, स्त्रियोपयोगी वस्त्र, कोने में तिरस्कृत-सी पड़ी वीणा और एक अपूर्ण चित्र! मैं विचार में पड़ गया। कुछ स्वप्न का-सा आभास हुआ।

उस घरवाली स्त्री ने चिल्लाकर मेरा ध्यान खींचा—"भाईजी, वहाँ न जाइए—वहाँ तो कोकिला रहती है।"

कोकिला! रमणीय वसन्त का शृंगार-मधुर नाम! मेरा आश्चर्य बढ़ा।

"कोकिला कौन?" मैंने पूछा।

"उनके किसी दोस्त की लड़की कुछ दिन से यहीं आकर रहने लगी है। यह औरत तो तुम्हारे भाई के लिए आफ़त होगई है।" गृहिणी ने जीभ को लपलपाते हुए कहा।

नमक-मिर्च घटाकर भावार्थ यह निकला कि बेचारी कोई शिक्षिता कुमारी पागल हो गयी है, और डाक्टर के परामर्श से जलवायु-परिवर्त्तन

के लिए यहाँ आयी हुई है तथा आजकल उसे कुछ आराम है।

गुजराती लड़की में यह चतुरता, यह नाम, और पागलपन !—कुछ आरव्योपन्यास की-सी बात लगी। इस चमत्कारपूर्ण व्यक्ति को देखने की उत्सुकता हुई, पर काशीबाई ने बताया—"वह तो सुबह ही बाहर निकल जाती है, और संयोग से ही शाम होने के पहले वापस आती है।" यह बात भी सच थी। आख़िर मन न माना और मैं बाहर निकल पड़ा। कहीं भी पता न लगा। अन्त में थककर सो गया। सवेरे उठते ही कोकिला के कमरे की ओर गया; पर मुझे यह देखकर बड़ी निराशा हुई कि वहाँ कोई नहीं था। सूर्योदय में अभी देरी थी; पर उस असामान्य सुन्दरी को देखने की लालसा बढ़ने लगी। अरण्य में पानी बिना तड़पते हुए प्यासे यात्री की मानसिक स्थिति कुछ याद आयी। कहाँ तक खोज निष्फल गयी। आखिर उस पत्तों के टूटे महल—खण्डहर में जा बैठने का विचार किया और उस ओर बढ़ा। उस खण्डहर की घिसी-घिसाई जीर्ण-जीर्ण सीढ़ियों से नीचे उतरा। अगासी की ओर नज़र डालते ही मेरी आँखों ने अवर्णनीय दृश्य देखा।

अगासी की कोर पर अखण्ड यौवना उषा की संगमर्मर-निर्मित मूर्ति-सी देखकर मैं स्तब्ध रह गया। उगते सूर्य की सुनहरी किरणें उसके श्वेत वस्त्र पर दिव्यता फैलाकर अद्भुत कान्ति उत्पन्न कर रही थीं। यह कोकिला थी ! मैंने गुजरात की बहुतेरी रूप-सुन्दरियों को देखा है, उनकी प्रशंसा भी की है; पर कुशल कारीगर-द्वारा निर्मित शरीर-सौन्दर्य की यह परिसीमा दर्शनीय थी। ऐसे अनुपम मुख-मण्डल का दर्शन मैंने स्वप्न में भी नहीं किया था। उसमें रम्भाओं का रूपगर्व न था, विलासवती की तड़क-भड़क भी न थी; जड़ जगत् पर अमृत सींचती हुई रुपहली चन्द्रिका के समान उसका सौन्दर्य अनजाने आह्लाद का प्रसार कर रहा था; एक अलौकिक आभास दे रहा था। उसका शरीर जैसे पृथ्वी-तत्त्व-विहीन किसी देवांगना का सूक्ष्म तेजोमय रूप-सा लगता था। यदि मुझ में पाश्चात्य विद्या का जड़वाद कुछ कम होता तो मैं

उसे कोई भूली हुई वनदेवी या सूर्य की आराधना के लिए निकली हुई सागर-कन्या विश्वामित्रो समझता। कोकिला का ध्यान मेरी ओर नहीं था। मैंने चुपचाप उसके पीछे जाने का विचार किया। इतने प्रयत्न के पश्चात् मिली हुई कोकिला से मिलने का अवसर चूकने का अब काम नहीं था।

मैं खाँसा। कोकिला ने फिरकर मेरी ओर देखा। जैसे किसी सुनहरे स्वप्न के अर्द्ध-विस्मृत सुन्दर संस्मरण की छाया पड़ रही हो, उसी प्रकार तेजस्वी रसीले नेत्रों की आकर्षक दृष्टि मुझ पर पड़ी।

"क्षमा कीजिएगा। मैंने आपके विचार में कोई बाधा तो नहीं डाली?"

वह स्थिर दृष्टि से एकटक मेरी ओर देखती रही। इस स्त्री को सचमुच चित्र-भ्रम होगा।

"आपका ही नाम कोकिला है क्या? काशीबाई कहती थीं।"

"जी", उसने धीमे स्वर में कहा—"आप कौन हैं?"

"मैं बम्बई में वकील हूँ। मेरा नाम किशोरलाल है।"

वह इस तरह धीरे-धीरे बात करने लगी जैसे डर रही हो और उसके मन में कोई शंका हो रही हो। हम साथ-साथ बाहर आये। कोकिला को जितना ही अधिक देखता उतना ही अधिक आश्चर्य होता था। उसके रूप, स्वर, वेश-भूषा सब पर एक प्रकार का लावण्यमय व्यक्तित्व झलकता था। ताजमहल का पत्थर जैसे पूर्ण सौन्दर्य के साथ शोभा देता है उसी प्रकार उसका प्रत्येक कार्य अपूर्वता से देदीप्यमान होता था। हम साथ-साथ हो चले, पर जब मैं उसकी ओर देखता और उसकी मस्त धीमी चाल की ओर दृष्टि जाती तो मैं शर्माकर अपनी ओर देखता, और मुझे लगता जैसे मैं गुलिवर के साथ बौनों के देश में उनकी चाल सीखकर वैसे ही चल रहा हूँ।

उसकी सुन्दरता ने मेरी जिज्ञासा इतनी बढ़ा दी थी कि कुछ पूछने को मन हुआ। एक-दो प्रश्नों का ठीक उत्तर नहीं मिला; पर वकील की

अक्ल और कुत्ते की पूँछ एक-जैसी होती हैं। मैं ज़िरह में पक्का था इसलिए यहाँ भी मेरी ज़बान नहीं रुकी।

"आपकी शादी हो चुकी है या नहीं ?" इस रूपराशि का पति कौन है, यह जानने की उत्कण्ठा तो स्वाभाविक ही थी; पर मेरे शब्दों ने भिन्न प्रभाव डाला। कोकिला मेरी ओर मुड़ी। तेजोमय आँखें ज़रा चमकीं और सख्त हो गयीं। मिज़ाज कुछ गर्म हो गया और चेहरे पर लाली आ गयी। फिर वह सिर फिराकर क्रोध में आ मुझे छोड़कर एक ओर की सीढ़ी पर तेजी से चढ़ गयी। मैं शर्म और झेंप से बालक-सा हतप्रभ हो खड़ा रहा। मैं अपनी आधी आयु देकर भी यदि अपना सवाल वापस ले सकता तो वैसा कर डालता। मैं इस प्रकार नीचा देखकर निवास की ओर गया। हृदय में एक अकुलाहट जारी रही।

× × ×

थोड़े ही समय में कोकिला की मोहक भव्यता ने मुझे बेसुध कर दिया। संयोगवश उसके प्रति चाह बढ़ती गयी। पर इतने ही समय के अन्दर कुछ कहा भी नहीं जा सकता था। क्या किया जाय, कुछ सूझता भी नहीं था। चैन न आता था। रात निराशा में जागने को बैठा रहा।

"मिस्टर किशोरलाल !—"

बहुत दिनों का खोया हुआ रत्न हाथ लगा हो, इस प्रकार की प्रबल अभिलाषा से मैंने दरवाज़े की ओर देखा। हृदय पुलकित हो उठा; उसमें प्रसन्नता आ गयी। कमरे में कोकिला खड़ी थी। जिन्होंने वह रूप नहीं देखा है, जो उसके नेत्रों के सामने नहीं झुके हैं वे मेरे हृदय में स्फुरित मानांकुरों को शायद ही समझ पायेंगे। कोकिला ने आकर अपने सवेरे के बर्त्ताव के लिए क्षमा माँगी। कोकिला और माफी माँगे ! मैंने भी अपने टेढ़ेपन के लिए पश्चात्ताप प्रकट किया। कोकिला का बात करने का ढंग कुछ और ही था। निर्जन एकान्त में फैलती ज्योत्स्ना की अमृतमय विमलता में दूर से वंशी बजे और हृदय में

आनन्द की वर्षा करे, कुछ ऐसी ही मधुरता कोकिला के रसमय आलाप में थी।

वह गयी; पर सारी रात स्वप्न-सृष्टि में मेरी सहचरी बनी रही। निर्दय सूर्य ने मुझे उस सुख में से खींच लिया। फिर दुर्भाग्यवश शाम तक भेंट न हुई। शाम को एक खण्डहर के पास पड़े पत्थर पर वह बैठी दिखायी पड़ी। दूर से जैसे बादल में बिजली कौंदती हो उसी तरह, किसी विश्ववेत्ता विशाल ज्ञानी के प्रफुल्ल दिव्य-चक्षु के तेज के समान चमक उसके नेत्रों में थी। उससे बातें करके एक-दूसरे का विचार जानने-जताने का अवसर मुझे मिल गया। उस निर्जन में बात करने के लिए केवल हम ही दोनों थे, इसलिए यह मौका अच्छा हाथ लगा। प्रत्येक विषय में मैंने कुछ नई-नई बातें देखीं; कुछ अकल्पनीय विशेषताएँ मेरी दृष्टि में पड़ीं।

कोकिला के रंग-ढंग और बातों में एक नवीनता थी। उसमें वह साहस था जो एक पुरुष दूसरों से बातें करते समय दिखाता है। वह स्वतन्त्रता और गौरव से पूर्ण व्यवहार करती थी; इसलिए उसमें स्त्रियों की झूठी लज्जा और घबराहट नहीं थी—समानता का भाव था और उसकी बातों में रस था। तीव्र ज्ञानेन्द्रियाँ अद्भुत रसबन्ध प्रदर्शित करती थीं। जो सौन्दर्य, जो रस, जो भेद हमें सृष्टि, काव्य या संगीत में कदाचित् ही दिखाई देता है उसकी परख कोकिला की सूक्ष्म बुद्धि कर लेती और उसका स्वाद वह अपने ज्वलन्त शब्दों द्वारा हमें भी चखाती। कभी-कभी कोई अगम्य विचार आ जाने पर उसका स्वर अटक जाता, चेहरे पर उदासी छा जाती और वह दृष्टि दूर फेंक कर नींद में चलते मनुष्य की-सी स्थिति में हो जाती थी।

कोकिला की जीवन-भावना असाधारण थी, थोड़े ही परिचय से मुझे यह मालूम हो गया। वह प्रायः कहती—"हम लोगों का जीवना-देश कैसा तुच्छ होता है! हम अल्प नहीं, भव्य हैं। इस भव्य सृष्टि की भव्यता हम में है; इस महाप्राण का सौन्दर्य हमारे में है; केवल

उसके परखने की इच्छा नहीं है—प्रयत्न करने का साहस नहीं है। हम अपनी जीवन-वीणा विश्ववीणा के साथ मिलाकर बजायें। उसके स्वर अन्तर में भी जगेंगे, उसे प्रभुमय बनायेंगे। यही जीवन है। बहुत-से संस्कारहीन लोगों को तो अपने बेसुरे जीवन के कठोर स्वर ही ठीक लगते हैं। उनके वाक्य, उनके रूप, उनके काव्यमय सौन्दर्यसेवी जीवन-रस हममें नयी भावनाओं की प्रेरणा प्रदान करते हैं, हमें बदल देते हैं, हमारे अन्तर के अँधेरे में से प्रकाशमय रत्न खींच निकालते हैं।

इस नये तत्त्वज्ञान ने मेरा दर्प चूर कर दिया। टाइटनिक स्टीमर के अभिमानी निर्माताओं ने उसका ऐसा निर्माण किया था जिससे वह कभी न टूटे। महामाया के एक खिलौने-से हिमशृङ्ग-आइसबर्ग ने उसके गर्व को एक पल में शून्य कर दिया। इस समय यह बातें बतानेवाली के पास मुझ-जैसा आत्मसन्तोषी वकील बैठा था। धन कमाने, मोटर में बैठकर वालकेश्वर—अमरावती की सैर करने, सांसारिक विषय-वासना का दास बनकर जीवन पूरा करने की आशा रखने वाले ने इस सादे, रसमय जीवन की पवित्र भावना के सामने हार मान ली, और वह झुक गया। अपने सांसारिक जीवन पर मुझे घृणा हुई। जीवन में धन, मौज और सत्ता के कथित आनन्द क्या सुख हैं? कोकिला का-सा कोमल हृदय बना कर रस-सरिता की तरंगित लहरों के साथ बहना ही सुख है; प्रेम, सौन्दर्य, और इनका अनुभव ही सुख है। ऐसे अनेक पाठ मैंने कोकिला को गुरु मान कर पढ़े। इसकी टीका के द्वारा प्राचीन कवियों में नया रस दृष्टिगोचर हुआ। मेरी पुरानी सृष्टि पर नया वसन्त छा गया। दो-चार दिनों में संसार के सौन्दर्य-सागर की कुछ लहरें मेरे हृदय में प्रवेश कर गयीं।

धीरे-धीरे मैं बन्दी बन चला। प्रेम की सुखमय सुनहरी दासता में फँसता गया। मेरी स्वर्गीया पत्नी बहुत अच्छी थी। मुझे ईश्वर के समान मानती थी। उसके लिए मेरे हृदय में भावना थी। पर यह नई बाढ़ तो अद्भुत थी। जिस मानसिक सहृदयता से कोकिला के लिए मेरे

हृदय में भाव पैदा होते गये, जो भाव उसके रूप, लावण्य और संस्कारमय विचारों से पैदा होते गये, वे 'शुद्ध सात्त्विक प्रेम' की ऊर्मियाँ मेरे हृदय को नई ही स्फूर्ति प्रदान करने लगीं।

इस स्वर्गीय संगति में पाँच-सात दिन गये। एकाध बार आ जाने-वाली तरंग के सिवा मुझे तो कोकिला में कोई पागलपन दिखाई नहीं दिया। पर ऐसी विचित्र स्थिति के लिए जाँच-पड़ताल करने की स्वाभाविक उत्कण्ठा बढ़ने लगी। परिचय बढ़ जाने पर मैंने कोकिला से पूछा कि उसमें इतनी अधिक प्रवीणता कहाँ से आयी है। बात चलने पर मालूम हुआ कि कोकिला के बाप बम्बई के किसी अंग्रेज़ी फर्म के पदा-धिकारी थे; सारा कारबार वही चलाते थे। उनके साहब की उन पर बड़ी कृपा थी। कोकिला जब चार वर्ष की हुई तभी उसकी माँ का देहान्त हो गया। पुराने जमाने के 'साम्राज्यवादी' विचारों से अज्ञात अंग्रेज़ और उसकी सुशिक्षिता मेम ने अपने नमक-हलाल नौकर की इस इकलौती बेटी को अपनी देख-रेख में ले लिया। उसे अपनी ही लड़कियों के साथ शिक्षा दिलायी। प्रत्येक विषय में कोकिला ने उनकी आशा पूरी की और उनकी आशा से भी अधिक चतुरता प्राप्त की। वृद्ध अंग्रेज़-दम्पति विलायत जाने के बाद भी अपनी 'काली' पुत्री के प्रति निरन्तर प्रेम दिखाता रहा और कोकिला भी अपने हिन्दू-हृदय की कृतज्ञता द्वारा उनके प्रति माता-पिता से भी अधिक पूज्य भाव रखती रही।

बात करते-करते से बीती बातें स्मरण हो आयीं; हृदय उमड़ आया और वह बोली—"उसी बीच मुझे यह दिव्य प्रेरणा प्राप्त हुई। मेरा यह दृढ़ निश्चय हो गया कि जीवन को पूर्ण लावण्यमय बनाया जाय। प्रत्येक विचार, प्रत्येक कार्य उस संवाद-सौन्दर्य से सुशोभित किया जाय। मेरी असामान्य शक्तियों ने यह काम सहज ही कर डाला। विजय आगे दिखाई दी", इसके बाद उसका कण्ठ-स्वर बदल गया और वह बोली—"पर ईश्वर को यह बात न भायी...एक वस्तु की

कमी हो गयी...और उसके सिवा सब-कुछ है...." शब्द अटक गये। विशाल नेत्रों में छिपे आँसू उमड़ पड़े; कोकिला ने सिसकी भरी।

मुझे दुःख हुआ—घबराहट भी हुई; पर कोकिला के प्रति मेरे मन में इतना प्रबल मान था कि मुझे उसको आश्वासन देने का साहस भी नहीं हुआ। मुझे विश्वास है कि बेचारी उस निर्दोष कोकिला का कोमल हृदय किसी वज्राघात से बिंध गया है। क्या वह उस घटना को भुला नहीं सकती? मैंने निश्चय किया कि चाहे जो हो, पर यदि मेरे द्वारा इतना हो सके, तो मेरा जीवन सफल हो जायगा।

सहृदय के संग में समय को भी लज्जित-संकुचित होना पड़ता है। आनन्दस्वरूप मोक्ष में काल का अभाव होता है। कोकिला के चरणों में बैठकर नया जीवनादेश सीखते समय व्यतीत हो गया। बातों-बातों में दिन बीत गये और छुट्टी पूरी हो गयी। बिस्तर-बोरिया सँभाला और पावागढ़ के मधुरिमामय अनुभव को नमस्कार किया। काव्य-रसिका कोकिला को छोड़ते हुए आँखों में आँसू आ गये।

मुँह पर तमाचा लगा गाल लाल कर बम्बई आया। बाज़ारू बम्बई की सांसारिक प्रवृत्तियाँ फिर चल पड़ीं; पर कोकिला के सिखाये हुए काव्यमय जीवन के पाठ को कुछ-कुछ क्रियात्मक रूप देने लगा। दोस्त हँसते, सम्बन्धी आँखें फेरकर विचार में पड़ जाते; पर मैं मन में मग्न हो हृदय के सौन्दर्य के निमित्त शिक्षा प्राप्त करने लगा। जीवनाकाश में नये-नये इन्द्रधनुष के आकर्षक रंग छाने लगे, फिर भी कोकिला के बिना तो हृदय और जीवन सब शून्य-सा लगता। मुझे सच्चे साथी की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। संसार में बहुतेरे लोग प्रेम की तीव्र अभिलाषा के बिना ही पार उतर गये हैं; उनमें कितने ही तो हृदयहीन थे और शेष थे अल्प-सन्तोषी। पर जब अन्तर का संस्कार खिलता है तो भीतर से आवाज़ आती है—प्रणयी के बिना प्राण तड़पता है, और उसमें कोई नई बात नहीं है कि कोकिला-जैसी मानव-देवी को देख लेने के पश्चात् असन्तोष सबल हो।

अबतो सभी व्यक्ति त्रुटिपूर्ण दिखायी देने लगे। दृष्टि के सामने वही रम्य मूर्ति छायी रहती। श्वास-प्रश्वास में उसी की रट लग जाती।

अभी तक उसका कोई समाचार नहीं मिला; दिन-रात मैं इसी ध्यान में रहता। अन्त में स्वाती का बूँद पड़ा। कोकिला का पत्र आया, वह बम्बई आ गयी थी। उसके हस्ताक्षर को देखकर मन पागल हो उठा। मेरी चलती तो उसका प्रत्येक शब्द अन्तर में रमा लेता। उस पत्र के स्पर्श से कुछ शन्ति की प्रेरणा हुई और कुछ अशान्ति की। मिलने के लिए मन तरसने लगा।

मैं कोकिला को मिला। वह पहले की अपेक्षा अधिक दुबली—अशक्त हो गयी थी। उसका मानसिक क्षोभ भी कुछ बढ़ गया था। वह सच्चे काम की पुतली की तरह अपना कर्त्तव्य-पालन करती, गाती, पढ़ती और अन्तःकरण ज़रा भी ऊबने लगता तो नई किरणें निकालती। उसका बाप बहुत सम्पन्न, शिक्षित और वास्तविक मनुष्य था। उसका यह विचार था कि ऊँची शिक्षा से ही लड़की का यह हाल हुआ है। पर वह साहस और धैर्य से बैठकर अपनी इकलौती बेटी के अशान्त मन को यथासम्भव सान्त्वना देने में ही अपना जीवन सफल मानता। कुछ दिनों में कोकिला के पिता से भी मेरा प्रगाढ़ प्रेम हो गया। मैं बार-बार उनके यहाँ जाने लगा और पावागढ़ के भूले हुए पाठ फिर से ताज़ा करने लगा।

मेरे जीवन में परिवर्त्तन होने लगा। धन लूटने की शुष्क प्रवृत्ति

प्रवीण पुरुषो, हँसना नहीं। यदि तुम्हारी रजोगुणी अनन्त दौड़-धूप, तुम्हारे नीरस एकमार्गी विचार, तुम्हारे ऊर्मि-रहित संकुचित हृदय ही तुम्हारे जीवन के ध्येय हैं तो फिर नरक किसलिये बनाया गया होगा? संसार की स्वार्थमय प्रवृत्ति में भी काव्यमय जीवन का अमूल्य झरना झरता है। उसे खोजो, वहाँ सन्तोष प्राप्त करो; अरण्य-जगत् में भी स्वर्ग की तरंगें आयेंगी। शेली के रस-सागर में—बन्धनहीन हृदय-प्रवाह में नहाना, सृष्टि-सौन्दर्य के साररूप स्वरों की तालबद्ध

तरंगों में प्रवाहित होना, भाँति-भाँति के अद्‌भुत ईश्वरीय रंग से आत्मा को प्रकाशित करना जीवन की सफलता है। अन्यथा जीना तो सभी जीवधारियों को है।

परन्तु कोकिला के बढ़ते हुए विलाप और अधिक अशक्त बने शरीर से मेरे मन को धक्का लगता। पहले तो उसका शरीर देवांगना के सदृश था; पर अब दुर्बलता बढ़ जाने के कारण वह तेज की क्षण-भंगुर प्रतिमा-सी बन गयी। सन्देह होता था कि वह न जाने कब अपने हाथ से निकल जाय। केवल उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ अधिक तीव्र हो गयी थीं, और किसी रसिक देवांशी की भव्य दृष्टि से वह अधिक तेजोमय दृष्टिवाली प्रतीत होती तथा तेजस्वी शब्दों में ही अपना अभिप्राय भी व्यक्त करती थी।

मेरे मन की ऊर्मियाँ अब कुछ-कुछ स्वरूप धारण करने लगी थीं। मेरी पत्नी का देहान्त हुए कितने ही महीने बीत चुके थे, और उसके कारण मुझे जो शोक हुआ था वह कोकिला के प्रति उपजे प्रेम में विलीन होता गया। सांसारिक विवाह से उत्पन्न भावना क्षणिक ही होती है। स्त्री के पीछे 'सत्ता' रखनेवालों को तो वर्ष के अन्दर ही पाणिग्रहण कर लेना चाहिए। विवाहिता स्त्री की अनुपस्थिति में सुविधा करने के लिए दूसरी स्त्री से शादी करने की ओर दृष्टि जाय तो यह कोई अपराध नहीं है। ये सभी विचार मेरे मन में आये, और सच्चे और झूठे विचारों का केन्द्र-स्थान कोकिला बनी। सांसारिक सम्बन्ध से उसे अपनी बनाने का संकल्प आने लगा। मुझे यह मार्ग बहुत अच्छा लगा। प्रेम करके मैं प्रभुता प्राप्त करूँगा—कोकिला की अशान्ति कम होगी। ऐसा भी लगा कि विवाह से हमारी उच्च भावना की सिद्धि सहज में हो जायगी, पर कोकिला-जैसी स्वर्गीय सुन्दरी देवी से विवाह-प्रस्ताव करने का साहस कैसे हो? वह तेजस्वी स्वरूप जहाँ होता है वहाँ तो साधारण विचार भी नहीं आ पाते। तो फिर विवाह-जैसी गम्भीर बात कैसे कही जाय?

साहस बढ़ा और एक रमणीय एकान्त में कोकिला के चरणारविन्द में अपना सर्वस्व सौंपकर कृतार्थ होने का निश्चय किया। उसकी तबीयत खराब थी—मन बैठा जाता था। उसमें भी दिलचस्पी पैदा करने की आशा थी।

एक दिन शाम को हम दोनों बैठे बातें कर रहे थे। मेरे स्वभाव को उत्क्रान्ति के बारे में बात चल रही थी। मेरी नई रसज्ञता के विषय में कोकिला विवेचन कर रही थी।

"पर कोकिला, मैं अभी अधिकांश रूप में अपूर्ण हूँ।" मैंने कहा।

"अपूर्णता तो सदा ही रहेगी। पूर्णता तो आती ही दिखायी देती है; मिलती नहीं। प्रत्येक शिखर पर पहुँचकर उससे ऊँची चोटियाँ दिखायी देती हैं। हो सकता है, परिश्रम करने से फल मिले।" कोकिला ने मुस्कराकर कहा—"कहावत है न कि नर से नारायण बनता है।"

"मैं तुम्हारा कितना उपकार मानूँ ? यह स्थिति भी मैंने तुम्हारी बदौलत देखी है, और अब आगे बढ़ाना भी तुम्हारे ही हाथ में है !" उसने मेरी आवाज में—शब्दों में कुछ नवीनता देखी। उसके विकसित नेत्र ने मेरी ओर देखा और वह बोली—"मेरे हाथ में ?"

अब विलम्ब करना भूल होती। मैंने तुरन्त कहा—"तुम्हारे ही हाथ में। तुम देखती नहीं हो कोकिला ! आज कितने दिन हुए तुम्हारी दर्शायी भावना से ही मैं जीता हूँ। तुम्हारा दास होने-योग्य तो नहीं हूँ, पर—"

जैसे मैंने छुरा भोंक दिया हो, इस तरह चेहरे पर फीकापन दौड़ाकर उग्र तेज-रश्मियाँ उसकी आँखों से फूटकर अदृश्य हो गयीं। पहले जब कभी विवाह की बात चलती तो वह चुप रहा करती; पर अब तो जैसे भय की आँधी ढकेलती हो, इस प्रकार हाथ आड़ा करके वह उठ खड़ी हुई—जैसे कोई प्रेत उठ खड़ा हुआ हो। उसने पागल की भाँति आसपास दृष्टि दौड़ाई और फिर वह चल पड़ी। मैंने देखा कि मेरे

शब्दों ने उसे बहुत दुःखी कर दिया है। मैंने नहीं समझा था कि बात यह परिवर्त्तित रूप धारण कर लेगी। मैं उठा। कोकिला का हस्त-स्पर्श करते हुए मैंने ठण्डेपन से पूछा— "अरे! क्या तुम बुरा मान गयीं?"

वह मेरी बात नहीं सुन सकी। उसका चित्त वर्त्तमान जगत् में नहीं था। मैंने कहा—"कोकिला, कोकिला!" मेरी आँखों में आँसू आ गये। दुःखमय घड़ी का अनुभव कराने के पहले तो मैं पाँच बार बिना ब्याह मरना ठीक समझता। कुछ जागृति आयी तो "कल;—अभी नहीं!" कहकर कोकिला तेजी से चली गयी।

मेरी आँखों के सामने अँधेरा छा गया। मैं बैठ गया। रोते हृदय से घर लौटा। गयी रात जो आनन्दमय तरंगें उठ रही थीं वे दब गयीं। शोक ने फिर पल्ला पकड़ा। हे भगवान्, किस निगोड़ी साइत में मैंने यह बात कहने का निश्चय किया था! क्या कोकिला अब मेरे साथ बात नहीं करेगी? मेरी प्राणेश्वरी मेरी ओर देखेगी भी नहीं? क्या अब वह फिर न हँसेगी? यदि इस पापी प्राण को निकाल देने से भी माफी मिलती तो वैसा करने को मैं तैयार था। यदि कोकिला मेरे जीवन में से अस्त हो गयी तो जीवन के शेष अन्धकारमय दिनों से तो अनन्त मृत्यु-समाधि की निर्विकल्पता क्या बुरी होगी? आधी रात तक रोया-झींका, एक क्षण-भर भी नींद नहीं आयी।

मैं अधीरता और घबराहट के साथ कोकिला के यहाँ गया। उसके पिता ने कुछ गम्भीर होकर बुलाया—"कोकिला कल बहुत बीमार पड़ गयी थी। तुम्हारे चले जाने के बाद बेहोश होगयी थी।"

"अब कैसी है?"

"कुछ अच्छी है। मुझे कहा है कि तुम आओ तो ऊपर भेज दूँ।"

मैं जाने लगा। बुड्ढे ने मुझे रोककर प्रेमपूर्वक कहा—"किशोरलाल, मेरी लड़की चाहे जैसी हो; पर है मेरे आँखों की पुतली। इसे सँभालना।"

इस बात से मुझे ऐसा लगा कि कल की बातचीत की भनक बुड्ढे के कान में पड़ी है। पर मुझ में झूठा जवाब देने की ताकत नहीं थी। फाँसी की सज़ा की आशंका रखनेवाले अपराधी की तरह चिन्तातुर होकर मैं कोकिला के पास गया।

कोकिला का शरीर निस्तेज हो गया था—एक रात में वह बहुत ही कमज़ोर होगयी थी। वह आँखें मींचे आरामकुर्सी पर पड़ी थी। मैं गया तो उसने आँखें खोल दीं।

"किशोरलाल! माफ़ करना," कोकिला ने क्षीण स्वर से कहा—"मुझे यह होश नहीं रहा कि मैंने तुम्हारी रात की बात की अवगणना की है; तुम यह बात जानते हो कि मुझे यह विषय कितना अप्रिय है।"

"मेरी भूल—" मैंने आर्द्र हृदय से कहा।

"भूल तुम्हारी नहीं। बड़ा उपकार हुआ, किशोरलाल! मैं निकम्मी हूँ—पागल हूँ। दुनिया मुझे ठीक ही तो पागल मानती है। मेरी-जैसी को साथी बनाने की बात कहकर तुमने अपनी बड़ाई दिखाई है।"

"अपनी बड़ाई? व्यर्थ की बात न करो। मैंने तुम्हें ऐसा असह्य दुःख दिया, फिर भी तुम ऐसा कहती हो? मैं अयोग्य हूँ। भले ही मेरी प्रार्थना तुम न स्वीकार करो, पर तुम्हारा सेवक बनकर मैं सुख पाऊँगा। दूसरी किसी बात से मुझे ऐसा सुख नहीं मिल सकता।"

"सुख? मैं और सुख दूँ?" वह ज़रा फीकी हँसी हँसकर बोली—"मुझमें वह शक्ति नहीं है। मैं हृदयहीन हूँ। मेरा स्वभाव और शिक्षा ऐसी कृत्रिम प्रकार की है कि संसार को मैं कुछ भी सुख न दे सकूँगी—किसी को भी सुख न दे सकूँगी।" कुछ नीरस हँसी हँसकर वह फिर बोली—"भाँवर फिरने के पहले ही मैं बेकार बन जाऊँगी—तुम्हारा संसार व्यर्थ कर दूँगी। मैं देखती हूँ कि तुम मुझ पर प्रेम रखते हो। कितने दिनों की तुम्हारी मौन भक्ति मुझसे छिपी नहीं है; पर मेरे साथ विवाह करने पर पछताना ही पड़ेगा।"

इस बात से मेरे मन में कुछ आशा का संचार हुआ। "यही कारण

है ? तो मुझे उसकी पर्वाह नहीं है। तुम कब मुझसे कह रही हो। कह तो मैं रहा हूँ। मैं हाथ जोड़कर कहता हूँ कोकिला ! आओ, मुझे पावन करो।"

कोकिला ने आँखें घुमायीं। उसने धीरे से कहा—"तुम देखते नहीं ? मैं तो बुद्धि की भण्डार हूँ। मुझे आत्म-सन्तोष प्यारा है। सौन्दर्य-तत्त्व के अध्ययन में मैं प्रेम का भान विस्मृत किये बैठी हूँ। पत्नी बनकर पति को रिझाने की मुझमें शक्ति नहीं है। गृहिणी बनकर घर चलाने की मुझमें बुद्धि नहीं है। माता बनकर बच्चों को पढ़ाने-लिखाने का मुझमें चातुर्य नहीं है। मैं दुनियाँ से अलग हूँ। ईश्वरी सत्ता की मनुष्यरूपी भूल हूँ। मेरे लिए अकेलेपन का ही निर्माण हुआ है।"

"बहुत हुआ, मुझे अधिक नहीं सुनना है। यदि तुम्हारे कारण यही हैं तो मुझे पाँव दबाने के लिए पत्नी नहीं चाहिए; न घर चलाने के लिए गृहिणी चाहिए। मुझे तो पूजने और फूल चढ़ाने के लिए देवी चाहिए जिससे मैं स्वर्ग का अनुभव कर सकूँ—देवपद पा सकूँ। मुझे भार्या की पर्वाह नहीं है; मुझे तो भगवती जीवनेश्वरी चाहिए। यह तुम्हारे हाथ में है। क्या तुममें प्रेम नहीं है ? कोकिला ! तुमने अपने पवित्र मुख से आन्तरिक उछाह के साथ सृष्टि-सौन्दर्य का संवाद मुझे सिखाया है। तुमने ही कहा है कि ऐसा एक तार दो संस्कारपूर्ण हृदयों में हो तो ही एकसा दिव्य प्रेम प्राप्त हो सकता है। क्या तुम भूल गयीं ? तुम देवी हो। मेरे साथ मेल न होगा तो भी मैं करूँगा —करने का प्रयत्न करूँगा। आओ, आओ, इन्कार न करना—मेरी देवी !" मुझमें उछलते—उमंग-भरे शब्दों की बाढ़ आगयी। आँखों में आँसू भी उमड़ आये। मैं उसके पाँवों में झुक गया—कोकिला का हाथ पकड़ लिया और उसे उठाकर साथ लिवा ले गया। कितने दिनों से आशा थी कि उन सुकोमल करों का स्पर्श कर सकूँगा। उसकी आँखें भी डबडबा आयीं।

दुःख के साथ आधी सिसकियाँ-भरते हुए वह बोली—"किशोर-

लाल ! तुम ऐसा न कहो। मेरा हृदय फटा जाता है। यह स्नेहाञ्जलि मुझसे स्वीकार न की जा सकेगी; क्षमा करो।" फिर थकी-सी मन्द आवाज में बोली—"माफ़ करो किशोरलाल ! मैं तुम्हें दुःखी करती हूँ —पर ऐसा नहीं प्रतीत होता कि मैं तुम्हें प्रेम दे सकूँगी—"

"क्यों नहीं ?"

आँसुओं की धारा बहाती हुई प्रकम्पित कोकिला ने कहा—"पूछते हो तो सच कहूँगी। तुम्हें प्रेम न दे सकूँगी, और प्रेम के बिना विवाह करना व्यर्थ है।"

मन में कुछ अभिमान आया—"तनिक भी प्रेम न दे सकोगी ? दया, कृपा—कुछ भी नहीं ? मैंने ऐसा तो नहीं समझा था।" मेरा आत्माभिमान जाग्रत हुआ। मैं उठ खड़ा हुआ और वहाँ से सरक गया। पर थोड़ी दूर जाकर एक जगह बैठ गया। मेरी दबी हुई चाह बाहर निकल पड़ी। मैं हाथ पर माथा टेककर सिसकियाँ भर-भर कर रोने लगा।

कोकिला उठकर मेरे पास आयी। उसने स्नेह से मेरे कन्धे पर हाथ रखा—"किशोरलाल ! यह क्या ? ऊपर देखो। यह बात तुम्हें शोभा नहीं देती। तुमने गलत समझा है, मैंने तुम्हारे लिए नहीं कहा, अपने लिए कहा है। मैं हृदय-शून्य हूँ। किसलिए ? मुझे कोई नहीं जानता। असंख्य घावों ने मेरे जीवन को नष्ट कर डाला है। यह बात बहुत थोड़े लोग जानते हैं। मैं प्रेमशून्य नहीं थी। मैं भी प्रेमपूर्ण थी। मेरा हृदय भी तीव्र आन्तरिक अभिलाषाओं से धड़कता था, पर ईश्वर का कोप हुआ। बेचारा फूला हृदय कुचल उठा, और मन-की-मन ही में रखकर मैंने पशुवत् जीवन स्वीकार किया। कहाँ मैं—और कहाँ यह दशा ?"

इन शब्दों से मुझे कुछ समझ आयी। कोकिला की अस्थिर मनः-स्थिति के सभी कारण अन्धकार में थे। ओठ-पर-ओठ पीसकर कुछ स्थिर होकर वह बोली—"सुनो, इतना कह दिया है तो सभी कह दूँ। हृदय फटा जाता है; पर मैं कुछ देर में कहूँगी।....कितने ही वर्ष हुए। कौन

गिनता है ? जब मैं कालेज में थी तो सुखी थी। उन दिनों मेरा एक मित्र था। उसकी मोहक सुन्दरता, बाहर से दिखायी देता स्नेहपूर्ण स्वभाव, शानदार और कभी-कभी उलटी बातचीत से मेरा अनुभव-शून्य हृदय वशीभूत हो गया। हम साथ-साथ घूमते और साथ-साथ पढ़ते थे। मेरी बुद्धि और मेरी शक्ति प्रबल अवश्य थी, पर हृदय प्रणयी था। उसने उसे स्वामी मान लिया। किशोरलाल, मैं अभिमान नहीं करती; पर हमारी ऊर्मियाँ अपूर्व थीं। ऐसी किसी-किसी में ही मिलती हैं। मेरा वह देवता उस उपहार के योग्य न था। पर मैं अन्धी होकर उसकी सभी बातें पूरी मानती रही।

आँसू पोंछकर उसने फिर कड़ी आवाज़ में कहना शुरू किया—"मेरे अहोभाग्य का पार न रहा। पिताजी ने मेरा विवाह उसके साथ कर दिया। प्रेम-विमान पर बैठकर मैं स्वर्ग पहुँच गयी। सौन्दर्यानुभव में एक त्रुटि थी जो पूरी हो गयी। संक्षेप में ही कहने दो। विवाह हो जाने पर हम प्रगाढ़तर सम्बन्ध में आ गये। सौन्दर्यसार देखने की मेरी तीव्र शक्तियों ने इस समागम में कुछ थोड़ा दोष देखा। मेरे देवता ज़रा मनुष्यत्व की ओर झुके। विवाह हो जाने पर वह भी स्वामित्व का स्वाँग भरने लगे। उसकी मुझे समझ न थी। मैं सजग हो गयी। हमारे संसार की गाय-जैसी स्त्रियों की जिस व्यक्तित्वहीन सिधाई को मुख्य आभूषण समझकर बहादुरी दिखाई जाती है, वह दुर्भाग्यवश मुझमें न थी। अधिक मेल से मैं बिकी हुई गुलाम बन जाऊँगी, उसका मुझे भान नहीं था। प्रसंग आने पर मेरे वे नाथ अपने स्वामित्व का स्वाद मुझे चखाते गये। उस समय मैं तड़फड़ाकर रोती, बहुत बार हाथ जोड़कर विनय करती और एक स्नेहमय शब्द सुनने के बाद रीझ जाती। मुझे भविष्य का भान नहीं था, उनके अगम्य आवरण में क्या-क्या सुख-दुःख पड़ा होगा, यह बात मैं नहीं जानती थी। वह मेरे स्वामी हैं, मैं इसी को प्रेम और सुख मानती थी।"

इसके बाद कोकिला ने ज़रा खाँसकर गला साफ किया। एक अश्रु-

बिन्दु ढलक पड़ने के बाद वह फिर बोली—"अनुभव ने कुछ और ही दिखाया। मेरी प्रवृत्तियाँ मानसिक थीं। उन (पतिदेव) की सभी प्रवृत्तियाँ भौतिक और स्वार्थनिष्ठापूर्ण थीं। ऐसा लगा कि वह शारीरिक मौज-शौक की जड़ अभिलाषाओं के सन्तोष में ही अपने जीवनादेश को समाता समझते हैं। स्वार्थपूर्ण, हल्के विचारों का पता लगने पर मेरी मानसिक समता को ज़रा धक्का लगा। जब मैं उच्च भावना के व्योम में विहार करती, उस समय मेरे भर्त्तार ज़बान के चटखारे या शरीर के आराम की खोज में व्यस्त होते। मैं अपने कल्पना-संसार से उतरी—आँखें खुलीं। अपने देवता का रंग परखा। हे भगवान्! उस दिन का दुःख मन में याद आते ही मेरा सारा जीवन नीचे गिर जाता है।

"जाने दो ये बातें; बहुत विस्तार हो गया। वह मुझे रूपगर्विता और पशु के समान समझते थे। एक दिन मेरे कानों में कितने ही शब्द पड़े। कितने ही मित्रों को उन्होंने कह दिया—'विवाह हो गया है—अब इसे ठिकाने लगा दूँगा।' यह बात मेरी समझ में न आयी; पर भविष्य की भयंकर परछाईं पड़ती दिखायी दी। मैंने इस बात का स्पष्टीकरण चाहा। स्वामी ने स्वामित्व प्रदर्शित किया। मुझे कहा कि मैं स्त्री के रूप में अपनी स्थिति समझ लूँ। मेरे सामने यह भेद पहले ही खुला। जाति-भेद, स्वामी-स्त्री के बीच स्थिति का अन्तर, संसार की यह कृत्रिम व्यवस्था, मेरे जड़ स्वभाव के पतिदेव का स्वार्थपूर्ण अहंकार, यह सब देखकर मेरा हृदय बिंध गया; मेरा मस्तिष्क कुचल उठा। मैं बीमार पड़ गयी। दैव ने अपनी दया में मेरा भाग नहीं रखा। पतिदेव चिढ़े। उन्हें नचानेवालों ने उनको और भी समझाया, भड़काया। उन्होंने विवाह-विच्छेद कर लिया। तीन मास की भयंकर बीमारी से उठने के बाद मुझे इसका पता लगा। यह है मेरा जीवन! किशोरलाल, मुझ हतभागिनी का यही इतिहास है। किशोरलाल! मैं घूमती हूँ, फिरती हूँ, सैर को जाती हूँ; पर उस दिन से मेरे सुख का सर्वनाश हो चुका है।" यह कहकर दबे क्रोध को निकालने के लिए

वह मेरे कन्धे पर माथा टेककर फूट-फूट कर रोने लगी।

"ज़रा हिम्मत बाँधो। ऐसा क्यों करती हो?"

कुछ शान्त होने के बाद कोकिला फिर बोली—"कितनी हिम्मत करूँ? कब तक? और अधिक इन्कार करके तुम्हें दुःखी ही करूँगी। मैं अपने कृपालु को धिक्कारती हूँ; पर टूटा हुआ हृदय फिर जुड़ने से इन्कार करता है। तुम्हारे प्रेम के लिए असीम उपकार मानती हूँ; उसके बदले कहो तो मैं अपना जीवन दान कर सकती हूँ—पर प्रेम नहीं। एक बार मैं मर चुकी हूँ। तुम्हारे लिए फिर मर सकूँगी; पर तुम्हारे साथ विवाह करके प्रेमपूर्ण एकता न अर्पित कर सकूँ तो पीछे केवल शुष्क सम्बन्ध किस काम का?"

वह बोलते-बोलते अटक गयी। मेरा हृदय निराशा से, दुःखमय चाह से बिंध गया। अब क्या कहूँ?

"कोकिला! प्रेम भले ही न दो, पर तनिक दया रखो, तो वही बहुत है। मैं तुम्हें भरसक सुखी करने का प्रयत्न करूँगा।"

वह कुछ हँसकर बोली—"किशोरलाल! यह बात तुम्हें ही शोभा देती है। क्या विवाह में ही सब-कुछ समाया हुआ है? तुम्हारे प्रति मेरा भाव निश्छल है। हम इसी तरह क्या बुरे हैं? क्या इस प्रकार रहकर तुमसे सुखी नहीं रहा जाता? मेरा रिक्त हृदय यदि किसीको वर-माला पहनाने का विचार करेगा तो तुम्हें ही; पर बिना प्रेम के विवाह तो केवल ढोंग स्वीकार करके असत्य का आदर करना है। इसमें क्या सार है?"

मेरी विजय हो गयी; हमारा मित्रभाव बढ़ा। उस समय मैं कोकिला को अपनी सगी बहन से भी अधिक मानने लगा। वह मेरे निराशाजन्य श्रम को यथासम्भव कम करने का प्रयत्न करती। मेरा प्रेम का निर्मल प्रवाह पूर्ण वेग से बहता और मैं कोकिला की सेवा करने में ही अपने को सफल समझता। किन्तु कोकिला की तबीयत अधिकाधिक रूप में बिगड़ने लगी। हम सभी अच्छे स्थानों को

जलवायु-परिवर्त्तन के लिए गये, प्रत्येक प्रसिद्ध डाक्टर की सहायता ली; पर काम न बना। सभी प्रयत्न निष्फल हुए। अन्त में दूर से यमराज की पदध्वनि सुनाई देने लगी। मेरी सुन्दर-रसिक प्राणेश्वरी की घड़ियाँ गिनी जाने लगीं। दीपक टिमटिमाता रहा।

चार-पाँच रात के अखण्ड जागरण से थककर मैं ज़रा नींद के झोंके खा रहा था। कोकिला के पिता उसके पास बैठे थे। उस बेचारे के तो होश ही उड़ गये थे। इतने में कोकिला ने आँखें खोलकर कमज़ोर आवाज़ में कहा—"पिताजी! किशोर!"

कुछ दिनों से वह मुझे आधे नाम से बुलाने लगी थी। आवाज़ सुनकर मैं जगा और उसके पास गया। कितने ही दिनों से कोकिला अधिकतर नहीं बोलती थी, आज कुछ बोलने का मन दिखायी दिया। वह बोली—"पिताजी, तुम्हें दुःख तो होगा। मुझे अब अपना अन्त निकट आता दिखाई दे रहा है। ऐसा लगता है कि सारे शरीर में कुछ है ही नहीं। पिताजी, प्यारे पिताजी, मैंने तुम्हें बड़ा दुःख दिया—अब भी तुम्हें मारती हुई जा रही हूँ। किशोर! पिताजी को सँभालना।"

बेचारा बुड्ढा यह न सह सका। वह झट बाहर चला गया और दूर से उसके रोने की आवाज़ आयी। कोकिला ने अपनी बात जारी रखी।

"किशोर! तुम्हें भी यह बात कड़ी लगेगी। मैंने जीते-जी ही कुछ बाकी नहीं रखा। मुझे क्षमा करना। मेरे बारे में गलत धारणा न बनाना; मुझसे जो-कुछ भी हो सका तुम्हारे लिए किया।" फिर जैसे कोई माँ अपने पुत्र को बुलाती हो उस प्रकार मेरा सिर अपने निकट करके मेरे झुके मस्तक पर हाथ फेरा और बोली—"किशोर! भाई! अब मैं जाऊँगी। दुनिया ने कुछ भी बाकी नहीं छोड़ा। अब मैं इसे छोड़ती हूँ।" मेरा सिर उसने और भी निकट ले जाकर मस्तक पर ओठ लगाया। मेरा हृदय फटा जा रहा था। मैं चुप था।

वह कुछ देर नहीं बोली। मैंने सिर ऊपर उठाया। कोकिला

के नेत्र विस्फारित हो गये थे और बिल्कुल स्थिर । मैंने हाथ का स्पर्श किया—प्राण-पखेरू उड़ चुके थे। मरने की घड़ी पर मुझे पवित्र आशिष का चुम्बन देकर मेरी देवी सिधार गयी। उसके निर्जीव हाथ पर माथा रखकर मैं फूट-फूटकर रो उठा। मेरा वश चलता तो किवाड़ बन्दकर कोकिला के शव पर तब तक रोता रहता जब तक मैं भी शव न बन जाता।

बरसों बीत गये; पर मेरी कोकिला जैसे दिन-रात मेरे साथ ही हो, इस प्रकार मेरी प्रेम-ज्योति अचल रहकर बढ़ती रहती। सब जगह देखता पर मेरी प्रियतमा का मुख-मण्डल कहीं न दिखायी देता। पागल बना रहता—प्रायः समुद्र-तट पर बैठकर दूर-दूर दृष्टि डालता। परिवर्त्तित बादलों के व्यूह में और सागर के गम्भीर गर्जन में मैं कभी-कभी कोकिला का मुख देख पाता, उसका स्वर सुनता, अन्त में थककर उसासें लेकर रोते हृदय से घर आता। मेरा संसार तो सूना ही हो चुका था।

मेरा उपयोग

कोई तीन वर्ष से मैं अपने मित्र प्रोफ़ेसर शिवलाल से नहीं मिला था। हम कालेज के साथी थे—अन्तर यही था कि वह विश्वविद्यालय में पहले या दूसरे नम्बर पर आता था और मैं साधारणतः परिशिष्ट-सूची (Supplementary List) की ही शोभा बढ़ाता था; और यदि कभी भूल-चूककर भाग्यवश ३० प्रतिशत नम्बरवालों में आ जाता तो उसका श्रेय मेरी चालाक आँखों और पास-बैठे परीक्षार्थी की बुद्धि को मिलना चाहिए। पर विद्या के अनाकर्षक क्षेत्र के सिवा और सभी जगह मेरा नम्बर पहला होता था। बाज़ार से कुछ लाना होता और दुकानदार भी भले ही मेमन[1] हो, उसे पटाना या ठगना मेरा काम होता; प्रोफेसर को चिढ़ाना होता, अथवा किसीको दुःख देने या बनाने का काम आ पड़ता तो उसमें कोई मेरा मुकाबला न कर सकता था।

शिवलाल में दुनिया के सामान्य ज्ञान की कुछ अजीब कमी थी; पर भाग्यवान का हल भूत जोतता है, इसी प्रकार एम० ए० में चान्सलर का मेडल और तुरन्त ही प्रोफेसरी की मनोवाञ्छित नौकरी उसे मिल गयी, और भाग्य का कटोरा जैसे अभी भरा न था इसलिए हिन्दू-संसार के हिसाब से पढ़ी-लिखी पत्नी से उसका विवाह भी हो गया।

उसके दो वर्ष बाद मैं उसे मिला। उस समय मुझे शिवलाल की घर-गिरस्ती विचित्र-सी लगी। हमारी अनुसूया भाभी रूप की

१ गुजरात की नवमुस्लिम व्यापारी जाति।

अवतार थीं और फैशन की खान; बोलचाल में चतुर, स्वभाव की चपल, जिससे उन्हें देखकर तितली का आभास होता था। प्रोफेसर साहब थे तो मेरे मित्र, पर मुझे कहना चाहिए कि वे अध्ययनकक्ष के बाहर मुश्किल से दो पैरों पर खड़े रहने योग्य थे—वे थे पूर्णतः मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति। अधिक तो क्या कहूँ, ऐसी सुन्दर जोड़ी गढ़ने में तो विधाता को भी बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा होगा।

मैं बहुत दिनों बाद उनसे मिलने गया। इसलिए यह देखने की आकांक्षा स्वाभाविक रूप से हुई कि उनकी घर-गिरस्ती कैसी चल रही है। घर में घुसते ही सामने अनेक रंगों के अद्भुत और रसिक मिश्रण में लिपटी इन्द्रधनुष-जैसी शोभायमान अनुसूया भाभी मिलीं। और कितनी ही स्त्रियाँ बहुमूल्य वस्त्र खरीदकर अपने पतियों की जेबें खाली करती थीं, पर कपड़ों का पहनना तो हमारी अनुसूया भाभी को ही आता था।

तीन वर्ष पर भी उनका स्नेह और सत्कार वैसा ही था। पाँच मिनट में मैंने उनसे हर बात के बारे में प्रश्न कर डाले। अनुसूया से बात करते समय जवाब देने की कोई ज़रूरत न थी। वह तो सवाल के बाद सवाल करती जाने में ही सुख मानती थीं। मैंने भी उनकी और शिवलाल की तबीयत का हाल-चाल पूछा। जैसे-तैसे उत्तर मिला। उन्होंने चाहे-जैसी ज़बान की सफाई दिखायी; पर उनके आन्तरिक जीवन पर कुछ बादल छा चुके थे, यह बात वे छिपा नहीं सकीं। पहले-जैसा सूर्यकिरण-सा हास्य, गुलाब के खिले फूल-सा मुखड़ा; आनन्दमय, निर्दोष, स्वच्छन्दतापूर्ण विनोद न था। दुःखमय जीवन के अकथ्य अनुभवों में ज़रा गम्भीर स्वर मिल गया था—अनुसूया की निर्दोष बातों में से शुद्धता निकल गयी थी। उसके मुख पर, स्फटिकवत् कपाल पर विचार, चिन्ता और सहनशीलता की सख्त रेखाएँ पड़ गयी थीं।

"प्रोफ़ेसर कहाँ हैं?" यह पूछने पर उन्होंने अध्ययन-कक्ष की ओर इशारा कर दिया। मैं उधर जा ही रहा था कि अनुसूया ने रोककर

कहा—"वहाँ फिर चले जाना। साहब अभी गम्भीर अध्ययन में लगे हैं। मुझे भी वहाँ जाने को मना कर रखा है।" अन्तिम शब्द मज़ाक में कहे गये प्रतीत होते थे, फिर भी उनके स्वर और उच्चारण के ढंग से गहरे असन्तोष के इतिहास की लम्बी कहानी कह दी गयी।

"क्या हर्ज है, मैं ज़रा हो आऊँ।" यह कहकर किवाड़ खोल मैं अन्दर चला गया। एक बड़ी मेज़ पर रखी बहुत-सी पुस्तकों के बीच में बैठे प्रोफेसर का केवल सिर ही दिखाई देता था। मैं पास जाकर खड़ा हो गया। मेरे मन में था कि अब वे ऊपर देखेंगे, पर आख़िर मुझे खड़े-खड़े थक जाना पड़ा।

"क्यों प्रोफेसर साहब! क्या कर रहे हो?" मैंने पूछा। पर अध्ययन में डूबे हुए प्रोफेसर कब सुनते थे?

"क्यों शिवलाल! पहचानते भी हो या नहीं?"

पीछे से मेरा स्वागत देखने के लिए आयी हुई अनुसूया की दबी हँसी मेरे कान में आ रही थी।

प्रोफेसर अपनी तन्द्रा से—विचार के नशे से—जगे। "कौन रमणीक! तू कहाँ से आ गया? अरे हाँ, हाँ! मैंने ही आने को लिखा था। क्या साढ़े तीन बज गये? माफ करना। मैं तो भूल ही गया। अनुसूया, रमणीक को कुछ खाने-पीने को दिया?"

"जी नहीं," अनुसूया ने कुछ मज़ाक भरे स्वर में कहा—"यह काम घर के मालिक के लिए छोड़ दिया है! तुम्हारे आने की देर है।"

प्रोफेसर ने माथा खुजाया। "मुझे एक ही घण्टे का काम है—करके आता हूँ।" कहकर उन्होंने फिर पुस्तकों में डुबकी लगायी। हम बाहर आ गये।

× × ×

घण्टे-डेढ़ घण्टे तक तो हमने राह देखी; पर प्रोफेसर का दर्शन नहीं हुआ। अनुसूया ने कहा कि यह बात तो वे भूल ही गये होंगे, इसलिए बाद में हमने चाय पी और जाकर बाहर बैठे। घर के सामने

एक छोटा-सा बाग अनुसूया के शौक का प्रमाण दे रहा था। यह तो सच है कि अनुसूया के मुँह में चार तोतों के बराबर व्यर्थ बोलने की शक्ति थी, नहीं तो अकेली चुपचाप बैठे रहने से मन ऊब जाता। छिपाने का बहुत प्रयत्न किया; पर बातचीत से अनुसूया के मन की स्थिति आसानी से परखी जा सकती थी। ऐसी रसिक स्त्री को ऐसा एकाकी जीवन बिताना भी पड़े तो अच्छा तो नहीं लग सकता; पर सद्गुणी गृहिणी चतुरता से स्वाभाविक विनोद को सदा जीवन का साथी बनाकर आनन्दमय सूर्य-किरणें बिखेरती और यथाशक्य सुख में जीवन बिताती है। फिर भी मुझसे पूछे बिना न रहा गया—

"पर इस तरह अकेले तुम्हारे दिन कैसे कटते होंगे?"

"यही तो मेरी खूबी है न। मैं कौन हूँ? तत्त्वज्ञानी की वामांगी, और प्रोफेसरों की भी प्रोफेसर। प्रोफ़ेसर तो पुस्तकें भी देखते हैं। मेरे लिए तो अखण्ड एकान्त के सिवा और सभी-कुछ व्यर्थ है?" अनुसूया ने हँसते हुए कहा। मीठे स्वर में छिपी हुई कठोरता हृदय से क्वचित बाहर निकलकर वेदना का आभास करा रही थी।

कोई आध घण्टे बाद प्रोफेसर साहब आये। उन्होंने पाँच मिनट में तीन वर्ष का हाल-चाल पूछ डाला, और फिर वे चुपचाप चेहलकदमी करने लगे। उनके चेहरे से ऐसा लगता था कि वे मेरी दिलचस्पी की कोई बात कहने का भगीरथ प्रयत्न कर रहे हैं। "हेगल का अध्ययन किया है क्या?" पाँच मिनट बाद प्रोफेसर ने यही रसपूर्ण प्रश्न किया।

"प्रोफेसर साहब, आग लगाओ हेगल को। तुम्हारे साथ कालेज में यदि हेगल को जानता भी रहा होऊँगा तो इन दिनों तो भूल गया हूँ। इन दिनों तो मिल में काम करता हूँ सो उसकी स्थिति के बारे में कहो तो कुछ कहूँ।" छुटकारा पाने के लिए मैंने प्रोफेसर के प्रश्न पर पानी फेर दिया, क्योंकि यदि एक बार तत्त्वज्ञान की बात चल पड़ती तो बाद में साधारण विषय की चर्चा कब आती, इस बात का विचार था।

इतने में अनुसूया फूल लेकर आयी। कुछ मुझे दिये और कुछ प्रोफेसर के हाथ में थमाये। अनुसूया ने फूल देने में भी वह खूबी दिखाई जो दूसरी स्त्रियाँ अपने जीवन के सुन्दर कृत्यों में व्यक्त नहीं कर सकतीं। जैसे कोई विद्यार्थी न्याय-सिद्धान्त बताते हुए भूल को सुधार रहा हो, उसी प्रकार के भाव-शून्य स्वर में शिवलाल बोले—

"अनुसूया! तू तो फूलों की काल है।" बेचारी अनुसूया का चेहरा उतर गया; पर उसने साहसपूर्वक उत्तर दिया—"तुम पुस्तकों के काल हो और मैं फूलों की। कुछ-न-कुछ तो होना ही पड़ता है न?"

"प्रोफेसर! आज नाटक में जाऊँ।" अनुसूया कुछ देर बाद इस प्रकार छुट्टी माँगते हुए बोली—"रमणीक भाई साथ जायँगे। कितने ही दिनों से नहीं गयी।"

"अरे अनुसूया! तू अभी तक जैसी-की-तैसी ही बनी हुई है! भला नाटक में क्या मज़ा आता है? केवल समय नष्ट होता है।"

अनुसूया ने मेरी ओर देखा। इसी प्रकार इस शुष्क वातावरण में यह रसीली फूल-बेल मुरझाती होगी। हमारी अज्ञानता पर तरस खा कर प्रोफेसर साहब ने हमें नाटक देखने का भयंकर पाप करने की आज्ञा दे दी।

× × ×

अनुसूया के कोमल मन पर नाटक का प्रभाव बहुत देर तक रहा। सवेरे से नाटक के शब्दों और गानों की वह आवृत्ति ही करने लग गयी। प्रोफेसर के सवाल के जवाब में नाटक के विभिन्न पात्रों के अभिनय और वाक्यों की हू-ब-हू नकल सुनाने लगी। बहुत दिनों पर मनचाहा आनन्द मिला था इसलिए अनुसूया खूब खिली। सवेरे भोजन करते समय प्रोफेसर के जड़वत् भाव की शीतलता पर भी उसकी आनन्द-रश्मियों का प्रभाव पड़ा। "अनुसूया! आज तू बहुत उछल-कूद मचा रही है न? पहले भी इसी प्रकार का पागलपन करती थी। रमणीक

तुझे पगली कहेगा।" प्रोफेसर यह बात कहते तो बड़े मोह के साथ, थे, पर वह कोरी बातें ही होती थीं।

"माफ करो कृपानिधान! मैं तो सदा ऐसा पागलपन करती हूँ। यह कहो कि इसे देखने की आँखें तुम्हें आज मिली हैं।"

"क्यों, मैं पहले नहीं कहता था?"

"हाँ! उस समय आँखें थीं। फिर तुमने तत्त्वज्ञान का ऐसा चश्मा लगा लिया कि कुछ दिखायी ही नहीं देता।"

इसके बाद प्रोफेसर चुप रहे। ग्रीष्म का प्रचण्ड सूर्य तपता है तो हिमालय तो उसके मुकाबले में थोड़ा ही उष्ण होता है।

अनुसूया के ऊपर चले जाने पर मैं बाहर खड़ा रहा। प्रोफेसर तथा अनुसूया लाइब्रेरी में गये। प्रोफेसर साहब को इस बात का भान ज़रा कम था कि गुप्त और प्रकट रूप में कैसी बातें की जानी चाहिए और कैसी नहीं। उनकी आवाज़ सुनायी दे रही थी; अनुसूया मर्यादा-पूर्वक धीरे से जवाब दे रही थी—"आज ये पुस्तकें बिखरी पड़ी हैं.... दिमाग गरम हो गया दीखता है। सारे दिन बक-बक किया करती है....कोई सुननेवाला आया कि पारायण चला....."

बेचारी अनुसूया को एक दिन भी आनन्द भोगने की आज्ञा नहीं थी। इससे प्रोफेसर की क्या त्रुटि थी? उनका मन सारे दिन तत्त्वज्ञान और न्याय के ऊँचे अस्पृश्य वातावरण में भ्रमता—उनका आनन्द, चिन्ता, सुख-दुःख सब केवल विचार से सम्बन्ध रखते थे। साधारण मनुष्य का स्वभाव कैसा होता है, उसकी आवश्यकताएँ क्या होती हैं, उसका सुख किसमें समाया हुआ है, इसका खयाल उन्हें न था। अनुसूया मुखमण्डल गम्भीर बनाकर बाहर आयी। आँखों में आँसुओं का आभास हो रहा था—पर आँसू ढलके नहीं। मैं खिड़की के सामने इस प्रकार खड़ा था जैसे कुछ देखा-सुना ही न हो। उसने कुछ देर मेरी ओर देखा, फिर यकाएक जैसे कोई विचार आया हो इस प्रकार नज़र घुमाकर कुछ हँसती-हँसती नीचे चले गयी।

दोपहर की चाय के समय अनुसूया का रंग-ढंग और चाल-ढाल और ही थी। सवेरे की अपेक्षा अधिक उल्लास था। पर प्रोफेसर की ओर देखकर पहले बार-बार जिस प्रकार बातें करती थी, वैसी अब नहीं कर रही थी और उस सम्मान का भाजन अब उसने मुझे बना लिया था। प्रोफेसर तो अधिकांश समय गम्भीर ही बने रहते, कभी-कभी चालू हंसी को थोड़ा-बहुत सुनकर ही सन्तोष कर लेते थे।

"रमणीक भाई! चलो अब बाहर घूमें। प्रोफेसर साहब, आप तो अब लाइब्रेरी में पधारेंगे न?"

थोड़ी देर घूम-फिरकर हम बाग के एक बेंच पर बैठ गये। सामने अपने अध्ययन-कक्ष में प्रोफेसर साहब इतस्ततः करते विचारग्रस्त दिखायी देते थे; कभी-कभी वह हमारी ओर भी दृष्टि डाल लेते थे। जब-जब उनकी नज़र हम पर पड़ती तब-तब अनुसूया इस प्रकार का उपक्रम करती जैसे वह मेरे साथ बड़ी ही गोपनीय बातें कर रही हो; किन्तु इस समय मैं उसका मर्म नहीं समझ सका।

दूसरा दिन यों ही बीत गया। धीरे-धीरे प्रोफेसर में कोई नया ही अन्तर दिखायी दे रहा था। उनकी आँखें निस्तेज थीं। वह बार-बार अनुसूया की ओर जातीं; पर अनुसूया ऐसा प्रकट करती जैसे वह उन्हें देख ही न रही हो। वह अब अपने कपड़ों की ओर विशेष ध्यान देते प्रतीत होते थे। एक बार तो वे कालर ठीक करते हुए भी दिखायी दिये। प्रोफेसर के लिए तो इतना ध्यान ही असाधारण कहा जा सकता था।

इसके बाद डाक आयी, और वे लाइब्रेरी में गये। भोजन के समय तो प्रोफेसर साहब की तबीअत में बहुत खराबी आगयी मालूम पड़ती थी। उनकी आँखें लाल, चेहरा फीका और मन व्याकुल दिखायी देता था। छिपाने का प्रबल श्रम करके भी वह अपने मनोभाव को छिपा न सके। भोजन करते समय उनका हाथ काँप रहा था; पर अनुसूया ने उस ओर नहीं देखा, और देखा भी हो तो बोली नहीं। अब वह या

तो अधिक दिन हो जाने के कारण मेरे प्रति मोह में पड़कर अथवा आतिथ्य-सत्कार की उच्च भावना के वशीभूत होकर अधिकांश समय मेरे लिए ध्यान देने में व्यतीत करती।

बड़े परिश्रम से प्रोफेसर ने भोजन किया और हम दोनों अध्ययन-कक्ष में गये।

"तू मेरा मित्र है या नहीं ?" उन्होंने मुझसे काँपती हुई आवाज में कहा। उनके चेहरे से प्रतीत होता था कि उनके मन में भारी खल-बली मची हुई है।

"शिवलाल, इतने वर्षों बाद यह सवाल ?"

उन्होंने बड़े दयनीय भाव से कहा—"हाँ, मैं मूर्ख हूँ। विद्या-व्यसन में संसार का भान गँवा चुका हूँ। खोटा-खरा, सच-झूठ परखने की शक्ति मुझमें नहीं है।"

मुझे यह न सूझा कि इस बात का क्या उत्तर दूँ। कुछ देर गम्भीर विचारकर प्रोफेसर फिर बोले—"रमणीक, कितने ही व्यक्तियों को संग के बिना चैन नहीं मिलता न ?"

"कैसा सवाल है ? अरे वाह रे प्रोफेसर ! क्या सभी तुम्हारे-जैसे ही होते हैं ? कितने ही क्या, अधिकांश लोग ऐसे होते हैं जो संग के बिना जीवित ही नहीं रह सकते।" जैसे मैंने कोई बहुत बड़ी व्याख्या की हो—बहुत बड़ी बात समझ में आगयी हो, इस प्रकार उन्होंने आँखें घुमायीं। कोई दूसरा इस तरह की बात पूछता तो उसका मज़ाक उड़ाया जाता, पर ऐसे विषय में प्रोफेसर का अज्ञान ऐसा ही हास्य-जनक था।

थोड़ी देर चुप रहने के बाद कोलम्बस जैसी चतुरता से, जैसे कोई दूसरी बड़ी खोजकर डाली हो, इस प्रकार बोले—"कितनों ही को मौज-शौक और सुन्दर वस्त्रों के बिना भी सुख नहीं मिलता न ?"

"नहीं।" मैंने संक्षिप्त उत्तर दिया, क्योंकि ऐसी सादगी, विद्वता और मूर्खता का और कोई पुतला शायद ही नज़र आ सकता था, और

ऐसे सवालों से चेहरा गम्भीर बनाये रखना भी कठिन था। ये बातें वह अनुसूया के सम्बन्ध में करते प्रतीत होते थे। यदि ऐसे विचारों पर अधिक ध्यान देते तो अनुसूया का भाग्य कुछ खुलता। जैसे कोई भयंकर गुप्त बात कह रहे हों, इस प्रकार धीरे से उन्होंने मेरे कान में कहा—"मैं उसे दुःख देता हूँ। मुझे चाहिए कि उसे अधिक सुख दूँ।" फिर छोटे बालक की भाँति उन्होंने पूछा—"कैसे सुख दूँ? मुझे कुछ भी समझ में नहीं आता।"

"प्रोफेसर, इस तरह व्यर्थ के विचार में न पड़ो। अनुसूया से ज़रा अधिक बातचीत करो, पास बैठो, तो इससे दोनों को अधिक सुख मिलेगा।"

एक गहरी साँस लेकर प्रोफेसर वहाँ से उठे।

सवेरे छः बजे अनुसूया वहाँ आयी जहाँ मैं सो रहा था।

"रमणीक भाई!"

"क्या है बहन?"

"ज़रा एक काम करो तो। प्रोफेसर के पेट में बहुत दर्द है। ज़रा दवाफ़रोश के यहाँ जाओगे?"

"ज़रूर। नुस्खा है?"

"हाँ यह रहा। जल्दी जाओ।"

"पर दवाफ़रोश की दुकान कहाँ है?"

"देखो, इसी सड़क पर आगे जाकर फ़व्वारा आयेगा। उसके पास ही है दुकान।"

मैंने झटपट कपड़े पहने और सड़क पर जाकर दवा की दुकान खोजने लगा। या तो अनुसूया ने दुकान का पता बताने में भूल की या मैंने ही गलत रास्ता पकड़ लिया, आधे घण्टे तक चलकर भी मैंने फ़व्वारा नहीं देखा। आखिर मैं थक गया और सोचने लगा कि ज्यादा देर होने पर शिवलाल दर्द के मारे मर जायगा। तलाश करते-करते एक दूसरी दवाफ़रोश की दुकान मिली। दवा मिल गयी। दवाफ़रोश ने दवा की

शीशी थमाते हुए कहा—"क्यों मिस्तर डिस्पेप्सिया सख्त है क्या ?"

"नहीं जी, यह तो मेरे दोस्त के लिए है। उसके पेट में दर्द है।"

"क्या कहते हो ? तुम्हारी भूल है, यह तो सिर्फ डिस्पेप्सिया की दवा है—समझे ?"

मन में विचार आया कि कहीं अनुसूया ने भूल तो नहीं की ? ऐसा भी हो सकता है। तो भी "ठीक, साहबजी !" कहकर मैं जल्दी से वापस आने को मुड़ा।

मैं पहुँचा तो मेरा खयाल था कि प्रोफेसर सदा की भाँति लाइब्रेरी में ही होंगे इसलिए उनके अध्ययन-कक्ष में घुस गया। वहाँ देखता हूँ कि ज्वालामुखी से उड़ायी हुई धरती की तरह पुस्तकें इधर-उधर पड़ी हैं। प्रोफेसर की प्यारी सहचरियों—बहुमूल्य, प्यारी पुस्तकों के पन्ने अस्त-व्यस्त और उखड़े हुए पड़े थे। कुछ फेंकते समय फट भी गयी थीं। इस प्रकार शिवलाल का पुस्तकालय ध्वस्त हो गया था। वहाँ से लौटकर ऊपर गया। अनुसूया के कमरे में से ही कुछ-कुछ आवाज़ आ रही थी। प्रोफेसर वहीं लेटे होंगे, यह सोचकर मैं वहाँ गया।

प्रोफेसर निराशा की मूर्त्ति बने ज़मीन पर पैर फैलाये बैठे थे। तत्त्वज्ञान के तेज से जो आँखें सदा आभायुक्त रहती थीं वे अब सूजी हुई थीं। उनमें चार-चार आँसू बह रहे थे। छोटे बच्चे धूल में बैठकर जिस प्रकार मुट्ठी से आँसू पोंछते हैं उसी प्रकार की हास्यजनक निर्दोषता से एक हाथ की मुट्ठी से वे आँसू पोंछ रहे थे। दूसरा हाथ उन्होंने ज़मीन पर टिका रखा था। पास ही अलमारी से अनुसूया के रंग-बिरंगे चमकदार वस्त्र उन्होंने खींचकर कमरे-भर में बिखेर दिये थे। उनके सामने अनुसूया का एक चित्र पड़ा था। प्रोफेसर के प्रति यदि मेरा आदर-भाव न होता—यदि उनकी ऐसी दयाजनक स्थिति का कारण जानने की प्रबल आकांक्षा मुझे न होती तो मैं अवश्य ही ठहाका मारकर हँस पड़ता।

"अनुसूया, तुझे यह क्या सूझी ?" रोने के कारण फटे हुए गले से

प्रोफेसर ने कहा और फिर अपना सिर पीटकर बोले— "अरे बेवकूफ़ !"

इन दुःख के शब्दों से मुझे घबराहट हुई। क्या अनुसूया को कोई अनिष्ट हुआ है ? "क्या है ?" पूछते हुए मैं कमरे में घुसा। मुझे देखते ही प्रोफेसर गुस्से से लाल हो गये। विद्वता और भलमनसी से शोभित चेहरे पर एकदम विकराल क्रोध की ज्वाला भभक उठी।

"क्या है ? रमणीक ! चोर !" कहकर वे उठ खड़े हुए; पर प्रोफेसर के कोमल हृदय के लिए इतना गुस्सा बहुत था। पास की कुर्सी पर बैठकर वे रोती आवाज़ में बोले—"अरे तू और ऐसा नमक-हराम ! हे भगवान् !"

"अरे पर है क्या ! मैं तो तुम्हारे लिए दवा लेने गया था।" मैं ने तो इस आक्षेप को न समझकर आश्चर्यपूर्वक कहा।

"दवा कैसी ?"

"अनुसूया भाभी ने कही थी सो।"

"पर अनुसूया है कहाँ ?"

"यह तुम्हें पता होगा कि मुझे ? मैं तो बाहर से चला आ रहा हूँ। मुझे क्या मालूम ?"

मैं जैसे कोई विचित्र बात कह रहा होऊँ, इस प्रकार मेरी बात न मानते हुए प्रोफेसर ने आँखें फाड़ीं।

"क्या तुम्हारे साथ नहीं गयी ?"

"मेरे साथ क्यों जाती ?"

"तू उसे लेकर भाग गया था न ?"

"भाग कहाँ जाता ?"

"तो फिर कहाँ गयी ? रमणीक ! दिल्लगी न कर। अनुसूया कहाँ है ? तू ही उसे ले गया है—"

"अरे पर मैं कहाँ ले जाता ? क्या पागल हो गये हो ? और मैं भगा ले जाता तो फिर वापस क्यों आता ?"

"तो फिर यह क्या है ?" कहकर उन्होंने दो कागज मेरे सामने किये जिनमें से एक पर टाइप किया हुआ था। उसमें लिखा था :—

"अपने मित्र से सावधान ! अपनी पत्नी को सुख न दोगे तो दुःखी होगे।"

"यह पत्र कल डाक से आया है।"

"तुमने मुझसे बात की उसके पहले ही ?"

"हाँ," कल जो गम्भीर बात करने प्रोफेसर आये थे, उसका कारण उन्होंने मुझे अब समझाया। "यह दूसरा देखो !" कहकर उन्होंने मेरे सामने दूसरा पत्र रख दिया। वह अनुसूया का लिखा था। उसमें लिखा था —

"प्यारे प्रोफेसर,

आपको पुस्तकें बहुत प्यारी हैं, और मुझे आपका साथ बहुत अच्छा लगता है। पर यह दोनों साथ नहीं चल सकते। आपको मौज-शौक नहीं भाता—और मुझे उसके बिना अच्छा नहीं लगता। इसलिए अन्तिम प्रणाम !

आपकी,

अनुसूया।"

"यह कहाँ से मिला ?"

"आज सवेरे मेरी मेज़ पर पड़ा था ?"

"सचमुच ?"

प्रोफेसर के दिमाग में कोई नया प्रकाश आया। वह यकायक उठ खड़े हुए। उनका मुख गम्भीर हो गया। "रमणीक, मैं समझ गया। वह गयी। उसने आत्मघात कर लिया।" उन्होंने कहा।

"कल के रंग-ढंग से तो अनुसूया का कोई ऐसा विचार नहीं प्रकट हो रहा था, पर किसी तूफान का आभास मिल रहा था। यह पत्र तो मरनेवाले व्यक्ति का नहीं, मज़ाक करनेवाले का लिखा लगता है।" मैंने प्रोफेसर को कहा। पर वे तो माथे पर हाथ रखकर दुःख की मूर्त्ति

के समान बैठ गये; और मेरी बात पर ध्यान दिये बिना आँखें डुलाने लगे।

"तू नहीं समझता रमणीक! वह तो स्वर्गलोक गयी! मैं गधा हूँ —आज तीन वर्ष होने आये, पर मैंने न तो उससे बातचीत की, न उसे सुख दिया—पहनने-ओढ़ने को भी कुछ नहीं दिया। मैं पशु हूँ। मेरे पढ़ने में ही लगे रहने के कारण वह हाथ से निकल गयी।"

"अरे ज़रा धीरज तो धरो। मुझे तो मज़ाक.....!"

"अरे मूर्ख; यह मज़ाक नहीं है।" ऐसा जानता तो मैं अपने अध्ययन-कक्ष को आग लगा देता। ओ, मेरी अनुसूया!" कहकर वह रो पड़े।

"अरे ओ.....!" उसी ढंग से जवाब देती, अट्टहास करती, उछलती-कूदती अलमारी के पीछे से निकलकर अनुसूया प्रोफेसर के कन्धे पर आ गयी। प्रोफेसर ने आँखें उठायीं। तुरन्त अनुसूया का हाथ उनकी आँखों पर पहुँच गया और वह पीछे से मेरी ओर देखकर आँखें नचाने लगी।

"कौन अनुसूया?" फटे गले से रोते और हँसते हुए प्रोफेसर ने पूछा। अनुसूया ने जवाब नहीं दिया। धीरे-धीरे मानो डरते-डरते प्रोफेसर ने आँखों पर रखे सुकोमल हाथों का स्पर्श किया—और हँस पड़े।

"अनुसूया! छोड़।"

"ना—आ—आ।"

"तू कहाँ गयी थी?"

"मर गयी थी!"

"सच बोल! मैं तो घबरा गया था।"

"तुम्हारा भाग्य।"

"बता तो सही, कहाँ छिपी थी। यह उपद्रव क्यों किया? तुझे मालूम है कि मैं तो जीते-जी ही मर गया था?"

"किसलिए ? अपनी सौत तो मैं तुम्हें सौंप गयी थी !"

"सौत कौन ?"

"तुम्हारी पुस्तकें।"

"भाड़ में जायँ पुस्तकें। मेरी आँखें छोड़ ! मेरा तो दम घुटा जा रहा है।"

"मेरा तीन वर्ष तक दम घोटते रहे सो ?"

"उसका दण्ड दे रही हूँ बदमाश !" बन्द आँखों की दशा में ही प्रोफेसर अनुसूया को पकड़ने का प्रयत्न करने लगे; पर अनुसूया उनकी उस्ताद थी।"

"नहीं, अभी तो एक बात बाकी है !"

"क्या ?"

"मैं जैसे कपड़े पहनाऊँ वैसे पहनने पड़ेंगे। जहाँ घूमने ले जाऊँ वहाँ जाना होगा। मैं कहूँ तब तक मेरे पास बैठना होगा।"

"अरे वाह रे मेरे मास्टर !" कहकर प्रोफेसर ने ज़ोर से हाथ खींचा और अनुसूया को कसकर पकड़ लिया। बहुत दिनों की तरसी बेचारी अनुसूया उनके आलिंगन में आ गयी। जैसे दो प्रचंड पर्वत-शृंगों पर सुधाधर—चन्द्र चमक रहा हो, अनुसूया का रसीला मुख-मंडल प्रोफेसर के हाथों में शोभायमान हो गया। मैंने समझा कि मेरा काम हो चुका, इसलिए मैं वहाँ से चुपचाप बाहर चला आया।

अब आपने प्रोफेसर को देखा है ? उनके शिष्यों का कहना है कि अनुसूया अब तो उनकी नकेल सदा अपने हाथों में रखती है।

एक पत्र

"मेरे स्वामी ! मरण-शय्या पर पड़ी-पड़ी एक बार फिर तुम्हें मस्तक नवाती हूँ। यह पत्र न लिखती। हज़ारों बार कही गई हृदय-बेधक बातें कोई असर न डालतीं; पर अब क्या होगा ? नहीं होगा, इसका मुझे विश्वास है; किन्तु अपने विचार, अपने अनुभव प्रकट करने से मैं दुःख से छूट जाऊँगी; और उससे तुम्हारी किसी भावी पत्नी को सौभाग्यवश दिमाग में कुछ सद्बुद्धि आयेगी तो जो दशा मेरी हुई वही उसकी न होगी और मेरी तरह अल्पावस्था में वह काल की शरण में न जायगी।

"अपनी सोलह वर्ष की ज़िन्दगी में मुझे बहुतेरे दुःख झेलने पड़े। वे दुःख किसने दिये, सो भगवान जाने। पर एक बार तो मुझे कहना पड़ेगा,—लाज-शर्म छोड़कर अपने बड़े-बूढ़ों की मर्यादा छोड़कर कहूँगी कि यदि इस दुःखके लिए कोई ज़िम्मेदार है और इसे मिटा सकता था तो वह मेरे देवता, मेरे स्वामी तुम्हीं हो। तुमने मेरा हाथ पकड़ा था; दुनियाँ ने तुम्हें एक अनुभवहीन स्त्री दी थी; पर तुमने उसका कुछ विचार नहीं किया—मेरी यह दशा हो गयी—मेरा प्राण जाने, हत्या होने का समय आ गया।

"वे दिन याद हैं जब मैं आपके यहाँ आई थी। प्रेमी माता-पिता की लाड़ली होकर भी मैं उनकी भावना को त्याग कर तुम्हारे लिए आतुर रहती थी। विवाह के पहले भी स्कूल जाते समय जब मेरी नज़र

तुम पर पड़ती तो मेरे हृदय में कुछ अभिनव भाव उठते थे; मुझे ऐसा लगता कि तुम्हें कब मिलूँ ? कब तुम्हारी सेवा करके जीवन सफल करूँ ? पीछे तुम मुझे अनेक दोष देते और अपने प्रति बिना चाह की होने का क्रूरतापूर्ण आरोप मुझ पर करते। अब क्या बनेगा। हिन्दू-संसार में पति और भगवान् में पति की प्रभुता बड़ी है। बचपन से ही छोटी बच्चियाँ पतिदेव की आराधना करने लगती हैं। अन्तर केवल यह है कि यह देव, देवाधिदेव ईश्वर से भी बड़ा आडम्बर तो रखते हैं, पर भक्तवात्सल्य बहुत कम रखते हैं।

"जब मैं तुम्हारे यहाँ आई तो कितनी छोटी थी ? विवाह के एक महीना पहले तक स्कूल जाया करती थी; निर्दोष हरिणी की भाँति स्वच्छन्द और आनन्द से कूदती थी। सास का रोब और स्वामी की गुलामी—ये दोनों शब्द मेरे कानों में नहीं पड़े थे; छः मास में मेरा मन कितना अवरुद्ध हो जायगा और मेरे हृदय में कितने घाव हो जायँगे, इसका मुझे स्वप्न में भी खयाल नहीं था। अगले दिन से ही मेरे निर्दोष मन को खट्टा-तीखा बनाने की बातें कही गयीं। मैं कुछ भी करती या कहती तो मेरे माँ-बाप के बारे में चर्चा करने की क्या आवश्यकता थी? मुझे कोई शऊर-ढंग न होता तो सासजी का कर्त्तव्य था कि वे मुझे सिखातीं। क्या मैं राक्षसी हूँ ? क्या लड़के को माँ-बाप के प्रति आदर-भाव होता है तो लड़कियाँ अपने जानते अपने पूज्य माता-पिता के प्रति कुछ भी चाह नहीं रखतीं ? अन्य कोई तुम्हारे माँ-बाप के प्रति दुर्वाच्य कहे तो तुम तो उसे तमाचा लगा सकते हो; पर निर्दोष बालिका को अपने पूज्यों पर पड़ते कुवाक्य के प्रहार सुनने ही पड़ते हैं, मन अकुलाता है, फिर भी उसे दबाना पड़ता है, हृदय रोता है फिर भी उसे रोकना पड़ता है।

"दो-तीन महीने में कठिन कलेजा करके जब यह सुनने की आदत पड़ गयी, तो नयी खूबी शुरू हो गयी। प्यारे ! तेरह वर्ष की अवस्था में मुझे क्या सूझता ? पीहर में पली नादान लड़कियों को तुम्हारी

रीति-नीति कहाँ से आती ? जिस तरह तुम्हारी बहन तुम्हारी माँ को प्यारी थी उसी तरह मैं भी अपनी माँ की लाड़ली थी। उन्हें मेरे कोमल अंगों की आवश्यकता थी। बीस वर्ष की लड़की ज़रा भी काम करने में शिथिल होती है, पर तेरह वर्ष की बहू का शरीर सारे घर का काम सँभालने में समर्थ होता है।

"क्या हिन्दुस्तान में सास और पति के मन में न्याय-बुद्धि का ज़रा भी अंकुर नहीं होता ? मेरा भी शरीर था, कोई लक्कड़-पत्थर नहीं था। फिर सारे दिन की मेहनत-मज़दूरी के बाद पति के रूप में तुम्हारी आवश्यकताएँ क्या थीं ?

"मैं सारी ज़िन्दगी चुपचाप सहन करती रही, पर अब बोलूँगी। क्या तुम्हें यह पता नहीं था कि मैं भी नादान अशक्त बालिका थी ? सारे दिन गधी की तरह काम करती—न सोती, न बैठती। तुम बॉल खेलकर आते, ऑफिस हो आते। तुम्हें क्या होना था ? हम घर में ही सड़ती रहें ? सारे दिन मज़दूरी करके, पग-पग पर गाली खाकर, सारे घर का पेट भरने का सामान करके, दिन-रात असन्तोष में जीवन बिताते हुए, थक-माँदकर दो प्रेम के शब्द सुनने की आशा से जब तुम्हारे पास आती तो तुम्हारे मुँह से प्रेम का एक भी शब्द न निकलता। साधारण चीज़ चाहिए तो भी तुरन्त उठकर हाज़िर रहती और परिवार के लिए तुम्हारी बातें सुनती। मर्द होकर भी ऑफिस में बैठे-बैठे तुम्हारे पाँव दुखते और हमारे निर्बल हाथ उन्हें दबाते। तुम्हें पसीना हो तो आधी रात को भी पंखा चलाना पड़ता। क्या उस समय तुम्हारे मन में यह बात भी नहीं आती थी कि तुम्हारी अपेक्षा अधिक कोमल बालिका यह शारीरिक दुःख कैसे सहन करेगी ? पर यह विचार कहाँ से आये। मैं तो दासानुदासी ठहरी।

"बहू तो घर की एक बिल्ली है। बिल्ली भी अच्छी है कि दोनों वक्त ठीक से खाती और समय पर सोती है। तुम मर्दों को हमारे दुःख का क्या पता ? अधिकांश समय तो ऐसे ही बीता कि सारे दिन

अथक परिश्रम से काम करके पेट की नस-नस दुखती रहती, तो भी सोने को कौन कहे, बैठने को भी अवकाश न मिलता ? इस दुःख में भी तुम्हारी सेवा की है; इधर-उधर चुपचाप निद्रादेवी की शरण भी लेनी ही पड़ती थी। उस समय तुम्हारी कड़ी बातें, झिड़की-धमकी और कभी-कभी दो-चार प्रहार भी सहन करती; और आँसू गिराना भी अपराध हो जाता।

"पीहर जाने पर भी प्रतिबन्ध; सास सदा कोप करती; और तुम सदा अपना स्वामीत्व चलाते रहते—अत्याचारपूर्ण और बेपर्वाही-भरा स्वामीत्व; यह सब तुमने पन्द्रह वर्ष की लड़की को सहन कराया। मेरे समान हज़ारों ही सहन करती रही हैं, इससे मैंने भी वैसा ही किया।

"भूल-चूक से एक दिन मेरी माँ ने मेरे बारे में कोई बात कह दी। वह बात उड़ती हुई तुम्हारी माँ के कानों में पड़ी तो उन्होंने बात का बतंगड़ बनाकर मेरे विरुद्ध तुम्हारे कान भर दिये। उस रात तुमने मुझे पीटा। वह दिन याद है ? फटती छाती पर आँसू बरसाकर मैंने मौत की कामना की थी। इस प्रकार सारे दिन नदी से पानी भर लानेवाली, पुष्ट पर जड़बुद्धि कही जानेवाली अबलाएँ यह सब सहन करती हों तो ठीक; किन्तु पढ़ी-लिखी सहृदय स्त्रियों से यह कैसे सहन हो सकता है ?

"यदि तुमने मुझे स्नेह दिखाया होता—खिलाने-पिलाने की मौज-शौक पूरा करानेवाली स्त्री की ओर कुछ भी दया की होती, कुछ भी मेरे प्रति चाह, सहनशीलता या न्याय दिखाया होता, तो संसार ने तो तुम्हें मेरे शरीर का स्वामी बनाया था, मैं तुम्हें अपने हृदय का स्वामी बनाती—तुम्हारी सृष्टि में फूल बिछाकर सुख की सीमा का अनुभव कराती। पर मेरे मन-की-मन में ही रह गयी। तुम्हारे पल्ले पड़कर न तो न्याय मिला, न स्नेह या सुख। मेरा हृदय तिल-तिलकर छीजता गया, शरीर सूख गया और आखिर तुम्हारे शब्दों और कृत्यों से ही आज मर रही हूँ।

"एक दिन तो तुम्हें स्वार्थ के अतिरिक्त कोई और बात करनी थी ?

शुद्ध प्रेम का स्वाद एक पल तो चखाया होता ? एक बार तो भोजन कर चुकने पर यह पूछ लिया होता कि तुम्हारे लिए भी कुछ बच गया है या नहीं ? एक-दिन तो साथ बैठकर कुछ रसिकता, कुछ ऊँचे विचारों का ख़याल किया होता ? पर ऐसी आशा व्यर्थ थी। केवल खाते-पीते, पेट भरते हुए ज़िन्दगी गुज़ारने से ये विचार कहाँ से आते ? वास्तविक सतियाँ अगले जन्म के लिए वही पति माँगा करती हैं। मैं भी माँगती; पर क्या उसकी योग्यता तुमने दिखायी ? वैसी सतियों के वैसे ही पति हुआ करते थे। इस संसार से विदा होने के बाद भगवान् फिर तुम्हारा साथ न दें।

"सासजी से कहना कि फिर कोई पढ़ी-लिखी स्त्री घर में न लायें।

अभागिनी—"

गौमति दादा का गौरव

समानता की बात करने में तो सभी शूर हैं। पर क्या प्रजातन्त्र की बातें करने से हम अपना कुलाभिमान और जात्यभिमान छोड़ दें? नहीं। यह दोष भी हो तो प्रशंसनीय है—महान् मनुष्य का अन्तिम कलंक है। तो फिर सुमतिशंकर का परिवार उस दोष से भूषित हो तो क्या हर्ज?

आज सभी जगह क्या है? और लोग तो दो-चार पीढ़ी की बातें करते हैं; पर सुमति तो शुद्ध ऋग्वेदी, आश्वलायनी शाखा का तथा अजेयस गोत्र का उच्च अस्पर्श्य ब्राह्मण ठहरा! जब हम उसके वंश-परम्परा का गौरव देखते हैं और जब वे दिन में तीन बार नाम और कुल न भूलने के लिए 'अत्रेयसगोत्रोत्पन्नोहं' कहकर अनुसूया के ही पेट से अपने वंशधरों के निकलने का पक्का प्रमाण देते हैं, तो जिस प्रकार किसी नदी के धरती में होकर अथवा प्रच्छन्न रूप में बहती होने और अन्ततः पर्वत से उसके उद्गम होने की बात माननी पड़ती है, उसी प्रकार वंश-वृक्ष में भटकते-खोजते अन्त में हम मूल-पुरुष अत्रि को पकड़ पाते हैं। जब यह अत्रि ब्रह्मा, विष्णु और महेश को खिलानेवाले हों, और इस प्रकार जब ब्रह्मा तक का अटूट प्रमाण ठीक हो, तो फिर किसका अख्तियार है कि सुमतिशंकर के कुलाभिमान को ठीक न कहने का साहस कर सके?

इस शुद्ध वंशवृक्ष के आगे चीन के पदभ्रष्ट राजाओं का वंश-गौरव

भी व्यर्थ बन जाता है। उस पर भी यदि सुमति को कोई अत्रि-सम्बन्धी बात करता सुने, तो उसे यही लगेगा कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश को अनुसूया गोद में खिलाती रही होंगी और सुमति का कोई पूर्वज उनके उस पराक्रम को देखा करता रहा होगा। अब जब किसी शुभ प्रसंग पर सुमति के घर सप्तर्षि—सात सुपारी भेजकर कोई निमन्त्रण देता तो सुमति के चाचा विमतिशंकर की छाती एकदम फूल उठती, अत्रि-रूपी सुपारी को वे चन्दन के चार अधिक छींटे और फूल की दो मोटी पंखड़ियां चढ़ाये बिना न रहते; इसके पश्चात् तो वे सामने किसी गम्भीर बुद्धिवाले को देखते तो उसे 'अत्रि-सुपारी' दिखाकर 'ये हमारे पूर्वज' हैं, कहकर सुपारी को आँखों से लगाते।

पर यदि कुल-गौरव का कारण इतना ही होता तो उसमें कोई नयी बात न होती, क्योंकि ब्रह्मा के ऋषि-पुत्रों से ही भारत के ब्राह्मणों की उत्पत्ति हुई है। दूसरे देशों के लोग तो ब्रह्मा की अँगुली से उत्पन्न पुत्रों से हुए थे; और हमारे भूदेव सीधे ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुए हैं, यह बात सिद्ध है। किन्तु सुमतिशंकर के कुटुम्ब के गर्व के और भी कारण थे, वे और उनके कुटुम्बी उसे शायद ही प्रकट करते थे; नहीं तो अपने मन में ही रखते थे। उनके प्रत्येक वंशज के नाम के साथ 'मति' जुड़ा होता था, कोई सुमति था तो कोई विमति, और कोई धीरमति। उनके पिता का नाम था शंकरमति।

इसका कारण यह था कि उनके पूर्वजों में 'गौमति' नाम के कोई बड़े प्रतापी पुरुष हो गये थे, और वह ऐसा व्यवहार करते थे जैसे उनका वंश और सभी से ऊँचा हो। ये इस पर बहुत इतराते और रोब दिखाते थे। उनके काका जाति में, विवाह-मण्डप और श्मशान में—शादी-गमी में सर्वत्र आगे-आगे चलते थे। उनकी लड़कियों को दूसरों के साथ खेलने देने का प्रबल निषेध था। स्कूल में अध्यापिकाओं को आदेश था कि खबरदार! यदि हमारी लड़कियों को दूसरी लड़कियों के साथ बैठने और घूमने दिया तो! इसका कारण यह बताया जाता

था कि वे "गौमति" से पैदा हुई थीं। उनकी चाल-ढाल और व्यवहार सबसे अलग था।

"मैं गौमति से पैदा होऊँगा तो अमुक कार्य करूँगा ही" आदि कहने में इस वंश के लोग गौरव का अनुभव करते। 'गौमति' के कुल को न लजानेवाली धाक बढ़ाने की वे पूरी चेष्टा प्रदर्शित करते थे।

सुमति छोटा था, तभी से उसे इस बात की चिढ़ थी कि 'गौमति' कुलोत्पन्न होकर भी उनमें वंश-गौरव कम था। उसे यह नहीं समझ में आता था कि अमुक लड़की के साथ न खेलने और कन्या-पाठशाला में और लड़कियों के साथ न बैठकर अलग बैठने का, उनके साथ चना-कुरमुरा खाने और बरसात में न खेलने का निषेध क्यों था। उसकी इस समझ पर धीरमति और हरमति उसे बहुत धमकाते और "गौमति-कुल-कलंक" कहकर उसको समझदार बनने के लिए चेतावनी दिया करते थे।

इस घर की स्त्रियों में फूफी हरमति में अपना कुलाभिमान बहुत सतेज था। वह बड़ी साहसी थीं। सात वर्ष तक वह अपनी सास और पति से अपने वंश की उच्चता के बारे में झगड़ा करती रहीं, फिर भी उन लोगों की बुद्धि में 'गौमति' कुल की महत्ता न जम सकी, इसलिए कुल-दीपिका हरमति फूफी ससुराल के छोटे वंश के लोगों में न रहकर पति के रहते विधवा-सी बनकर जीवन के शेष दिन पीहर में बिताने के आग्रह पर दृढ़ हो गयी थीं। अनेक बार हरमति से जब सुमति कोई ऐसा-वैसा प्रश्न कर बैठता तो पूछते ही फूफी का मिज़ाज बिगड़ जाता। लड़के की कुबुद्धि का नाश करने के लिए वे ईश्वर से याचना करने के लिए अपनी आँखें आकाश की ओर उठातीं और धीमी आह के साथ पूजा की कोठरी में चली जातीं। ऐसा करने का एक बड़ा कारण था।

पूजा की कोठरी में कुछ अद्भुत रहस्य था। 'गौमति' का नाम लेते ही सबकी दृष्टि उनकी ओर जाती—मानो 'गौमति दादा' वहाँ सशरीर बैठे हों, इस प्रकार का भय लोगों के हृदय में बैठ जाता, और

वर्ष में एक बार वैशाख बदी चौदस को घर के बड़े-बूढ़े एकत्रित होकर और बच्चों की कोठरी में घी के दीपक सँजो पूजा की कोठरी में जाकर नैवेद्य करते थे।

सुमति को यह सब देखने की बड़ी उत्सुकता होती; पर काका की आज्ञा भंग करते भी वह डरता था। जब वह बड़ा हुआ तो उससे कहा गया कि पूजा की कोठरी में 'गौमति' दादा के पहने वस्त्र, मुकुट और शृङ्गार-सामग्री हैं। परिवार में यह किम्वदन्ती प्रचलित थी कि जब तक उनके वस्त्रालंकार अक्षुण्ण रहेंगे तब तक इस कुल की महत्ता में कभी बाधा नहीं आयेगी। जाति के लोग चाहे जो कहते; पर उनमें भी कुछ ऐसी दन्तकथाएँ प्रचलित थीं, और इससे 'गौमति कुल-तिलकों' को बड़ी प्रतिष्ठा मिलती और यजमान-दक्षिणा भी अच्छी देते थे। धीरे-धीरे किसीने सुमति को समझाया कि वह जब बाईस वर्ष का पूरा हो जायगा तभी 'गौमति' दादा की वस्त्रभूषा देखने का सुअवसर प्रत्येक लड़के-लड़की को मिलेगा।

सुमति ज्यों-ज्यों बड़ा होने लगा त्यों-त्यों ऐसा प्रतीत होने लगा कि वह भी कुल-दीपक बन जायगा। उसका सिर आकाश पर चढ़ गया, उसका स्वभाव अकड़ गया; वह भी 'गौमति' से पैदा होने की दुहाई बार-बार देने लगा। बाईस वर्ष का हो जाने तक तो पूजा की कोठरी में जा नहीं सकता था—पर कल्पना का घोड़ा तो दौड़ा ही लेता था—कैसा रेशमी परिधान होगा, कैसे चमकते जवाहरात, कैसा सुन्दर शिरपेच और कैसी वैजन्तीमाला होगी। इस प्रकार के विचार वह करता। उसने मन में कल्पना की कि 'गौमति' दादा विक्रमादित्य की अपेक्षा तो कुछ ऊँचे ही रहे होंगे। अंग्रेजी पढ़ने लगा तो मैट्रिक में पढ़ाये जानेवाले एक-एक रुपये के भारतीय इतिहास के पन्नों में उसने 'गौमति' दादा का नाम खोजने की बड़ी कोशिश की; क्योंकि उसकी समझ में एक-एक रुपये के इतिहास तो अद्भुत होते हैं। फिर श्रद्धा

कुछ घटी तो स्कूल की लाइब्रेरी से मिल का 'भारतीय इतिहास' घर लाकर उसमें अपने 'गौमति' दादा को ढूँढ़ने लगा।

एक यजमान की खोटी सलाह से सुमति को कालेज भेजने का निश्चय हुआ। बोर्डिंग में भ्रष्टाचार होने के कारण सुमति को यजमानों के यहाँ रख दिया गया, और अपनी जाति एवं कुल की शुद्धता बचाये रखने के साथ पेट के लिए उन्होंने अधर्मपूर्ण पाश्चात्य शिक्षा लेनी आरम्भ कर दी।

अंग्रेज़ी शिक्षा की अशुद्धता ने सुमति के पवित्र 'गौमति' स्वभाव को बिगाड़ दिया। धीरे-धीरे 'स्वतन्त्रता' 'व्यक्तित्व' जैसे पाश्चात्य उपद्रवपूर्ण शब्द उसके कानों में गूँजने लगे और गंगा की भाँति वह नीचे-ही-नीचे की ओर बहने लगा।

एक विशेष गुप्त बात यह है कि एक बार तीन दिन तक लगातार उसने सन्ध्या नहीं की। एक बार कालेज की 'डिबेटिंग सोसाइटी' में मनुष्यमात्र की समानता के विषय में बोलने का निर्लज्जतापूर्ण कृत्य कर डाला, और अधमता की सीमा पर तो तब पहुँचे जब उन्होंने एक बार यहाँ तक कहने का साहस कर डाला कि हम तो अपने बाप-दादाओं की बड़ाई करके ही जीते हैं और यह भी स्वीकार कर लिया कि यह हमारी क्षुद्रता है।

सुमति के 'अधःपतन' की हद हो गयी। 'गौमति' कुल में यह अंगार पैदा हुआ। गौमति की आत्मा स्वर्ग में, या जहाँ-कहीं भी थी, काँप उठी, ब्रह्मलोक में अत्रि-ऋषि के हाथ में से गौमुखी गिर गयी। उनकी अर्द्धांगिनी अनुसूया की आँखों में से आध्यात्मिक आँसू गिरने लगे।

ज्यों-ज्यों यह लड़का बिगड़ता गया त्यों-त्यों उसके मन में पूजा की कोठरी का रहस्य मालूम करने की अकांक्षा बढ़ती गयी, क्योंकि कहीं भी ऐतिहासिक हवाला न मिलने से ऐसा लगता था कि वह कोई ठाकुर या ज़मींदारमात्र थे। बीस और बाईस वर्ष के बीच का अन्तर उसका प्राण लेने लगा। अन्ततः बाईस वर्ष पूरे होने को आये। काका

का शरीरान्त हो गया था इसलिए उसने वह गौरवमय भेद प्रकट करने के लिए फूफी से कहा। चाहे जिस विचार से सही, पर सुमतिशंकर का हृदय उछल रहा था। मन पर गौरव का दबाव आगया।

शुभ दिन आने पर वह गाँव पहुँचा, घर की बहुएँ पीहर भेज दी गयीं। बच्चे पड़ोसी के घर बैठा दिये गये। दोनों फूफी और भतीजा चुपचाप "गौमति" दादा का परिधान देखने पूजा की कोठरी के पास गये। मान, कृतज्ञता, पितृभक्ति के चाव से बड़े परिश्रमपूर्वक अत्रि और अनुसूया की मानसिक आराधना की। जैसे "गौमति दादा" अन्दर सो रहे हों, इस प्रकार धीरे-धीरे तीनों भीतर गये। एक फूफी के हाथ में घी का दीपक था, दूसरी के हाथ में नैवेद्य। पूजा की कोठरी अँधेरी थी इसलिए उसमें कीड़े-मकोड़े भी थे। एक ऊँचे ताक में से एक फूफी ने एक सन्दूक निकाला।

सुमति के कान में रणशृंगी की-सी आवाज़ आई। बाईस वर्षों के स्वप्न का केन्द्रस्थान देखने का आज समय आ गया। उसके हाथ काँपे, मुँह सूख गया। एक फूफी ने नीचे लाकर सन्दूक उसीमें बँधी हुई चाबी से खोल लिया। दोनों फूफियों ने इस गर्व के साथ सुमति को सन्दूक देखने को कहा जैसे यह खज़ाने से भरी बड़ी तिजोरी ही हो। अँधेरे में सुमति ने नीचे देखा, सचमुच मखमल की पोशाक थी जिस पर चाँदी के-से चकत्ते लगे थे। ऐसा प्रतीत हुआ कि जरी और शिरपेच का स्वप्न असत्य सिद्ध हो रहा है। चाँदी के चकत्ते पर कुछ कतरा हुआ दिखायी दिया जिस पर अंग्रेज़ी में 'सूरत' लिखा था।

"धीरमति फूफी! बाहर निकालकर देखें, इस पर कुछ लिखा है?"

"नहीं नहीं, बाहर कैसे निकाला जा सकता है?"

"देखो तो सही, 'गौमति दादा' कौन थे, यह तो देख लेना चाहिए। हमें निश्चय तो हो जाय।"

देखना? यह अंग्रेज़ी शिक्षा का मर्ज़ है। फूफियों ने 'हाँ—ना' करते-करते अन्त में स्वीकृति दे दी। सुमति के मन में कुछ-कुछ विचार

आया। सम्भव है 'गौमति दादा' सूरत के दीवान रहे हों! हो सकता है सूरत उन्हें इनाम में मिला हो। ऐसा हुआ तो उसके लिए दावा करके उसे वापस भी लिया जा सकता है—भले ही इसके लिए विलायत तक लड़ना पड़े; पर हाथ से गया हुआ अधिकार तो मिल जायगा। यह सोचकर उन्होंने सन्दूक की चीज़ें निकालनी शुरू कीं। बहुत सँभाल-कर उन्होंने मखमल के कोट पर रुपहले अक्षरों में सिला 'सूरत' शब्द पकड़कर उठा लिया तो उस लिखावट के पूरे शब्द देखने में आये जो इस प्रकार थे:—

"सूरत कोठी के मि० हावर्ड हैमेल।"

सुमति बेहोश-सा हो गया। उसके हाथ से वह पोशाक गिर गयी। 'गौमति दादा' क्या करते थे, यह मालूम हो गया। होश सँभालने पर वह ज़ोर से ठठाकर हँस पड़ा।

फूफियाँ खीज उठीं; पर भतीजे का भ्रम भंग हो गया। दोनों का कुलाभिमान चूर हो गया।

× × × ×

रात को दो बजे फूफियाँ और भतीजे पिछले दरवाज़े से बाहर निकले। उन्होंने एक पोटली में उस वस्त्र के साथ चक्की का पाट बाँधा और पड़ोस के कुएं में 'गौमति दादा के गौरव' का विसर्जन कर दिया।

शामलशाह का ब्याह

प्रिय पाठक ! ज़रा धीरे से यह नाम पढ़कर यदि आप विद्वत्ता की सीढ़ी पर चढ़ कर महाकाव्य पढ़ने की आशा रखते हों, कविरत्न नरसिंह के पुत्र का इतिहास सुनने को तरसते हों, भक्ति का स्वाद चखकर ईश्वर का नाम सुनने का आपको उल्लास हो गया हो, तो मेरी इस कृति को बन्द कर रख दें।

मुझे अपनी गणना विद्वानों में नहीं करानी है—बेचारे गरीब शब्दों का सत्यानाश नहीं करना है। ऐसे अँधेरे में जहाँ रवि की पहुँच नहीं होती, कवि बनकर नहीं पहुँचना है। भक्त बनकर स्वर्ग जाना और वहाँ तैंतीस कोटि देवताओं को देख दिन-रात नमस्कार करते-करते अपनी गर्दन तोड़नी नहीं है।

मुझे तो एक सीधी बात कहनी है। बात भले ही सीधी-सादी हो, पर श्रेष्ठता में पूरी उतरे, ऐसी नहीं है। नरसिंह मेहता ने कौन-सा पुण्य किया था और हमारे शामलशाह ने क्या अपराध ? ऐसी तो कोई बात नहीं है। यह तो प्रजातन्त्र का युग है। गरीब भिखारी रईस की बराबरी का है। शराब पीकर गिरते मज़दूरों की विचार-गति पर से ग्लैडस्टन-जैसे की योग्यता निर्द्धारित होती है तो क्या हमारे लिए शामलशाह नरसिंह मेहता का लड़का उसके बराबर भी नहीं है ?

गत माघ मास में मैं बम्बई से अहमदाबाद जा रहा था। किस काम से ? इसका उत्तर देने से कोई लाभ नहीं। गाड़ी में मेरे साथ मेरे

एक पुराने दोस्त भी बैठे थे। देर तक हमने गपशप की, पान चबाये और नई-पुरानी बातें कह-सुनकर हँसी-मज़ाक किया। मेरे मित्र रुई की दलाली करते थे, इसलिए लिबास में भी कुछ कम न थे।

धीरे-धीरे गाड़ी एक स्टेशन पर आकर रुकने को हुई, इसलिए मेरे मित्र में कुछ जादू-भरा परिवर्त्तन होने लगा। बकुल-पंख-जैसी श्वेत बढ़िया धोती, कड़ी इस्त्री से चमचमाता अँगरखा; कसबी कोर का दुपट्टा और लाल कसुम्बी पगड़ी धीरे-धीरे बक्स से निकाली गयी और गाँडाभाई के शरीर पर शोभा देने लगी।

"क्यों गाँडाभाई, साँप की तरह तुम भी केंचुल बदल रहे हो—"

"हाँ भाई। इस गाँव के सेठ शामलशाह की शादी है। मैं उनका आढ़तिया हूँ इसलिए कोई फ़र्क़ थोड़े ही है? तुम भी चलो।"

"कौन मैं?" मैंने आश्चर्य से पूछा—"मैं तो तुम्हारे सेठ को पहचानता तक नहीं, उनका तो नाम भी मैंने आज ही सुना है।"

"इससे कोई हर्ज नहीं। सेठ ने तो सबको कहा है कि मित्रमण्डली सहित आइएगा। चलो तो सही, ज़रा मज़ा आजायगा। अहदाबाद में ऐसा कौन-सा बड़ा काम है?"

"काम तो ऐसा कोई नहीं, पर व्यर्थ पराये घर—"

"अरे पराया क्या, और अपना कैसा भलेमानस? कौन-सी लम्बी बात है? आज शाम को विवाह है, उसे देखकर सवेरे चले जाना।"

"अच्छा!" मैं विचार में ही था कि क्या करूँ कि इतने में गाड़ी स्टेशन पर आ लगी और गाँडाभाई को लेने के लिए आदमी आ गये।

"रणछोड़ भाई, आप मेरे साथी बन जाइए। मेरे सेठ को खराब न लगेगा।" गाँडाभाई ने कहा और मैं बिना न्यौते शामलशाह की शादी में शामिल होने का लाभ लेने के लिए उतर पड़ा।

सर-सामान उतारकर हम स्टेशन के बाहर हुए। "यह गाड़ी आपके लिए अच्छी रहेगी" गाँडाभाई को लेने के लिए आये हुए आदमियों में से एक ने एक छोटी-सी खुली बैलगाड़ी दिखाकर कहा—

उस गाड़ी में चार आदमी तो पहले ही से बैठे थे। तो क्या हम दो आदमी गाड़ीवाले की बगल में बैठेंगे, ऐसा मुझे विचार आया। आख़िर किसी भी तरह ठुँसकर हम सात जने बैठ गये। गाड़ीवाले ने हाथ में सोंटी ले, बैल की पूँछ मरोड़कर उसे अपने शुभाशीष की यह बानगी सुनाई—"हत्तेरा मालिक मरे" और गाड़ी चल पड़ी। ठुँसकर तो बैठे ही थे, इधर विषम रास्ते की ऊबड़-खाबड़ में गाड़ी हमको लेजाने लगी तो नाक टूटने से मुश्किल से बची और पगड़ी बड़ी कठिनाई से सँभल सकी।

आखिर मेहमानों के उतरने की बारी आयी और गाड़ी खड़ी हुई। गाड़ीवाले ने हमें उतारकर अपनी राह ली और हमें लाने के लिए स्टेशन पर गये हुए लोग अन्तर्धान हो गये। सामान हाथ में लिए हुए हम स्वागत करनेवालों की बाट जोहने लगे। हम किस दिशा में जायँ, इसका भी निर्णय नहीं कर सके। सामने के मकान में से अनेक लोग पगड़ी पहने निकले, पर कोई जान-पहचानवाला नहीं मिला।

"गाँडाभाई, इस तरह कब तक तपस्या करनी होगी? मेरा तो बोझों हाथ दब रहा है। मकान के अन्दर क्यों नहीं चलते।"

"हाँ चलो," कहकर मान-भंग से आहत गाँडाभाई और मैं दोनों मकान में घुसे। मकान के फर्श पर एक झूले पर छः-सात सज्जन बैठे हा-हा, ही-ही करते गाना गा रहे थे। चार-पाँच जने फर्श पर ही बिछौना बिछाकर दोपहर की नींद लेने की तैयारी कर रहे थे। हमने सामान तो वहीं रख दिया और फिर ठहरने की जगह ढूँढ़ने लगे। पास की छोटी कोठरी में पाँच जनों का सामान पड़ा था। ऊपरी मंज़िल में कोई बीस सज्जन ठहरे थे जिनमें कुछ गप्पें हाँक रहे थे और कुछ पड़े-पड़े ऊँघ रहे थे। सारे मकान में देखा, एक आदमी के भी लेटने की जगह कहीं बाकी नहीं बची थी।

अन्त में हम फिर नीचे उतर आये और उसी तंग कोठरी में पहुँचे, पर वहाँ किसी ने हमसे बात तक नहीं की।

"गाँडाभाई! यहाँ तो सभी हमारी तरह भाड़े के टट्टू ही नज़र आते हैं।"

"हाँ भाई!' कह कर गाँडाभाई चुप रहे। बेचारे और क्या कहते?

"तो फिर एक काम करो। सामान इस कोठरी में ही डेरा डाल दें। सब भाड़े के टट्टू ही तो हैं। कोई पूछनेवाला नहीं है।" कहकर मैंने एक का बिस्तर, दूसरे का ट्रंक और तीसरे का झोला उठाकर एक कोने में डाल दिया और जगह बना ली। बाहर बैठे हुए लोग तुरन्त दौड़कर आये और हमारा साहस देख और हमें अधिकतर हकदार समझ उन्होंने जगह दे दी। फिर मैंने गाँडाभाई से परामर्श करके पेट-पूजा के लिए भी इसी प्रकार की कार्यवाही आरम्भ कर दी। एक आदमी को पकड़ा। थोड़ी दूर पर रसोई की तजवीज़ थी। सामने कुएँ पर स्नान कर हम बिना बुलाये रसोई में जाकर भोजन करने बैठ गये।

उस जगह पचीस आदमी पहले भोजन कर गये थे। भुरभुरे कड़े चावल देखकर यही नहीं मालूम होता था कि वह क्या है। पानी-जैसी दाल, रोंगटे खड़े कर देनेवाला शाक और बदबूदार घी से बना गीला लड्डू खाकर हम वापस अपने ठिकाने पर पहुँचे। फिर गाँडाभाई मुझे अपने सेठ के पास ले गये।

शामलशाह मोटे, वृद्ध, काले और एक गोल-मटोल सज्जन थे। उनके शरीर पर जैसे वारनिश-सी लग रही थी। शृङ्गार के सब सामान कर लिये गये थे। उनके मुख-मण्डल पर सुख की रेखा थी, हाथ में दर्पण लिये हुए वे अपनी मूँछ के बाल देख रहे थे, क्योंकि नाई उन्हें ख़िज़ाब लगाकर गया था।

"ओहो! कौन गाँडा?—आजा भाई। बस तेरी ही तो कसर थी।"

"नहीं जी! मैं किस लायक हूँ।....ये मेरे मित्र रणछोड़भाई हैं।"

"पधारिए-पधारिए! दुनिया में अच्छे लोग अब कहाँ रह गये

हैं ? इस समय तो भगवान की कृपा है। इसके पहले जब मेरी शादी हुई थी तो इस मकान में बारह आदमी भी नहीं आये थे। उस स्त्री के जीने से तो मरना ही अच्छा था।" कहकर सेठ ने पहली स्त्री को इस प्रकार याद किया जैसे डाक्टर मरे हुए रोगी का स्मरण बिल्कुल असंलग्न भाव से करता है।

"सच्ची बात है सेठ साहब ! विवाह शाम को है ?"

"अरे उस समरथ जोशी को कह तो दिया था। हर बार देर करा देता है।"

समरथ जोशी कुछ दूर पर बैठे-बैठे अपनी दक्षिणा सँभाल रहे थे। उन्होंने ऊपर देखकर कहा—"सेठ ! यह क्या मेरे बस की बात है ? फिर भी देखूँगा। एक बार भूल हुई तो हुई।"

"क्यों समरथ ! यह पाँचवीं बहू तो ला रहे हैं, अभी और कितनी बाकी हैं ?"

"नहीं यजमान, ऐसा मत कहिये। ललाट पर लिखा हुआ क्या कभी मिथ्या हो सकता है?" ज़रा हँसते हुए समरथ जोशी ने कहा।

इतने में बाहर सूरत से मँगाया हुआ बैंड (अंग्रेज़ी बाजा) आ गया और हम सेठ के पास से उस समय चले आये।

"गाँडाभाई ! सेठ कितने वर्ष के होंगे ?" मैंने पूछा।

"पचास से एक-दो वर्ष ज्यादा, कुछ अधिक नहीं हैं। उनके पिता साठ वर्ष की आयु में घोड़े चढ़े थे।"

तब तो अभी शामलशाह बाप की बराबरी ही नहीं कर सके हैं, तो सवाई कहाँ से करेंगे ? पर भगवान न करे इस स्त्री को कुछ हो जाय तो बाप-दादा की इज्ज़त बचाने के लिए यह सेठ सगाई किये बिना नहीं रहेंगे, ऐसा लगता है।"

"बहू की क्या उम्र है ?" मैंने पूछा।

"होगी पाँच-छः वर्ष की। यहाँ के देसाई की लड़की है। कुटुम्ब बहुतेरे खानदानों से बहुत ऊँचा है।"

"ऐसी बात है ?" कहकर मैं चुप रहा। नीचे आकर हमने कपड़े बदले। मैंने भी ज़रा दुपट्टा आदि लपेट कर सेठ की मान-वृद्धि की और फिर हम सब हवेली को गये। वहाँ वरघोड़ा* की धूमधाम चल रही थी। किसी नाटक-कम्पनी की कटी-फटी उतरी हुई पोशाक में सुशोभित बाजेवाले चाहे जिस तरह कान के पर्दे फोड़नेवाली आवाज़ पैदा करके अपनी होशियारी दिखा रहे थे। दूसरी ओर स्वदेशी बैण्ड था। आठ-दस ताशेवाले कपनी तानें तोड़ रहे थे। दो हींजड़े शहनाई की ताल पर नाच रहे थे। लोगों की भीड़ देखकर मुझे तो ऐसा लगा कि हममें स्वदेश-प्रेम अब भी बहुत प्रबल है—अपना ही संगीत अपने को अच्छा लगता है।

इतने में एक पास खड़े हुए सज्जन बोले—"शाबास सेठ ! खूब किया। चालीसगाँव से तो हींजड़े बुलाये हैं ! धन्य हो !" सेठ की हवेली के सामने छोटे-से चौगान में स्वच्छ वायु में दुर्गन्ध प्रसारित करती गंगा-जमनी मोरी के पास हम सब बैठ गये।

मालूम हुआ कि सेठ किसी वैवाहिक रस्म में व्यस्त हैं, क्योंकि थोड़ी-थोड़ी देर में ब्राह्मण 'हा, हा, हा, हा'। कर उठते थे। धर्म के अनुसार सेठ विवाह के योग्य हो गये और दक्षिणा प्राप्त हो गई। जो थोड़ेलोग थे वे बाहर निकले और वरराजा† के घोड़े को बुलाया गया।

ऐसा लगता था कि घोड़ा बड़े परिश्रम से खोजकर लाया गया है। सिकन्दर का ब्यूसेफेलस और नेपोलियन के जगत्प्रसिद्ध घोड़े को सेठजी के इस अश्व को देखकर लज्जित होना पड़ता। डान क्विकओट के रोज़ीनाएट से भी यह बढ़-चढ़कर था। इस घोड़े की एक विशेषता तो यह थी कि उसके एक ही आँख थी, और अवस्था अधिक होने के कारण बिना सवारी के काम में आये ही उसके मुँह से लार टपकती

---

* गुजरात में भी राजस्थान की भाँति वरघोड़ा की रस्म होती है।
† दूल्हा।

थी। उसको साज़ और घुँघरुओं से सजाया गया था, पर देखने से यही लगता था कि वह अब कुछ ही देर का मेहमान है। उसकी काठी और खड़े होने के ढंग से यह बात स्पष्ट प्रकट होती थी, कुछ मक्खियाँ भी बेचारे को तंग कर रही थीं, फिर भी वह शामल-शाह का भार वहन करने के लिए शान्ति, दृढ़ता और धीरता के साथ अपनी एकमात्र दृष्टि-शक्ति युक्त नेत्र मींचे खड़ा था।

सेठ आये। मुँह में पान का बीड़ा, आँख में काजल की मोटी रेखा। जरी के जामा-पगड़ी में चमचमाता भूगोल की भव्यतावाला शरीर, हाथ में नारिबल थामे। क्या सौन्दर्य था ! क्या छटा थी ! विदेशियों को कह देना चाहिए कि आकर देखो—है तुम्हारे यहाँ कला का ऐसा आदर्श ? चाहे जो हो, पर हम तो श्रेष्ठ के श्रेष्ठ ही हैं।

सेठ उसारे की कोर पर खड़े हो गये। घोड़ा उनके निकट लाया गया, पर या तो सेठजी को देखकर वह कालिका माता के स्मरण से बिदका हो, या सेठजी के विवाह को पवित्र भावना के विरुद्ध मानकर घोड़े के मन में भी उनके विरुद्ध सुधारक-विचार उमड़ पड़े हों अथवा स्वयं संन्यस्त अवस्था में आजाने के कारण सेठजी को वही मार्ग दिखा रहा हो, ज्योंही सेठजी उसारे की कोर की उँचाई पर से चढ़ने को हुए तो घोड़ा 'फूँ' की आवाज़ करके कन्धा हिलाने और आँख डुलाने लगा। सेठ अपने जीवन में विवाहों के अवसर पर थोड़ी ही देर के लिए घोड़े पर बैठने के अभ्यासी थे, इसलिए घोड़े के इस नृत्य से डरकर उन्होंने अपना उठा हुआ पाँव पीछे हटा लिया। घोड़े को पुचकार कर उन्होंने अनेक बार उस पर सवार होने का प्रयत्न किया, पर उसने अपना रुख न बदला। आखिर घोड़े को सँभालने के लिये, दो जने आगे खड़े हो गये और दो उसके पीछे, और वे सेठ से बोले—"चलिए सेठजी, अब कोई चिन्ता नहीं है—चढ़िए।"

सभी उपस्थित लोग एकटक सेठजी की ओर देख रहे थे। अर्जुन ने जिस समय द्रुपद की राज-सभा में मत्स्य-बेध किया था उस समय

उन्होंने भी इतनी एकाग्रतापूर्ण दृष्टि न डाली होगी जितनी लोग सेठजी के वरघोड़ा पर चढ़ते समय डाल रहे थे।

लोगों के आश्वासनयुक्त निश्चिन्तता के वचन सुनकर सेठजी साहस कर बैठे। उनके हाथों में नारियल था इसलिए साहस के प्रोत्साहन में आकर उन्होंने पहले की अपेक्षा अधिक ऊँचाई तक पाँव उठाकर वृद्ध अश्वराज की पीठ पर रखा। पर एक तो घोड़े की जाति और उस पर भी वृद्धावस्था, फिर क्या पूछना। उसने तुरन्त रुख बदल कर सेठजी की ओर मुँह कर दिया, और कान ऊँचे किये। सेठजी हड़बड़ा-कर घबरा उठे। उनके प्राण ब्रह्माण्ड के निकट जा पहुँचे। सेठजी ने जल्दी से अपना उठा हुआ पैर पीछे खींचा। सहसा ऐसा करते समय उनके हाथ से नारियल खिसक गया और पगड़ी उसारे की खम्बिया से टकराकर नीचे जा गिरी।

वरराजा का मुकट गिर गया। लोगों में हाहाकार मच गया—फिर कुछ लोगों ने इस पर ठहाके भी लगाये। सेठजी ने पहले ऊपर देखा—फिर आर्त्तभाव से लोगों की ओर देखा, तिरस्कारपूर्वक घोड़े की ओर देखा और अन्त में झुलक कर कीचड़ में जा पड़ी पगड़ी की ओर देखा—उन्होंने क्रोध में फिर आकाश की ओर देख कर मानो भगवान को कोसा। न जाने उन्हें क्या दिखाई दिया, पर एकदम ओठ चबाकर उन्होंने सारी भीड़ तक पहुँचनेवाली चीख़ के साथ कहा :—

"ऐं-ऐं-ऐं।"

सब लोग एक बार स्तब्ध-से हो गये। बहुतों ने मुँह में रूमाल लगाकर हँसी रोकी, मुझे ऐसा लगा कि सेठजी झेंप गये हैं। सेठजी की चीख़ का मतलब लोग न समझ सके। सेठजी ने रोने के-से स्वर में गृहदेवी का स्मरण किया; फिर बड़े परिश्रम से उन्हें ठीक-ठाक किया गया और चार सुदृढ़ बरातियों ने सेठजी को उठाकर अश्वराज पर बिठाया। मुझे ऐसा लगा जैसे घोड़े में द्वेषबुद्धि आ गई हो—उसकी आँख से ऐसा ही भाव टपकता था। सेठजी ने सवारी पर निकलते-

निकलते एक तलवार भी ले ली। अब उन्हें यह चिन्ता लगी कि कहीं नारियल गिर न जाय अथवा तलवार सरककर म्यान से निकल न पड़े। आख़िर बैण्ड के वाद्य और हिंजड़ों के नृत्य के ताल के साथ सेठजी के वरघोड़े की सवारी निकली।

अन्त में कन्या-पक्षवालों का घर निकट आया। वह मकान कुछ निचाई पर था, इसलिए वहाँ पहुँचने के पहले ढलान से उतरकर वहाँ पहुँचना होता था। ताशेवाले तान में थे, हिंजड़े गान में। जब ढलान शुरू हुई तो सेठजी का घोड़ा इस प्रकार खड़ा हो गया जैसे पर्वत पर फरिश्ता। घोड़ा अब आगे बढ़ने से विद्रोह कर रहा था। अब वह एक कदम भी आगे रखने को तैयार नहीं था। ऐसा लगता था कि इस सुधारक ज़माने का असर घोड़े पर भी पड़ गया है।

दो-चार जने आगे दौड़ गये और उन्होंने घोड़े की लगाम पकड़ कर आगे खींचना आरम्भ किया; पर घोड़ा तो जैसे कृत-निश्चय होकर वहीं डट गया था। सेठजी ने उतरने की इच्छा प्रकट की, पर लोगों ने कहा कि कहीं इस तरह वरघोड़े से भी बीच में उतरा जाता है ? दो-तीन आदमियों ने लगाम पकड़ी और एक ने पीछे से घोड़े को दो-तीन ज़ोर के सपाटे लगाये। घोड़े ने साहस छोड़ दिया और अपनी विद्रोहात्मक नीति बदल दी। त्याग-वृत्ति से मार सहन न कर सकने के कारण उसने चलना स्वीकार किया। अभी दो ही तीन कदम चला था कि सेठजी फिर घबराये। ढलान के कारण घोड़े की काठी पर आगे झुके। घोड़े के अगले पैर काँप उठे और उन्होंने अपना उत्तरदायित्व छोड़ दिया। गुरुत्वाकर्षण के प्रभाव से वे पाँव आगे को सरक पड़े और उसके साथ सेठजी का भारी शरीर भी अर-र-र धड़ाम करके नीचे गिर पड़ा।

स्वार्थी बराती यह दृश्य देख रहे थे; पर वे सहायता के लिए इस-लिए नहीं दौड़े कि उनके विचार में ऐसा दृश्य उन्हें फिर देखने को नहीं मिलेगा। आख़िर गिर पड़ने के बाद सेठजी को लोगों ने उठाया, पर अब कन्या-पक्षवालों का द्वार निकट आगया था।

वर-राजा के पहुँचने पर द्वाराचार की रस्म पूरी हुई। फिर वे चौरी पर पधारे। छोटी-सी गुड़िया-जैसी लड़की को उसका मामा उठाकर चौरी पर लाया। श्लोक पर श्लोक पाठ होने लगे। दूर, जहाँ मैं खड़ा था, समरथ जोशी पानी देखकर घड़ी गिन देख रहे थे और इधर-उधर के श्लोक बड़बड़ाकर सेठजी को सावधान कर रहे थे।

मुझे जोशी की स्थिति विचित्र-सी लगी। उसकी आँखों में जैसे जादू था, और उसकी जीभ ज़रा लड़खड़ा रही थी। मुझे ऐसा लगा कि जोशी बाबा ने 'विजया' की आराधना कर रखी है। शिवजी को प्रसन्न करने के लिए मांगलिक अवसर पर उन्होंने भंग-भवानी का सेवन किया था। उसी के नशे में वे चूर हो रहे थे। नशे में वे जो घड़ियाँ गिन रहे थे वे सभी काल्पनिक थीं, क्योंकि मैंने देखा कि कहीं कोई घड़ी लिखी नहीं थी। आखिर जोशी जी ने थाली सँभाली। उनके थाली बजाते ही बाजे बज उठे—शामलशाह सपत्नीक हो गये और उनकी लिप्सा पूरी हुई।

थोड़ी देर में आगे बढ़ने को जगह हुई तो मैं चौरी के निकट गया। कन्या सो गयी थी और उसकी माँ उसे गोद में लिये बैठी थी। इसके बाद सप्तपदी या भाँवर का अवसर आया जिसकी महत्ता पर हमारे विवाह के स्तम्भ खड़े किये गये हैं। मुझे इस धार्मिक चाव ने पुनीत कर दिया। मेरा तो आठ वर्ष की ही अवस्था में विवाह हो गया था और घरवाली अब भी ज्यों की त्यों है। विवाह के समय मेरी क्या चाह थी, यह मुझे याद भी नहीं है। मुझे आज उसका अनुभव हुआ है। पट्टे पर हाथ रख उसका सहारा लेकर सेठजी उठे। कन्या बड़े प्रयत्न से भी नहीं जगी। आखिर उसकी माँ उठी और गोद में कन्या को लेकर सेठ के साथ-साथ चौरी के आस-पास फिरी। इस प्रकार अन्त में पवित्र सप्तपदी पूरी हुई।

लिखने को तो अब भी बहुत है; पर स्थल की कमी है। मैं बाहर निकला तो जैसे भीलनियाँ नशे में गालियाँ दे रही हों, उसी प्रकार

वस्त्र, कण्ठ-स्वर, चाल-ढाल, और शब्दों की मर्यादा और शोभा रखे बिना चतुर ठकुरानी गिनी जानेवाली स्त्रियाँ गीत गा रही थीं। अब मुझमें और कुछ देखने की अभिलाषा नहीं रही थी, इसलिए मैं ठहरने की जगह पर गया और रात की गाड़ी का समय होते ही मैंने गाँडाभाई से कहा—"अब तो मैं अवश्य जाऊँगा।"

"पर रणछोड़भाई! सेठ को मिलकर जाओ। नहीं तो उन्हें अच्छा नहीं लगेगा। बाद में मुझपर नाराज़ होंगे।"

"अच्छा भाई!" कहकर मैं कन्या-पक्षवाले के यहाँ गया। सेठ के बारे में पूछा तो मालूम हुआ कि 'माता के कक्ष' में वर और कन्या पूजा में व्यस्त हैं। लोग भोजन करने की व्यवस्था में लगे थे इसलिए घर सूना-जैसा लग रहा था। मैं बताये हुए कक्ष की ओर गया और वहाँ जाकर खड़ा होकर देखने लगा।

दीवार को रँगकर 'माता' का चित्र बनाया गया था। उसकी पूजा करना और भट्टजी की झोली भरनी थी। चावल और गेहूँ की ढेरी लगी थी। सामने सेठ और नई सेठानी थी। नई सेठानी अब जग गई थी और पतिदेव के पास बैठी थी। गुरू कुछ लेने के लिए बाहर गये थे। मैं अन्दर जा रहा था कि सहसा ठहर गया—सेठ प्रेम-प्रसंग चला रहे थे—छः वर्ष की अबोध बालिका का घूँघट हटा रहे थे और वह घूँघट के अन्दर से 'खी-खी' करके हँस रही थी। मैं देखता रहा। कौन कहता है कि अपने यहाँ प्रेम-प्रसंग नहीं है?

मैं तो चित्रवत् खड़ा रहा—देखता ही रहा। सेठ ने घूँघट हटाकर कन्या को तिरछी आँखों से कटाक्ष किया। उन्होंने सेठानी को और भी छेड़ना चाहा कि वह अबोध बालिका "ना-ना" कहकर सरक गयी। सेठ फिर पास गये तो उसने धमकी के स्वर में कहा—"मैं माँ को बुला दूँगी।" सेठ अब भी हिम्मत न हारे—"अब बैठ न।" कहकर उन्होंने हाथ बढ़ाकर सेठानीजी के गाल मल दिये। सेठानी ऊँचे स्वर में चीख़ उठी—

"ओ माँ ! देख, बुड्ढा मुझे मारता है।"

× × ×

क्या कहूँ ? मैं रणछोड़—यह रण छोड़ कर भागा। जाते-जाते मैंने गानेवाली स्त्रियों का कण्ठ-स्वर दूर से सुना। वे गा रही थीं:—

"ये वर नहीं ब्याहे, नहीं ब्याहे,
हम जीते, हम जीते।"

शकुन्तला और दुर्वासा

मेरी-जैसी भाग्यशाली स्त्रियाँ थोड़ी ही होती हैं। अंग्रेज़ी की पाँच-छः पुस्तकें पढ़ चुकने के पहले ही मेरी शादी डा० विश्वनाथ के साथ हो गयी। उन्होंने उन्हीं दिनों डाक्टरी-परीक्षा पास की थी, और उनकी बुद्धि और वाक्-चातुर्य देखकर उनका धन्धा चमकने की आशा बँध रही थी। जिस क्षण मेरा पाणिग्रहण किया तभी से उन्होंने मुझ पर अद्भुत जादू-सा चला रखा था। जैसे उनके साथ सोलह वर्ष पहले से—जीवन के आरम्भ से ही परिचित होऊँ—यही नहीं, जैसे पूर्व-जन्म से ही उनके साथ प्रगाढ़ सम्बन्ध हो—इस प्रकार मेरा जीवन उनके जीवन में समा गया।

ब्याह होते ही मैं ससुराल बुलाली गयी। मेरे पति—डाक्टर के पिता की स्थिति अधिक दरिद्रतापूर्ण थी। उन्होंने गुमाश्तागीरी की नौकरी कर रखी थी, और उनकी नमकहलाली से प्रसन्न होकर ही उनके सेठ ने मेरे पति को पढ़ाया-लिखाया था। मेरे यहाँ सास-ननद का कोई झगड़ा तो था नहीं; अपने छोटे-से घर में मैं ही गृहदेवी थी। मेरे पति भी उन दिनों मुझमें ही व्यस्त रहते—मुझे पढ़ाने और शिक्षित करने में आनन्द मानते थे; और मैं तो उनके लिए इतनी भूखी थी कि उनके बिना मेरे लिए एक-एक क्षण विष-सा लगता था।

मेरे पति की डाक्टरी भी चलने लगी और अब हमारे सुख की सीमा नहीं दिखाई देती थी। दिन और रात हमारे लिए एक सुखमय क्षण के

समान व्यतीत होजाते थे। केवल एक ही बात की कठिनाई थी। मेरे बुड्ढे ससुर बुढ़ापे के कारण नौकरी से अवकाश ग्रहण कर घर बैठ गये तो अपनी गाँव की पुरानी रीति और संस्कार-रहित वाणी को काम में लाने लगे। उनकी पुरानी आदतों की बातें हमारे जीवन-तान में बेसुरा राग छेड़ रही थीं। दिन-भर वे "अमुक चीज़ ऐसी रह गयी; वह खुली रह गयी।" कहकर घर-गृहस्ती की अनेक बातों में वे त्रुटियाँ निकाला करते। पहले तो मैं उन्हें कुछ प्रसन्न रखती रही; पर मेरा मन देखकर तो मेरे डाक्टर भी बुड्ढे ससुर की बातों के निकम्मेपन को देखने लगे। सच पूछो तो मैं भी चुप हो चली। अब क्या था? सारे दिन बुड्ढे को बड़बड़ाने देती थी। मुझे तो डाक्टर के लिए चिन्ता थी। उनके आगे बुड्ढा क्या था?

जवानी में सुख मिले तो फिर क्या पूछना? मेरे मन में तो बड़े-से-बड़े राजा की कोई बिसात न थी। मेरे पैर दिन-भर घर के अन्दर ही रहते। सुबह तड़के उठती और जैसे-तैसे काम करके आराम करती—दोपहर को कुछ पढ़ती और शाम को टहलने जाती। मेरे पति डाक्टर भी मुझे ही देखते रहते थे। बुड्ढे ससुरजी सवेरे पाँच बजे ही उठ जाते और जहाँ बैठा करते थे वहाँ झाड़ू तक लगा लेते। नौकर का काम उन्हें पसन्द न आता—फिर अपने लिए क्या काम रह जाता। वे ठंडे पानी से नहाते और पूजा में बैठते तो दोपहर के बारह बजे उठते। दोपहर को कुछ इधर-उधर का हिसाब लिखके, शाम को छड़ी उठाकर बाहर घूमने निकलते तो फिर रात में ही वापस आते।

और सभी बातों में मेरे वृद्ध ससुर अच्छे थे; पर उनकी ज़बान से तो मैं हार गयी। कोई-न-कोई अड़ंगा वे सदा खड़ा रखते, इसमें उनकी पूजा और घूमने की आदत बड़ी दुःखद थी। मेरे पति के भोजन कर लेने के बाद कितनी ही देर तक प्रतीक्षा करने के बाद बुड्ढे ससुर-जी की पूजा समाप्त होती थी। रात को जब तक वे घूम-फिरकर वापस न आ जाते तब तक मुझे बैठी रहना पड़ता। हमें तो ऐसा लग रहा

था कि यह बुड्ढा न जाने कब तक हमारे सुख में बाधा डालता रहेगा ? और सच पूछो तो एक बार तो मेरे मुँह से यह बात निकल भी गयी—"न जाने बुड्ढा कब मरेगा कि हम सोने-जैसे समय को मौज में काट सकेंगे।"

आखिर मेरे डाक्टर से भी न रहा गया—"पिताजी ! मुझे यह सब पसन्द नहीं है। सारे दिन यह कैसी पंचायत ! तुम चुपचाप बैठो न ! यह बेचारी कब तक बैठी रहे !" उन्होंने कहा।

ससुरजी उस समय तो कुछ न बोले, पर उनकी आदत ही ऐसी थी—बेचारे क्या करते। दूसरे दिन वे मेरे पास आकर बोले—

"लक्ष्मी बेटा, आज से तुम पहले खा लिया करो।"

"क्यों ?" मैंने कहा।

"नहीं भाई, मुझे आज से जप करना है इसलिए देरी हो जायगी। तू कब तक बाट जोहती रहेगी ?" बुड्ढे की आवाज़ में दया थी। आँख में अदृश्य आँसू भी डबडबा आये थे।

"नहीं पिताजी !"

"भई, मेरी बात मानो।"

मैं भी कुछ न बोली। चलो झंझट मिटा। मेरे मन में कुछ विचार आया। जिस तरह गौ के लिए भात निकालकर रख दिया जाता है वैसे ही डाक्टर के पिता के लिए, जिनके कारण ही डाक्टर को पढ़ने-लिखने और डाक्टर बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, रखा जाने लगेगा ? इस विचार से मेरे मन में शंका पैदा हुई, पर मेरे डाक्टर ने सन्देह भंग करते हुए कहा—"तुम खा लो न। कोई बात नहीं; चलो बहुत दिनों पर साथ बैठकर खायँगे।" इस तरह हम दोनों ने साथ बैठकर भोजन किया—बहुत दिनों के बाद यह लाभ मिला। मैंने बुड्ढे ससुरजी के लिए खाना रख दिया और ऊपर चली गयी।

बहुत देर तक मुझे चैन न आया। मेज़ पर पड़ी एक किताब खोली—कालिदास का 'अभिज्ञान शाकुन्तल' नाटक था, दुर्वासा-शाप

का प्रवेश था। दुष्यन्त के विरह से व्याकुल शकुन्तला अतिथि बनकर आये हुए दुर्वासा का सत्कार करना भूल गयी है। दुर्वासा क्रोधपूर्वक बेपर्वाह शकुन्तला को शाप देते हैं—

ओ अतिथि का अपमान करनेवाली !
निर्लज्ज जिसके ध्यान में तू मग्न हो—
आये तपस्वी की उपेक्षा कर रही।
जा, भूल जायेगा तुझे वह एकदम—
मेरे अनादर का यही बस दण्ड है॥

मैंने सोचा, शकुन्तला कैसी मूर्ख थी ? ऐसी उपेक्षा का उसे कैसा घोर दण्ड भोगना पड़ा ? पति ने ही उसे बिसार दिया—निकाल दिया और बहुत रोने-पीटने के बाद उसे फिर प्राप्त कर सकी। मैं होती तो कभी ऐसा न करती।

उस दिन से तो बुड्ढे ससुरजी का हुलिया तंग हो गया। अब तो उन्होंने बोलना ही बन्द कर दिया। सवेरे अपने समय पर उठते, नहाते, पूजा करते, और मैं जो-कुछ दोनों वक्त ढककर रख देती, खा लेते। चुपचाप घर में पड़े रहते। हमें तो इतना ही चाहिए था। अब कैसा मज़ा था ? कैसा सुख ? एक-दो बार मेरे मन में यह बात आई कि बेचारा बुड्ढा चुपचाप पड़ा रहता है; पर अपने सुख के आगे मैं उसकी क्या चिन्ता करने बैठूँ ?"

बुड्ढा दुबला होने लगा। मैंने समझा बुढ़ापे की अवस्था तो है ही।

× × ×

मेरे बच्चा हुआ तो बुड्ढा फिर कुछ बोलने लगा। मेरा बच्चा अद्भुत रूप-सम्पन्न और अलौकिक था; पर ज़रा रोता अधिक था। बुड्ढा तो उसी से चिमटा रहता। सारे दिन नाक पर चश्मा चढ़ाये उस बच्चे को झुलाता-खिलाता रहता और वह रोता तो बुड्ढा बताता कि उसे भूख लगी है। मैं अनुभवहीन थी इसलिए मुझे नहीं मालूम था।

"देखो, इसे ठीक से नहलाया नहीं।" एक दिन बुड्ढे ने कहा।

पर इसी समय मेरे डाक्टर ने यह बात सुन ली तो बोल उठे —

"इसकी माँ आप हैं या यह ?" इसके बाद बुड्ढे ने बच्चे के बारे में भी बोलना बन्द कर दिया।

हमारे मज़े की लहर में कोई भी रुकावट नहीं आयी। अब भी सारे दिन बच्चे को बुड्ढा ही खिलाता था और मुझे पूरा अवकाश रहता। हम चाहें जहाँ घूमने-फिरने आ-जा सकते थे। हम नाटक में जाते तो भी बुड्ढा तीन बजे रात तक बच्चे को पालने में झुलाया करता।

हमारे सुख में फिर बाधा आयी। रामदास फौजदार* की मेरे गाँव में बदली हो गयी। वह मेरे डाक्टर का पुराना दोस्त था। वह आया और मेरे पास से मेरे डाक्टर को खींच ले गया। थोड़े दिनों में उनकी पुरानी मित्रता सुदृढ़ हो गयी। डाक्टर अब अपने दवाखाने में भले ही न जायँ पर उसके यहाँ अवश्य जाते थे। हमारा शाम का घूमना-फिरना भी बन्द हो गया। धीरे-धीरे वे रात को भी देर से घर आने लगे। मेरा तो मन अकुला उठा। डाक्टर के बिना मुझे भी चैन नहीं था और मैं समझती थी कि उन्हें भी मेरे बिना बेचैनी रहती होगी; पर इस नये अनुभव से तो और ही बात ध्यान में आयी।

अब मेरे डाक्टर मुझसे बोलते भी न थे। हमारा संगीत, पठन-पाठन और रसिकता की मज़ेदार बातें चली गयीं;। मुझे सूझ न पड़ा कि क्या करना चाहिए। जैसा सुख था क्या वैसा ही दुःख आ जायगा, यही भय लगा। इस पर अब बच्चा भी बड़ा हो चला। मुझे तो यह दैवी दण्ड-सा लगता था। पर मैंने अपनी सहनशीलता न छोड़ी। मैंने सोचा, कोई बात नहीं, महीने-दो-महीने में मेरे डाक्टर फिर राह पर आजायँगे और मेरा भाग्य-सूर्य फिर चमकेगा।

एक दिन रात को दो बजे डाक्टर ने किवाड़ खटखटाये। मैंने खोल-कर देखा तो मेरे होश उड़ गये। उनकी आँखें विस्फारित थीं,—कपड़े

---

* पुलिस अफसर

धूल से भरे हुए और मुँह से शराब की बदबू निकल रही थी। मुझे चक्कर आ गया। यही मेरे पढ़े-लिखे सुसंस्कृत पति हैं! वह लड़खड़ाते पाँव अन्दर आये। उन्होंने मेरा हाथ पकड़ा, और अन्त में वे भग्न स्वर में गाना गाने लगे—

"बैयाँ.....न पकड़.....मेरी।"

मैंने हाथ छुड़ा लिया। "डाक्टर! यह क्या हाल है? चलो ऊपर।"

"चल बे रण्डा! क्या.....अरे हाँ..... ....बैयाँ न पकड़....."

गाते-गाते ज्यों-त्यों करके ऊपर चढ़े, और वहाँ धम से फ़र्श पर गिर गये। मैं बैठ गयी और माथे-हाथ देकर रोने लगी। मेरे डाक्टर की यह अधोगति! भगवान! आज महीनों से दुःख की दबी हुई धारा फूट बही। मैं घण्टों रोती रही—"भगवान, मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा था; मेरा क्या दोष था?"

दूसरी ओर देखने पर मेरी दृष्टि मेरी प्रिय पुस्तकों पर पड़ी। मैं अपने डाक्टर के साथ इन्हें किस दिलचस्पी के साथ पढ़ा करती थी। मैं काँप उठी। एक सुनहरी पुस्तक पर सुनहरे अक्षरों में 'अभिज्ञान शाकुन्तल' लिखा था। मेरा मन शकुन्तला की दुःखपूर्ण स्थिति पर गया। दुर्वासा का वह शाप स्मरण हो आया कि—

निर्लज्ज जिसके ध्यान में तू मग्न हो—
आये तपस्वी की उपेक्षा कर रही।
जा, भूल जायेगा तुझे वह एकदम—
मेरे अनादर का यही बस दण्ड है॥

मेरा पाप मेरी नज़र के सामने आ गया। शकुन्तला मेरे ही समान दुखी दिखायी दे रही थी। दुर्वासा को शाप देकर दूर जाते देखा। उनकी आकृति मेरे ससुरजी-जैसी थी! एक आह भरकर मैं खड़ी हो गयी। मुझे होश आया। शकुन्तला के पाप से मेरा घोर पापाचार कुछ भी कम नहीं था। मैं अपने पति के पीछे ऐसी पागल हुई कि उनके बाप को मैंने वृद्धावस्था में दुःख दिया, उसका बोलना

चालना तक बन्द कर दिया, महीनों तक उसे पशुवत् समझती रही। हे भगवान्! एक-आध घण्टे खाने में देर हो जाती, ज़रा पहले उठकर ससुरजी के लिए पानी गर्म कर देती तो आज यह नौबत न आती। दुर्वासा के भयंकर शब्द मेरे कानों में गूँजते रहे।

नीचे बच्चा रोया। वह दस महीने का था तभी से ससुरजी से चिमटा रहता था; नीचे उन्हींके पास सोता भी था। मैं उठी। हाथ में दीपक लेकर नीचे उतरी। दीये की धीमी रोशनी में ससुरजी बच्चे को गोद में लिये बैठे थे और अनिर्वचनीय ममता से बच्चे का मुँह देखते हुए उसे सुला देने के लिए गोद में हिला रहे थे। मुझे जैसे होश आ गया कि ससुरजी ने इसी प्रकार मेरे डाक्टर को भी गोद में सुलाया होगा और आज इस वृद्ध का हम मुँह भी देखना नहीं पसन्द करते? मेरी आँखों से आँसू छलछला पड़े।

"ससुरजी!"

"क्या बात है बेटी!"

"मैं क्या कहूँ?" उन्होंने डाक्टर को घर के अन्दर आते हुए स्वयं देखा था; मेरी स्थिति जान गये थे। वह पहले तो एक शब्द भी न बोले, फिर सदा की भाँति स्नेहपूर्वक बोले—

"लक्ष्मी, बैठो बहन*! ज़रा बच्चे को ले लो।" कहकर उन्होंने बच्चे को मेरी गोद में दे दिया। मैंने बहुत दिनों से उसे गोद में नहीं लिया था। मैंने देखा कि मेरी बेपर्वाही से बच्चा बहुत दुर्बल हो गया है और उसकी चमड़ी भी काली पड़ गयी है।

"पिताजी, इसे कोई तकलीफ हो गयी है?"

"मुझे की ऐसा ही लगता है।"

सारी रात हम बैठे रहे। पति की कुचाल से दुःखी हो मेरा बाद

---

* गुजरात में स्त्रीमात्र को सम्बोधन में बहन कहते हैं फिर चाहे वह अपनी लड़की ही क्यों न हो।

का जीवन वेदनामय हो गया। मेरे ससुरजी फिर नौकरी करने लगे। पहले मैं उनके प्रति जैसी उपेक्षा रखती थी उतनी ही अब अधिक ध्यान रखने लगी। ज़रा भी चूकती तो मुझे दुर्वासा का शाप सुनायी देने लगता।

मेरे डाक्टर का अब बुरा हाल था। उनके मन में तो रामदास फौजदार ही देवता बनकर बसे थे। धीरे-धीरे डाक्टर की कमाई भी घट चली। मैंने कई बार बच्चे की स्वास्थ्य-परीक्षा के लिए भी अनुरोध किया; पर उन्हें कब ध्यान देना था। आखिर एक दिन शाम को बच्चा बहुत बीमार पड़ गया। उसके हाथ-पैर ठंडे होने लगे। डाक्टर घर में नहीं थे इसलिए ससुर जी अपने एक डाक्टर-मित्र को उसके घर से बुला लाये। बच्चे की हालत बहुत खराब हो गयी थी।

डाक्टर ने आकर बच्चे को देखा और आँखें फेर लीं। मेरी छाती फट गयी। मेरा बच्चा!

"नहीं काका! मुझे कोई आशा नहीं मालूम होती। मुझे ऐसा लगता है कि इसका पालन-पोषण ठीक तौर से नहीं हुआ है।"

मैंने कपाल पर हाथ पटक लिया, अपने किये का फल देख लिया। मैंने माँ होकर उसका पालन-पोषण नहीं किया और अपने मौज-शौक में पड़कर एकमात्र बच्चे को भूखों मार लिया। हाय मेरा बच्चा! क्या करूँ! आधे घण्टे में बच्चे को ज़मीन पर उतार दिया गया और उसके प्राण-पखेरू उड़ गये। दुर्वासा का शाप! हे भगवान्! बहुत दण्ड भोग लिये। एकमात्र बच्चा भी हाथ से जाता रहा। मेरे रोने का कोई हिसाब न था—मैंने छाती और माथा पीट डाला। ससुरजी भी बहुत रोये। डाक्टर तो बाहर गये थे; रात को बारह बजे तक हम यों ही बैठे रहे। आख़िर नशे में लड़खड़ाते हुए डाक्टर आये।

"क्यों बे?" डाक्टर ने मुझसे कहा।

"डाक्टर" मैंने फटी आवाज़ से कहा—"बच्चे का स्वर्गवास हो गया।"

"हें" मानो अपनी स्मृति को सँभालते हुए डाक्टर बोले। कुछ-कुछ याद ठिकाने आती प्रतीत हुई। बोले—"क्या कहती है ?"

मुझसे न रहा गया। मैं रो पड़ी।

"डाक्टर—'क्या-क्या' क्या करते हो—हमारा बच्चा चल बसा—हमारे ही पापों से।"

मैं डाक्टर को उस ओर ले गयी जहाँ बच्चे का कोमल शव पड़ा था। ससुरजी उसकी सँभाल में जग रहे थे। मेरे डाक्टर के हृदय में पितृ-प्रेम उछला। उनकी आँखों में आँसू उमड़ आये।

"हाय हाय ! कैसे मर गया ?"

"कैसे ? मेरे पाप से और तुम्हारे भी," मुझसे इस शोक के अवसर पर भी कहे बिना न रहा गया—"पापी माँ को प्रेम-प्रपंच में पड़कर बच्चे का भी ख़याल नहीं रहा। पापी पिता डाक्टर होते हुए भी कुसंगति में पड़कर अपने बच्चे को न देख सका। हाय मेरे बच्चे !" कहकर मैंने फिर अपनी छाती और माथा पीट लिया।

मेरे डाक्टर के मन में कुछ परिवर्त्तन हुआ। कुछ महीने से बिगड़ी हुई सगति का प्रभाव गया और शिक्षा तथा संस्कृति की धाराओं ने ज़ोर मारा। मेरे पास आकर उन्होंने मेरे कन्धे पर हाथ रखा।

"लक्ष्मी ! मुझे क्षमा करना ! मैं घातक बन गया। मैंने स्वयं तुम्हें ही भुला दिया। मेरे पाप.....

"डाक्टर, पाप दूसरा ही है।" मैंने रोती आवाज़ से कहा।

"क्या ?"

"शकुन्तला को जो शाप लगा था वही हमें लगा है।"

"शकुन्तला को !"

"हाँ, उसने अतिथि का अनादर किया था और—हमने—"

"हमने ?"

"हमने पिताजी का किया।"

डाक्टर ने देखा और समझा, और वह विनीत भाव से पिता के

पास जाकर पैरों पर गिर पड़े।

"पिताजी ! मुझे क्षमा—"

ससुरजी ने उन्हें बोलने नहीं दिया।

"बेटा ! शतंजीवि !—तुम्हारी जोड़ी सुखी रहे।"

मेरे डाक्टर रो पड़े। रोकर उन्होंने पाप का प्रायश्चित्त किया।

गुजरात के कविवर

थोड़े दिन हुए मैं नवसारी से बम्बई आ रहा था। संयोगवश मुझे एक खाली डब्बा मिल गया, इसलिए मैंने निश्चिन्त हो सो जाने का विचार किया। सिरहाने सामान रख लिया और पैर फैलाने की तैयारी की कि इतने में ही बलसाड़ स्टेशन आ गया और एक ज़रा अधेड़, दुबले-पतले, कोट पहने, बेमेल चश्मा लगाये सज्जन मेरे डब्बे में घुसे।

पहले तो मैंने उनकी ओर ध्यान नहीं दिया; पर उनका विचार मुझसे छिपा नहीं रह सका। वह दूसरे कोने में बैठे, खाँसे और गले की आवाज़ निकाली, सुँघनी सूँघी और पान लगाने लगे। फिर आँख पर चश्मा सँभालते हुए मेरी ओर रुख़ करके बोले—"क्यों मिस्टर! आप कहाँ के रहनेवाले हैं?"

"बम्बई का।" कहकर मैं चुप हो रहा। पिछली रात चार-पाँच दोस्तों के साथ जागना पड़ा था इसलिए मुझे तो नींद आ रही थी; पर मेरे साथी की ज़बान को कल न पड़ी। उन्होंने पहले एक किताब निकालकर कुछ गुनगुनाना शुरू किया। मैंने दृष्टि ऊँची करके देखा। वह कलापी की 'केकारव' नामक पुस्तक थी।

सच पूछिये तो मैं ज़रा कवियों का भक्त हूँ, विद्वान् बनने की आकांक्षा रखता हूँ इसलिए मेरे भीतर विद्वत्ता का जो कीड़ा है वह ज़रा चुलबुला उठा। मेरे मन में इस रसिक व्यक्ति से परिचय प्राप्त करने की इच्छा हुई; पर इतने ही में उन्होंने एक नोटबुक निकालकर

कुछ जल्दी-जल्दी लिखना आरम्भ कर दिया। फिर सामान में से दूसरी पुस्तक निकालकर कुछ गुनगुनाने लगे।

मैंने ज़रा नज़र डाली तो श्रीनरसिंहराव-कृत 'नूपुर-झंकार' नामक पुस्तक—क्या कहूँ —सुनायी पड़ी या दिखाई दी। फिर उन्होंने कुछ लिखा। और फिर बीच में काव्य निकालकर गुनगुनाने लगे। मैं तो दंग रह गया—कैसा प्रच्छन्न विद्वान् मेरे सौभाग्यवश साथ ही यात्रा कर रहा है। मैं लेटा था, वे बैठे थे। और मैंने देखा उस बैठे हुए व्यक्ति के मुखमण्डल पर कुछ अनदेखी भव्यता, कोई अदृश्य रसिकता प्रकट होने लगी।

"आप कहाँ जा रहे हैं?" मैंने डरते-डरते पूछा। मैंने अब तक ऐसे कविवर को नहीं देखा था इसलिए वे कैसे विद्वान् और गुर्जर-गिरा के कैसे प्रियपात्र होंगे, यह सोचकर मुझे बड़ी ईर्ष्या भी हुई।

"बम्बई।" आँखें उठाये बिना ही नोट में शीघ्रतापूर्वक लिखते हुए मेरे साथी ने कहा।

"आप कहाँ उतरेंगे?"

लेखक ने बाँयें हाथ से मुझे चेतावनी दी। सरस्वती का कोई प्रवाह उनकी लेखनी में से उतरते हुए अटक न जाय, इस भय से, मैंने आकांक्षापूर्ण जिह्वा रोक ली। उन्होंने नोटबुक ऊँची करके चश्मा ठीक किया, और वे फिर मेरी ओर फिरे।

"कहिए मिस्टर! माफ़ कीजिएगा। क्या पूछ रहे थे?"

"जी, यही कि आप कोई लेखक हैं?"

"भगवान की कृपा से कुछ-कुछ सरस्वती की सेवा कर लेता हूँ।"

अहाहा! कैसी निम्रता थी—और उनकी आँखों में कैसा अनोखा तेज था।

"आप कविता लिखते हैं?"

"ऐसी ही थोड़ी-बहुत" दो-तीन टूटे दाँतों के अतिरिक्त शेष सुदृढ़ दन्तावलि का प्रदर्शन करते हुए कवि ने कहा। मेरी उत्कण्ठा

बढ़ी। लाभदायक तर्क और बातचीत का कैसा रसदायक अवसर था, आत्मोन्नति प्राप्त करने का यह सरल मार्ग है। मेरी छाती उल्लास से छलछल रही थी।

"कलापी के सम्बन्ध में आपके क्या विचार हैं?" मैंने साहस करके बातचीत शुरू कर दी।

मेरे साथी की नाक ज़रा चढ़ी। छोटी आँखों में तिरस्कार की भावना फूट चली। "अच्छे ही हैं;—बुरे नहीं।" उन्होंने कहा।

"तो फिर श्री नरसिंहराव कैसे हैं?"

"अच्छे हैं।"

"तब तो आप श्री नानालाल की नयी प्रणालिका पसन्द करते होंगे?"

"सभी ठीक हैं; पर पूर्ण कोई नहीं है।"

"हैं!" मुझे कुछ तैश आ गया। इतना बड़ा तिरस्कार! मेरी उनके प्रति दिलचस्पी कुछ डगमगा उठी—"तो फिर आप पूर्णतः श्रेष्ठ कवि किसे कहते हैं?"

"यह प्रश्न ज़रा आंशिक है।"

"कैसे?"

"श्रेष्ठता आप किसे कहते हैं? एक तरह की आदत पड़ जाती है इसलिए उसके अनुसार ही चलना क्या श्रेष्ठता है? पचास वर्ष तक एक ही ढंग से लिखते रहकर प्रशंसा कराने में क्या बड़ाई है? यह तो राह-चलता व्यक्ति भी करता है।"

साथी की बात मेरे गले उतरी। उनकी बुद्धि के प्रति सम्मान बढ़ा। फिर मैं विनम्र बनकर प्रश्न करने बैठ गया—"लेकिन फिर आप श्रेष्ठ किसको मानते हैं?"

"कवि में श्रेष्ठता का निर्णय करना कठिन काम है; किन्तु सच्चा कवि तो वही कहलाता है जो प्रत्येक कविता की पद्धति में एक-सरीखा

गिना जाय, प्रत्येक रस एक ही प्रकार से उभारे, और अपनी लेखनी की नोंक पर प्रत्येक गुण रखे।"

"ठीक है" विद्वत्ता के सागर में डुबकी लगाते हुए मैंने कहा, "पर आपने मेरे प्रश्न का उत्तर नहीं दिया।"

"नहीं दिया, इसलिए कि उत्तर देते हुए शर्माता हूँ।" मेरे साथी के मुँह पर लज्जा की रेखाएँ दौड़ गयीं। मैं समझ गया। गुजरात के कवि-शिरोमणि मेरे सामने ही तो नहीं बैठे हैं?

"नहीं नहीं। बताइए तो सही?" मैंने कहा।

"क्या बताऊँ? देखिए कलापी बड़े कवि हैं न? पर मान लीजिए कि कोई कलापी जैसी कविता लिखे और साथ ही श्री नानालालके सदृश भी लिख सके, तो वह कवि दोनों से श्रेष्ठ हुआ या नहीं?"

"अवश्य!" मैंने आँखें डुलाकर कहा।

"अच्छा! और साथ ही वह व्यक्ति दयाराम की गरबी को भी लजानेवाली गरबी लिख लेता हो तो?"

"फिर तो वह और भी श्रेष्ठ हुआ।"

"और साथ ही प्रेमानन्द की बाढ़ ला दे तो?"

"तब तो पूछना ही क्या? पर ऐसे कविवर आप कहाँ से लायेंगे?"

"यह सेवक उपस्थित है।" ज़रा गर्व से फूलकर लज्जा-की पुट के साथ कविवर ने कहा।

"हैं," कहकर मैं उठ खड़ा हुआ—"आप कौन हैं? आप श्री नरसिंहराव या श्री मणिशंकर हैं अथवा कोई और छिपे रत्न?

"जी हाँ, मैं ऐसा ही एक सेवक हूँ। मैं यह सभी प्रकार की रचनाएँ कर सकता हूँ और इसीलिए मैं अपने आपको विनम्र कविवर समझता हूँ। यही नहीं, पर इनमें से किसी भी कवि के समान काव्य-रचना करना आसानी से सिखा भी सकता हूँ।"

"क्या सचमुच ऐसी बात है?" मैंने आश्चर्य-सागर में डुबकी लगाते हुए पूछा—"आप कहाँ लिखते हैं?"

"कहाँ ? सभी जगह। प्रत्येक मासिक-पत्रिका, साप्ताहिक, दैनिक और जातीय पत्रिकाओं तक में। विभिन्न शीर्षकों और उपनामों से मेरी रचनाएँ प्रकाशित होती हैं।"

"पर मैंने आपका नाम नहीं सुना। यह आश्चर्यजनक बात है।"

"इसका कारण यही है कि मैं सर्वव्यापी हूँ। मेरे मित्र मुझे बराबर आर्डर लिख भेजते हैं, और अभीष्ट शैली में काव्य-रचना करने की शिक्षा देने के लिए मैंने विद्यालय भी खोला है।"

"कहाँ ?"

"विद्यालय का काम तो मैं पत्रव्यवहार द्वारा चलाता हूँ, और काव्य-रचना को, मैंने नियमबद्धता के साथ और ऐसे वैज्ञानिक आधार पर रखा है कि केवल पन्द्रह दिन के परिश्रम से चाहे-जैसा गधा भी अच्छी-से-अच्छी गुजराती कविता लिख सकता है।"

मैं आशा-सागर की उच्चतम तरंग पर पहुँच गया। कल्पना-शक्ति का घोड़ा सरपट दौड़ने लगा। इन महात्मा से कविता करने का मंत्र सीख कर कवि बनूँ, गाँव-गाँव में ख्याति प्राप्त करूँ, भावी प्रजा के मस्तक पर उपकार का भार लादूँ, और भावी आलोचकों को इस प्रकार के प्रश्नों में डुबो रक्खूँ कि कविता मेरी है या मेरे काका की, आदि आदि ! पर एक संशय रह गया।

"पर काव्य-रचना तो ईश्वर की देन है; फिर प्रत्येक व्यक्ति उसे कैसे प्राप्त कर सकता है ?" मैंने पूछा।

"भगवान ! भला यह तो विज्ञान का—सत्य-विचार का युग है। गत महायुद्ध ने सारे संसार को विज्ञान की सीधी रेल—सिस्टम या प्रणाली पर चढ़ा दिया है। ईश्वर की देन तो मूर्खों का स्वप्न है। सभी बातों का संचालन तो वैज्ञानिक प्रणाली से हो रहा है, फिर ईश्वर के लिए कहाँ स्थान रह जाता है ?"

मैं प्रसन्न हुआ। मुझे यह बात जँच गयी।

"अच्छा, तो आप मुझे एक-दो चीजें सुनायेंगे ? मैं भी कवि बनने

की आशा रखता हूँ—गुर्जर-गिरा की सेवा करने का अभिलाषी हूँ।"

"ठीक! पहली आदत डालनी हो तो नाटक के गाने लेकर उन्हीं के समान पद लिखें। इधर अपना रस बहुत विकसित हो चुका है इसलिए गद्य-जैसा पद्य लिखने में ही बड़ाई है। इसमें नाट्यशास्त्र को सुधारने का भगीरथ प्रयत्न चल रहा है, और दो पात्र बारी-बारी से पद बोलते हैं इसलिए मात्रा-वात्रा की पर्वाह नहीं रहती। उदाहरण के लिए नीचे लिखा सम्वाद बम्बई में तेरह बार 'वन्समोर' होकर रसिक और रसज्ञ जनता का प्रिय प्रसंग बन चुका है। यह मेरा लिखा है:—

"आप कौन हैं?"

"मैं हूँ रानी।"

"आपका क्या है नाम—और क्या है काम—कहाँ से आयी हैं इस धाम—"

"मैं आयी—प्रीति लायी—तव मन भायी—वाह! वाह! वाह!—आहा! आहा! आहा!"

"यहाँ 'वाह' और 'आहा' का प्रयोग देखिए और उसकी यमक की कद्र कीजिए। कैसी सुन्दर लगती है यह रचना?"

मैंने आँखें डुलाई। "अच्छा फिर?"

"अब यह समझिए कि पहली सीढ़ी के बाद, आजकल दोहा-चौपाई तो पुराने पड़ गये हैं; पर कोई भी एक सरल छन्द ले लीजिए। कितने ही उदीयमान कवि आजकल 'हरिगीतिका' छन्द अधिक पसन्द करते हैं, क्योंकि बातचीत में भी उसकी रचना हो सकती है:—

"बैठा वहाँ था उस समय मैं, बात जब ऐसी हुई।

"हरिगीतिका छन्द ज़रा ज़बान पर चढ़ गया तो उसकी रचना बहुत सहज लगती है।"

"पर विषय कहाँ से लाया जाय?"

"कैसी भोली बात करते हैं आप। आप अभी तक बहुत पुराने विचार के हैं। आजकल तो स्वाभाविकता चाहिए। महाकवि वड्सवर्थ का प्रताप है।

प्रसंग जितना ही निर्जीव होगा कविता उतनी ही सुन्दर होगी और विषय-शून्यता हो तब तो श्रेष्ठ ही है। पर शुरू में तो विषय लाना ही पड़ेगा। 'त्राटिका' त्रैमासिक में प्रकाशित मेरा हरिगीतिका छन्द जगत्-विख्यात् हो चुका है।"

मुझे शर्म आयी कि मैं ऐसी जगत्-विख्यात् वस्तु से भी अनजान रह गया हूँ। मुझे ऐसा लगा कि मेरी जानकारी और जीवन धिक्कारने-योग्य है।

"उस पद्य की पहली कड़ी इस प्रकार थी—

मैं सो रहा था पलँग पर आया वहाँ इक फीफला।

"अनेक स्टेटों के राजा-महाराजाओं ने तो नौकरों को बुलाने के लिए ही इस पद को याद कर लिया।"

"होगा, फिर ?"

"अब आपको बड़े कवियों की बात बताता हूँ। हरिगीतिका छन्द बनाना आ गया तो आप काव्यशास्त्र के ग्रेजुएट हो गये। फिर कलापी को लीजिए। ऐसा काव्य लिखना हो तो घर में किसी के साथ लड़ बैठना चाहिए, इससे अधिक अच्छा लिखा जायगा। और हमेशा भिन्न-भिन्न कवियों की अलग-अलग शब्दावली होती है, उनकी एक नोट-बुक रखनी चाहिए जिससे काव्य-रचना के समय शब्दों का प्रयोग ठीक तौर पर किया जा सके। कलापी के शब्दों में देखो—इश्क, दिल, जिगर, स्मरण, रोदन, आँसू आदि अधिक आते हैं। लिखते समय इन शब्दों को दो-चार बार पढ़ जाना चाहिए और हो सके तो गज़ल लिखनी चाहिए। कलापी तो ऐसा है कि पन्द्रह मिनट पढ़ लो तो उसी के समान लिखने की धुन लग जाती है।

अरे मेरे हृदय प्यारे, रहो चुपचाप तुम निशिदिन।

"क्या इस कड़ी में 'केकारव' की गूँज नहीं है ? और कलापी के ढंग की कविता लिखने में विषय लाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। 'इश्क' और 'प्रिया' इन दो शब्दों को पकड़ रखिए, बस बेड़ा पार है। सभी

विषय इसमें गढ़े-गढ़ाये हैं। ये विषय कभी अमल में थोड़े ही आये हैं ?"

"नहीं तो, यह न हो तो कवियों का रोज़गार कैसे चले ?"

"ठीक है ! कौन-सा स्टेशन आया ? बाँदरा; अभी काफी समय है। ठहरिए, ज़रा बीड़ी सुलगा लूँ।" कहकर कविवर ने फिर बात जारी की—"देखिए अब आधुनिक काव्यों की ओर मुड़ें। 'ललित' की शैली में मेरी पूर्णता अद्भुत है। लालित्य मेरी विशेष सम्पत्ति है। उसकी आज-कल की खूबी तो न्यारी ही है। एक ही शब्द को इधर-उधर घुमाकर जो काव्य-रचना 'ललित' करता है उसकी बराबरी कौन कर सकता है ? उसमें अब यह शैली तो पूर्णता प्राप्त कर चुकी है और खासकर जिन मासिकपत्रों में लेख न हों और पन्ने सभी भरे दिखाने हों उनको यह बहुत रुचिकर लगती है, क्योंकि काव्य की कोई भी कड़ी दो-तीन शब्दों से अधिक नहीं बढ़ती। आइए, एक शब्द 'वेदना' को लेकर ही काव्य रचना करें—

कैसी अचानक वेदना ?
कैसी भयानक वेदना ?
यह वेदना वह वेदना !

"नहीं तो नाटक के राग लिखिए। मान लिजिए 'गोविन्द गुण गाऊँ रे' की तर्ज़ पर कविता करनी है तो वह उस प्रकार होगी:—

क्या बैठे-बैठे कर रहा ?
क्यों बैठे-बैठे डर रहा ?

"कैसा रस झरता है इससे ?"

"मुझे यह बात स्वीकार है—पर श्री नानालाल की सी शैली का अनुकरण सहज नहीं है।"

"अरे साहब, मैं तो लज्जालु मनुष्य हूँ। यदि मुझमें वह शक्ति न होती तो कविवर कहलाने का दावा मैं कभी करता ? श्री नानालाल की कविता पर तो मेरा अप्रतिम अधिकार है, क्योंकि आजकल तो वैसी ही कविता के आर्डर अधिक आते हैं।"

"तो फिर वह कैसे लिखी जाती है ? मैंने बहुत माथापच्ची की, पर वैसी चीज़ बन नहीं पाती।"

"इसका कारण यही है कि आपने मुझसे नहीं सीखी। देखिए, ऐसी कविता लिखने के पहले तो भाषा ऊँची बनानी चाहिए। ऊँची भाषा का अर्थ ही आजकल नानालालिया—मीठी, मधुरी, चमचमाती, ज़बान काटती—बुद्धि को घबरा देती हुई है। ऐसे शब्दों का संग्रह कर लेना चाहिए। कितने शब्द तो ऐसे हैं कि उनके बिना काम नहीं चल सकता। देखिए, पहले—'अन्य' 'स्व' 'मंजुल' और 'य' को जगह-जगह जोड़कर काम में लाने में खूबी है। दूसरी श्रेणी में भारी-भरकम शब्दों का संग्रह करना चाहिए, जैसे—मनुदेह, समाधि, ब्रह्मयोग।

"पर मुझे तो तत्त्वज्ञान नहीं आता।"

"उसकी क्या चिन्ता है ? आपको कविता बनानी है या तत्त्वज्ञान समझाना है ?"

"पर समझे बिना शब्द का प्रयोग कैसे किया जाय ?"

"भलेमानस ! आप समझे बिना शब्दों का प्रयोग करें तभी तो विद्वत्ता का मूल्य बढ़ेगा। देखिए, साथ-साथ 'ड़, ढ़ी' की भर्ती भी रखनी चाहिए, जैसे—एक छड़ी, भैंस लड़ी, मेख गड़ी, आदि आदि। इन रसिक-शब्दों के संग्रह से आधी कठिनाइयों पर पहले ही विजय प्राप्त हो जाती है; युद्ध-क्षेत्र में उतरने के पहले आप साज-सामान से लैस हो गये।"

"पर यह किया कैसे जाय ?"

"इसके लिए पहले 'बंसरी बाजे, चाँदनी छाजे, बीजुरी गाजे—फूल खिले, हृदय मिले' आदि कितने की सरस प्रसंगों को घोख डालिए—और अंग्रेज़ी पर भी अधिकार हो तो शेली और कीट्स की कितनी ही उपमाएँ भी एकत्रित कर रखिए जिससे अनुवाद भी हो जाय और अपने काव्य की समृद्धि की प्रशंसा भी हो।"

"पर ऐसी चीज लिखने का ढंग क्या है ?"

"दो ढंग हैं—पहला तो यह है कि एक कागज पर गद्य में ही ऐसे प्रसंगों और शब्दों में ही कल्पना में उछलती कोई चीज़ लिख ली जाय, फिर उसको बीचोबीच फाड़कर शब्द-क्रम से हेर-फेर कर दें। कागज फटने से कहीं-कहीं वाक्य टूटता हो तो भी हर्ज नहीं। वह गद्य-शैली ही इस हेर-फेर की बदौलत काव्य बन जायगी और श्री नानालाल की कविता-जैसी रसिक कृति तैयार हो जायगी। दूसरी रीति ज़रा कठिन है।"

"वह कैसे ?"

"एक कागज़ लेकर उसमें शतरंज के-से खाने खींच लें। दोनों ओर से आठ पंक्तियों में आठ-आठ अर्थात् कुल चौंसठ खाने हों—इन खानों में आमोद, आह्लाद, कोमल, वसन्त, मंजुल रव, मनोभाव आदि चार-पाँच शब्द लिख डालें। यह कर लेने के बाद शेष खानों में कर्ण-मधुर एवं रुचिकर तुकान्तयुक्त शब्द भर दें। अब आप अपनी कविता तैयार समझिए, क्योंकि इन्हीं शब्दों के हेर-फेर से काव्य-रचना हो जायगी। यह ध्यान रहे कि पदों में मर्यादित से अधिक संख्या शब्दों की न हो, और हेर-फेर करके कुछ विचित्रता तो लाई ही जाय; नहीं तो प्रयत्न व्यर्थ होगा।"

मेरे हर्ष की सीमा न रही। कवि बनकर अमर नाम प्राप्त करने की मेरी आशा अब पूरी हो जायगी, इसका मुझे विश्वास हो गया। मैंने अपने गुरु की ओर कृतज्ञतापूर्ण नेत्रों से देखा।

"पर आप अपने नाम से ही अपनी कविताएँ क्यों नहीं प्रकाशित कराते ? अमर होने के लाभ से आप क्यों चूक रहे हैं ?"

"कितने ही अवसरों पर मुझे ख़ुफ़ीफ़ा अदालत के कुर्क अमीनों छिपना पड़ा करता था; पर अब मेरा विचार प्रकाश में आने का है।"

"सचमुच ! आप बाहर आयेंगे तो गुजरात का बेड़ा पार हो जायगा, और फिर गुर्जरी देवी में क्या विशेषता है ?"

"गुर्जरी* देवी अद्भुत है—सौन्दर्य से भरी हुई। मैं जब-जब साहित्य-मन्दिर की कल्पना करता हूँ तब-तब मेरा मन आकाश बेधकर कहाँ-कहाँ चला जाता है!"

"हाँ, जाता ही होगा।"

"मेरी कल्पना के तेजस्वी प्रदेश में गुर्जरी की साहित्य-वाटिका मुझे सदा दिखायी देती है। उसमें मैं गुजरात के कविरत्नों को देख पाता हूँ। अनेक 'इश्क' और 'कफ़नी' के भक्तों को जले दिल पर भस्म रमाकर इधर-उधर भटकते मैं देखता हूँ। उस वाटिका के एक कोने में मैं 'ललित' को गाते देखता हूँ, एक कोने में अमराई में कोयल की-सी कुहुक और वेणुवादन के-से मधुरिमामय गान से किसी नैष्ठिक ब्रह्मचारिणी के हृदय को उद्वेलित करते नानालाल नज़र आ रहे हैं। तीसरी ओर साहबी ठाठ-बाट से सुसज्जित श्री नरसिंहराव नूपुर-झंकार का रसिक-रव प्रसारित कर रहे हैं! अहाहा! क्या सौन्दर्य है और क्या विशेषता!"

मैंने कविवर के भव्य मुखमुमण्डल की ओर देखा। उनके प्रभाव की भक्ति में तल्लीन हो गया।

"पर इस वाटिका में आपका स्थान कहाँ होगा?"

"मेरा-मेरा? ये गुर्जरी के पुत्र तो मेरे सामने बालक हैं।"

"ग्राण्ट रोड! ग्राण्ट रोड।"+ गाड़ी के बाहर से आवाज़ आयी। और सब विचार छोड़कर मैं अपना सामान सँभालने में लग गया।

---

* गुजराती भाषा रूपी देवी।

+ इस कहानी के लेखन-काल में बम्बई में थ्रू गाड़ियाँ ग्राण्ड रोड तक जाया करती थीं। —अनुवादक

मैं क्या करू ?

पाठकों से एक व्यक्तिगत प्रश्न करता हूँ कि—"अब मैं क्या करूँ ?" किसका दोष निकालूँ ? मुझे कोई भी रास्ता नहीं सूझता। इसका एकमात्र कारण यही है कि जिसे कहता हूँ वही हँसता है। जिस वस्तु में लोग मेरा सद्भाग्य समझते हैं उसमें मेरा दुर्भाग्य समाया हुआ है। और वह वस्तु है—मेरी स्त्री।

इस बात से यह न समझ लीजिएगा कि मेरी स्त्री कोई कुरूपा, पुराने विचारवाली, अपढ़, नीरस, बेपर्वाह, नमकहराम या शंखिणी है। उसमें इन सभी दुर्गुणों का अभाव है, मेरे दुःख का कारण भी तो यही है। वह शरीर से सुन्दरी है—इससे अधिक कहना मैं ठीक नहीं समझता, विचारों में वह महादेव गोविन्द राणाडे को भी दो-चार सुधार-सिद्धान्त सिखा सकती है। उसकी बुद्धि की धार तेज़ है, बम्बई विश्वविद्यालय की इण्टर-परीक्षा पास कर चुकी है, इसलिए उसकी चतुरता के बारे में कुछ कहते हुए ज़बान लड़खड़ाती है। रसज्ञता के बारे में भी मैं कुछ नहीं कहता। थोड़े में यही कह दूँ कि सारे हिन्दुस्तान में काश्मीर से कन्याकुमारी तक ऐसी, चतुर, सयानी, रसज्ञ, बुद्धिमती और शीलवती का भर्त्तार बनने का सौभाग्य मुझे मिला है। स्वर्गीय डाह्याभाई कह गये हैं—

जेहि घर नारि सुलक्षणी,
सोवै टाँग पसार।

और उनके प्रति मन में आदर-भाव रखते हुए भी मैं यह कह सकता हूँ कि यह बिलकुल गलत है। मेरे घर सुलक्षणी स्त्री है, फिर भी मैं कभी सुख की नींद नहीं सो सका। बताइए, अब मैं क्या करूँ ?

मुख्य बात इस प्रकार है। मैं बी० ए० पास हुआ तो वह इण्टर-मिडियट पास हुई। मैं कालेज के लड़कों का सरदार गिना जाता था और उसके पीछे सभी पागल हुए फिरते थे। कोई उसकी किताबें उठा लेता तो कोई उसे स्टेशन तक पहुँचाने आता। सभी प्रोफेसर उसे चाय पर बुलाते। उस समय तो ठीक था, पर जब हमारा विवाह हो गया तो उपद्रव आरम्भ हुआ।

घर में, बाहर, मित्रों-मेजबानों में वह तो मेरी पत्नी गिनी नहीं जाती थी; हाँ, मैं उसके पति के रूप में परिचित कराया जाता था। मैं रास्ते से जा रहा होता तो कोई अँगुली उठाकर कहता—"ये मिस्टर 'च' हैं, ये श्रीमती 'च'—मिस मैना के पति हैं। श्रीमती तो बड़ी होशियार है, सचमुच आदर्शरूप हैं।" ऐसी दशा में सेवक की गिनती तो हो ही कहाँ से सकती थी।

बहुत दिनों बाद कोई मित्र मिलता तो पूछता—"ओ हो ! मि० च ! क्यों, मिसेज़ 'च' कैसी हैं ?" भला आदमी मेरी तबीअत का तो हाल ही न पूछता था। मुझे अनेक बार इसका यह जवाब देने को मन होता कि मिसेज़ 'च' जहन्नुम में गयीं।

कहीं चार आदमी बात करते होते और वहाँ मैं पहुँच जाता तो सब विचित्र ढंग से बातचीत का रुख बदल देते। हिन्दू कुटुम्ब-जाल कितना दुःखमय है, स्त्रियाँ कैसी अशिक्षित हैं,पतियों को कितना सहन करना पड़ता है, आदि बातें होतीं। ऐसी बातें चलने पर मैं चुपचाप रह जाता था, क्योंकि मैं जानता कि आगे का वाक्य यह होगा—"हाँ भाई, 'च' तो भाग्यवान हैं। उन्हें क्या ऐसी अड़चनें पड़ती हैं ? उन्हें तो मिस मैना !..." मुझे चाहे जो हुआ हो, पर दुनिया के बाप की मैंने कौन-सी चोरी की है जो वह इतना अत्याचार करती है ?

मित्र एक दूसरे को पत्र लिखते तो वे भी उत्तर मिसेज़ 'क्ष' के पते पर मँगवाते, इसलिए सेवक तो एक सन्देश-वाहक मज़दूर जैसा बन गया! कितने ही तो धृष्ट होकर बार-बार पत्र लिखते हैं—"My Dear Mrs." नये ज़माने के अनुसार मुझे यह भी सहन करना पड़ता है। मैं क्या करूँ ?

मैं तो जैसे भाड़े का टट्टू, महँगे दाम की सिंहिनी का रखवाला अथवा किसी महारानी के प्राइवेट सेक्रेटरी की तरह रहता था। सब मुझे इसी रूप में समझते हैं। मैं एम० ए० हूँ, धन्धे-व्यापार की भी मुझपर कृपा है, पर भाग्य!

घर में भी मुझे दिक्कत है। एक बार मिसेज़ 'क्ष' का माथा दुखने लगा। उसमें मेरा तो कोई कसूर नहीं था। फिर भी मैं आफिस जाने के लिए ज़ीना उतरने लगा और अपने पास रहनेवाले पड़ोसियों को बात करते सुना तो रुक गया।

"बेचारी आज बहुत बीमार लगती है।"

"बीमार तो क्या है ? पर इसका पति जानवर-जैसा है। कोई खटपट हुई होगी। मारा-पीटा होगा। हम लोग पढ़-लिखकर भी, आदि आदि"।

इस तरह मिसेज़ 'क्ष' का सिर दुखने पर भी कसूर मेरा होता था। और मान लो मैं मार-पीट भी देता तो इसमें किसी को पंचायत करने की क्या ज़रूरत थी। वह आखिर को तो मेरी पत्नी है। घर में माँ-बाप का भी मुझे उतना ही भय था।

"भाई 'क्ष' इस मैना के लिए तुम इतना भी नहीं करते। तुमने इसे बहुत दुखी कर रखा है।" आदि बातों से तो यही लगता था जैसे घर में मालिक तो वही है और मैं यों ही फालतू हूँ।

इतने ही से दुःख दूर हो जाता तब तो कुशल थी। एक शाम को थका-माँदा घर आकर सहधर्मिणी के निकट कुछ देर एकांत में बैठने की आशा रखता था कि उसी समय एक दोस्त दरवाज़ा खटखटाकर आ

खड़े हुए। "क्या हाल-चाल है मि० 'क्ष'? क्यों मिसेज 'क्ष' प्रसन्न हैं न? मुझे कल न थी—मैंने कहा चलो जरा मैना बहन के यहाँ हो आऊँ!"

"क्या कोई खास काम है?"

वह कुछ आकर्षक ढंग से बोला—"नहीं खास-वास तो कुछ नहीं। मैना बहन, तुम तो जानती ही हो अपनी भाभी को। हमारा घर तो ठीक-ठाक है। मन में ज़रा उद्वेग हुआ तो तुम्हारे पास आ गया।"

मालूम हुआ कि भाई या पत्नी में न पटी तो मेरे घर आगये। इस प्रकार के लोग आते, मिसेज़ 'क्ष' के पास घण्टों बातें करते और सेवक चुपचाप बैठा रहता। अथवा हाँ में हाँ मिलाता। मैना बड़ी शीतलता के साथ उनका दुःख सुनती, आश्वासन देती और शान्तिपूर्वक विदा देती। दूसरों के यहाँ इस तरह की कोई स्त्री न मिलती—क्या इसी से मेरा घर इस गाँव का चबूतरा बना दिया गया है?

एक दिन रात के ग्यारह बजे मैना गाने बैठी। एक के पीछे दूसरा गाना छेड़ बैठी। बहुत दिनों पर मुझे उसका गान पास बैठकर सुनने का अवसर मिला। थोड़ी देर में खिड़की से झाँककर नीचे देखता हूँ तो नीचे पन्द्रह-बीस आदमी आँखें ऊँची किये हमारी खिड़की की ओर ताक रहे थे। मैंने क्रोधावेश में खिड़की ज़ोर से बन्द कर दी। मेरा मकान पहली मंजिल पर था। दूसरे दिन मैंने मकान-मालिक को नोटिस दी। अब तो मैं पाँचवी मंजिल पर रहता हूँ जिससे मैना की आवाज़ नीचे सुनकर लोग जमा न हों।

इस प्रकार की घटनाएँ दिन-रात होती रहने से मेरा स्वभाव बिगड़ता गया। मैं क्या करूँ। मुझे किसी भी मित्र का मुँह अच्छा नहीं लगता, न कहीं जाना अच्छा लगता है। घर बैठे रहना भी नहीं रुचता। सारे दिन कोई-न-कोई मैना के साथ बात-चीत कर जायगा, उसके हास्य विनोद का आनन्द ले जायगा, यह विचार आया करते हैं। पर सब से बड़ी पीड़ा तो दूसरी ही है। यह दुःख किससे कहूँ? मैना को कहने जाऊँ तो उसे बुरा लगेगा। दूसरे किसी को कहूँ तो वह

हँसेगा। न कहूँ तो अन्दर ही अन्दर जल मरूँ। बहुत बार मैना पर चिढ़ आती है और स्त्री-शिक्षा पर धिक्कार आती है। मेरी किसी मूर्ख या कुरूप स्त्री से शादी हुई होती तो यह चिन्ता तो न रहती कि मेरे सिवा कोई और उसकी ओर देखेगा—पर यह तो शिक्षा का उलटा युग है और सभी स्वतन्त्रता के भक्त हैं। यदि ज़रा भी सख्ती करने जाऊँ तो कहेगी—"देखा इन उच्च-शिक्षा-सम्पन्न को ? स्त्री को बाहर भी नहीं निकालते।"

भगवान न करे मैं बड़ा सम्राट् बन जाऊँ तो पहला कानून तो स्त्रियों पर प्रतिबन्ध लगाने का करूँ; केवल नाक-कान कटी स्त्रियों को ही खुले बाजार जाने की आज्ञा दूँ। पुराने रिवाजों का रहस्य मेरी समझ में अब आया है। जब तक यह कानून नहीं बन जाता कि, कोई भी पुरुष न तो परकीया स्त्री की ओर देखेगा न उसकी बात सुनेगा, उसका गाना सुनाई देने पर कान बन्द कर लेगा और इस तरह का कानून भंग करनेवाले को जब तक मृत्यु-दण्ड न मिल जाय, तब तक सभी स्त्रियों को बाहर न निकलने दिया जायगा, अन्यथा यह दृढ़ निश्चय करना होगा कि अपढ़ और कुरूप स्त्रियों के सिवा और सभी स्त्रियों को त्याज्य कर दिया जाय। यह कानून अद्भुत होगा ? पर किया क्या जाय ? अब सम्राट् बनने की लाइन दिन पर दिन घटती जा रही है। जन्म लिया तो—हजार वर्ष पहले जन्म लेना अच्छा होता ? छोड़ो यह सब बातें।

मेरा सद्भाग्य यही है कि मैना यह सब बातें समझती है और मेरी दिलचस्पी न घटे, इसके लिए अनेक प्रयत्न भी करती है; पर इस से क्या होता है, मेरी मैना जब मेरी अपनी है—उसका स्वामी मैं हूँ तो दूसरे यह लप-झप क्यों करते हैं ? सुख का आश्वासन भी मिल जाय और सुख न मिले तो फिर भाग्य का दोष समझो। उसमें मैं क्या करूँ। पर कोई समझता नहीं। दुःख होता है और मेरा मन

अधिकाधिक रूप में ऊबता है। पर इसका उपाय क्या है? शीघ्र ही कोई रास्ता करना पड़ेगा, और यदि इसका कोई उपाय न हुआ तो देखना स्त्री-शिक्षा बढ़ती जा रही है; आज मेरी बारी है तो कल आप की बारी भी आ सकती है।

नई आँखें, पुराना तमाशा

मिस्टर रेवड़िया का और मेरा सम्बन्ध गुरु-शिष्य का था; गोखले और जान्सन का सम्बन्ध कहें तो कोई हर्ज न होगा। उनके रंग-ढंग, कपड़े-लत्ते और बोली-बानी का मैं अनुकरण करता था, क्योंकि मैं उन्हें महात्मा समझता था। उनके जीवन-सिद्धान्त में मुझे श्रद्धा थी, उनके वाक्चातुर्य पर मैं मुग्ध था। मैं उन्हें दुर्जेय मानता था।

मि० रेवड़िया का जीवन-सिद्धान्त चालू ज़माने का था। वे उसके पुजारी थे, उसीकी रहन-सहन के भक्त थे और उससे कुछ भी भिन्न होता तो वे उसके कट्टर शत्रु बन जाते। धनाढ्य होने के अतिरिक्त उन्होंने यूरोप और अमेरिका की अच्छी यात्रा की थी और वर्त्तमान साहित्य का सुन्दर रीति से अध्ययन किया था। वे बड़े ही चतुर, विद्वान्, नये सुधारवादी और फैशनेबल थे और अपने मतिमन्द पूर्वजों के क्रिया-कलापों को गहरे तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे। अपनी आर्थिक स्थिति और बुद्धिबल के अनुसार मैं भी उनका अनुयायी बनना चाहता था।

इस प्रकार हम बहुत लम्बे विचार के बाद एक दृढ़, निर्द्धारित और निष्पक्ष निर्णय पर पहुँचे और हममें उत्साह भर गया। वह निर्णय यह था कि सारा चातुर्य, सारी विद्या और सम्पूर्ण बुद्धि वर्त्तमान युग में टप से आ टपकी है। उन्हें विश्वास हो गया था कि आदिम-युगीन भारत में तो जंगली लोग रहते थे; उनके कार्य-कलाप बुद्धिशून्य और

कायरतापूर्ण होते थे। उनकी बुद्धि पर काई जम गई थी, और हमारे-जैसा चतुर, सुधरे, बुद्धिमान और चालाक सपूत पैदा करने के अतिरिक्त उन्होंने और कुछ नहीं किया।

इस निर्णय और त्रुटि के बारे में हम बहुत बार बातें करते। वर्त्तमान संस्कृति की विशेषताओं का बखान करते; पूर्वजों की मूर्खता पर हँसते। बहुत बार मि० रेवड़िया सवेरे दस बजे उठते। मुँह में सिगार और हाथ में चाय का प्याला रखते और ड्रेसिंग गाउन में पड़े-पड़े अनेक तर्क चलाते। ऐसे समय मैं वहाँ पहुँच जाता और कुढंगे पूर्वजों की दी हुई अपनी काली चमड़ी को भूलकर वे कैसे सुन्दर, फैशनेबल और अप-टू-डेट हैं, इसकी डींग हाँकने लगते, अन्यथा हम दोनों फैशनेबल कपड़े पहनकर बैण्डस्टैण्ड का चक्कर काटते और उस समय घड़ी-दो-घड़ी के लिए अपनी इस असलियत को भूल ही जाते कि हम जंगली और संस्कारहीन देश के निवासी हैं। झगड़ा सिर्फ यह था कि कोई मूर्ख आदमी मुझे या मि० रेवड़िया को देख लेता तो हमें गोआ-निवासी* समझता।

मि० रेवड़िया में एक और प्रशंसनीय गुण था। वह केवल आत्म-सन्तोषी नहीं थे। उनका इरादा यह था कि वे अपने सिद्धान्त का प्रचार सृष्टि के कोने-कोने में करा दें। वे इस बात को भी निश्चित मान बैठे थे कि भूतकालीन भारतीय बुद्धिहीन थे। यही नहीं, उनका ख़याल था कि हिन्दुस्तान के लोग यदि चालू ज़माने के सिद्धान्तों को सीख गये होते तो भी उनमें मनुष्यता आ जाती। उन्हें अपने वाक्-चातुर्य पर भी इतना अधिक विश्वास था कि उन-जैसे बुद्धिशाली और चतुर नररत्न ने यदि जनक और अशोक के समय में जन्म लिया होता तो भारत का अवश्य ही बेड़ा पार हो जाता—हम सब आज

---

* गोआ के लोग काले होने पर भी यूरोपियन पोशाक की अच्छी नकल कर लेते हैं।—अनु०

जंगली न रहकर सुधर गये होते और इतिहास आज और ही ढंग से लिखा जाता।

एक दिन रात के समय इस विषय पर हमने लम्बा विचार किया। उसके अन्त में मुझे कहना पड़ा—"मि० रेवड़िया! आप तो इतने उत्साही हैं कि अन्ततः स्वर्ग में जायँ तो वहाँ भी कोई-न-कोई नई बात कर डालें।"

"कैसे भला?"

"स्वर्ग में सड़नेवाले हमारे पुरखाओं को भी अपने मन्तव्य से लाभ पहुँचाएँ। वे बेचारे भी सुधर जायँ।"

"सच्ची बात है। Better late than never, स्वर्ग में ही सही, भला बुड्ढे पुरखाओं को अक्ल तो आये।"

"यह बात भी सच है। अच्छा नमस्कार।" कहकर मैंने विदा ली।

× × × ×

मैं अपने घर गया। पर मेरे मन से यह बात टली नहीं। लम्बे विचार करते हुए अनेक तरंगें उठीं और मि० रेवड़िया के स्वर्ग में जाने और महात्माओं से मिलने पर उनके पुराने जीवन में क्या हेर-फेर हुए होंगे, इस विषय पर भी मन के पंख डोले। बहुत देर तक उसकी उधेड़-बुन करने के पश्चात् मैं सो गया। सोकर भी मैं जैसे जाग ही रहा था। आँखें मिंची थीं या खुली, इसका भान नहीं रहा।

मुझे ऐसा लगा कि मैं सो रहा हूँ और इतने में जैसे कोई मेरे मित्र तथा पूज्य गुरु रेवड़ियाजी का सन्देश लाया।

"आज पाँच-पाँच युग हो गये वे स्वर्ग में सुधार करने में लगे हैं और अब वे आपको बुला रहे हैं।"

"मुझे किसलिए?"

"वे सुधार देखने के लिए। चलना हो तो विमान तैयार है।"

"मेरी पूज्य-भावपूर्ण बुद्धि ने छलाँग मारी। मैं यह बात भूल गया कि अभी कुछ ही घण्टे पहले मैंने मि० रेवड़िया से बातचीत की थी,

और मैं उनकी स्वर्गीय विजय देखने के लिए झट खड़ा हो गया। चट-पट कपड़े पहने और विमान पर जा चढ़ा। हम उड़ चले। अन्त में मेरे साथी ने बताया कि हम स्वर्ग पहुँच गये हैं।

स्वर्ग देखकर मन में अपार असंतोष हुआ। मैं तो वहाँ विशाल अट्टालिकाएँ, चौड़े राजमार्ग, लम्बी मोरियाँ, बाग-बगीचे, मिल की चिमनियाँ आदि देखने की आशा में था; पर वह तो एक विस्तृत वन-सा दिखाई दे रहा था।

"यह है स्वर्ग! नान्सेन्स?"

"हाँ, यह स्वर्ग का हिन्दुस्तानी विभाग है।"

"यहाँ भी हिन्दुस्तानियों में अक्ल होने का कोई प्रमाण नहीं दिखाई देता।"

"महाराज," मेरे साथी ने कहा—"यहाँ अभी उतना सुधार नहीं हुआ है जितना होना चाहिए। अभी थोड़े दिनों से महात्मा रेवड़िया के प्रताप से वृक्षों की गिनती होने लगी है, और अब ठेका देने का विचार हो रहा है।"

मुझे प्रसन्नता हुई। मेरे मित्र तो सचमुच नये ज़माने के ही थे। शाबाश! शिक्षा इसका नाम है।

"मि० रेवड़िया ने यह सुधार किस प्रकार आरम्भ कर दिये?"

"पहले तो वे अपने साथ बहुत-से सामान लाये और धीरे-धीरे सबको सुधार का स्वाद चखाने लगे।"

"यह बात है! अच्छा, चलिए। मुझे शीघ्र ही और सब दिखा दीजिए। मैं आलसी नहीं हूँ। समय का बड़ा मूल्य है।"

"जी हाँ, इस ओर चलिए।" कहकर मेरा साथी बन में घुस पड़ा।

मेरे मित्र ने क्या-क्या परिवर्त्तन किये हैं, मैं किस-किसको देखूँगा, वे कैसे होंगे, आदि बातों के बारे में मैं विचार करने लगा। बम्बई-जैसे सुघरे शहर में रहने के बाद जंगल अच्छा न लगने पर भी अपने पूज्य

मि० रेवड़िया का प्रताप देखने के लिए आगे बढ़ा। कहाँ तक गया, कितनी देर चलता रहा, इसका कोई हिसाब नहीं रहा।

दूर से एक बेसुरे सरोद की आवाज़ आयी, और उस ओर घूमते ही देखा एक तेजस्वी वृद्ध, जिन्हें हमारे अनजान लोग महात्मा कहते हैं, उस बाजे को बजा रहे थे। उनकी आँखों में तेज दिखायी दे रहा था; पर मेरी राय में तो दाढ़ी इतनी लम्बी बढ़ने देना सुधार के इस ज़माने के प्रतिकूल था। हमारे रेवड़िया-पन्थ के अनुसार तो सवेरे सूर्योदय के पहले दाढ़ी-मूँछ साफ कर देनी चाहिए। सरोद बजानेवाले महात्मा मृगचर्म पर रुई का एक गद्दा डालकर बैठे हुए थे। उनके सामने सुगन्ध की शीशियाँ पड़ी थीं। पास ही एक विशिष्ट पात्र में आइस्क्रीम जैसी कोई विशेष चीज़ रखी दिखायी दी। मैं चकित हुआ कि आखिर यह विभिन्न मूर्त्ति किस महाशय की है। बड़ी उत्सुकता हुई। मैंने पास जाकर उन्हें नमस्कार किया। वृद्ध पुरुष ने सरोद बजाना बन्द कर दिया।

"महाराज ! आप क्या कर रहे हैं ?"

"बेटा ! तुम इतना भी नहीं समझ सकते।"

"नहीं।"

"अर्थशास्त्र का नियम है कि मनुष्य को अपनी आवश्यकताएँ बढ़ा देनी चाहिए। इससे मनुष्य मेहनती बन जाता है। मेहनती होने से दुनिया में सुधार हो जाता है।"

मेरा आश्चर्य बढ़ा। यह तो मि० फॉसेट के अर्थशास्त्र का बन्धन है। यह यहाँ आ गया ! अवश्य यह मेरे मित्र का प्रताप होना चाहिए।

"पर आप यह कर क्या रहे हैं ?"

"अच्छा, यह भी नहीं समझते ? मैं अपनी इन्द्रियों का विस्तार कर रहा हूँ। विषय-लालसा बढ़े बिना आवश्यकताएँ नहीं बढ़तीं। स्वाद-विस्तार के लिए यह आइस्क्रीम है। गन्ध के लिए ये सुगन्धियाँ रखी हैं। स्पर्श-सुख भोगने के लिए ही यह गद्दी लगा रखी है और इस

सरोद से मुझमें संगीत का संस्कार बढ़ने लगा है।"

"तब तो अब केवल रूप ही शेष रहा है?" मेरे मुँह से निकल गया।

"उसमें मैं चूकनेवाला नहीं हूँ। मैंने यूनान देश के शिल्पियों द्वारा निर्मित कितनी ही नग्न मूर्तियाँ मँगा ली हैं।"

"वे यहाँ कहाँ से आ गयीं?"

"तुम्हें पता नहीं है? तुम नये आये दीखते हो। अभी थोड़े दिन हुए एक महात्मा की प्रेरणा से यहाँ एक बड़ा आश्रम बन गया है, उस में अनेक प्रकार के साधन प्राप्त होते हैं।"

"वे महात्मा कौन हैं?"

"रेवड़िया नाम के एक सज्जन हैं।"

"हाँ!" मैंने हर्ष से गद्‌गद होकर कहा।

"पहले तो हमें इन सब बातों का पता नहीं था; पर इन सज्जन के आते ही हमारी आँखें खुल गयीं। अब हम सुधरने लगे हैं।"

"पर महाराज! रूप, रस, गन्ध आदि का आनन्द लेने के लिए क्या अभ्यास करना पड़ता है? हमें तो यह सब सहज ही आ जाता है।"

"भाई, आप सब भाग्यशाली हैं। हम तो जंगली थे। और उनमें भी मैं तो सब जंगलियों का शिरोमणि था। उस जीवन को फेंके छः हज़ार वर्ष हो गये। मैंने एक ढोंग रचा था जिससे मैं मूर्ख रहा और दूसरे को भी वैसा ही रखा।"

"कैसा ढोंग?" तिरस्कार से अपनी ओर देखते हुए वृद्ध से मैंने पूछा।

"मेरे मूर्ख मन को ऐसा लगा कि रूप, रस आदि का त्याग करना चाहिए। वैराग्य फैलने से मनुष्य सुधरा हुआ समझा जायगा, इस प्रकार मानते हुए छः हज़ार वर्ष व्यतीत हो गये; परिणाम यह हुआ कि सारी इन्द्रियाँ विरागी बन गयीं। अब उनको शिक्षित करना मुश्किल

हो गया है। कौन जाने मैं कब सुधरूँगा?" निश्वास लेते हुए उन्होंने कहा।

"महाराज! क्षमा कीजिएगा। आप पहले आश्रम में कौन थे?"

"उँह! जाने दो न अब इन सब बातों को। मुझे सब वशिष्ठ के नाम से मानते थे।"

"कौन महात्मा वशिष्ठ!" मेरे मुँह से ज़ोर से निकल गया और मैं अपना सिद्धान्त भूल "भगवान वशिष्ठ" कहकर उन आदि-ऋषि को साष्टांग दण्डवत् करने जा रहा था; पर उन्होंने रोका।

"बच्चे! तुम अभी मूर्ख हो। मैं वैसा मानने-योग्य नहीं हूँ। महात्मा रेवड़िया ने मुझे विश्वास दिला दिया है कि मैं मूर्ख हूँ—ख़ैर, यह सब बहुत हुआ—यह एक शिष्य यूनानी मूर्त्तियाँ ले आया है। इससे मेरे अभ्यास में बाधा पड़ती है।"

मैं चुपचाप वहाँ से चल पड़ा। मुझे हर्ष हुआ कि इस प्रकार रेवड़िया-पन्थ बढ़ेगा तो अवश्य ही स्वर्ग में भी सुधार हो जायगा। धीरे-धीरे सरोद का बेसुरा राग सुनाई देने लगा। मैं अपने साथी को लेकर वापस घूमा और मि० रेवड़िया की बुद्धि का बखान करने लगा।

थोड़ी दूर जाने पर एक महावृक्ष के चबूतरे पर एक दूसरे वृद्ध गला मरोड़े पद्मासन में बैठे थे। उनकी तेजोमय कान्ति, श्वेत दाढ़ी उनके प्रति श्रद्धा की भावना उत्पन्न करती थी। आस-पास बहुत-से लोग छोटी थैलियाँ लिये खड़े थे और कोई एक शिष्य हाथ जोड़े खड़ा था। मैं पास गया, नमस्कार किया और खड़ा हो गया। महात्मा ने मुझे देखकर पूछा—

"नये-नये आये हो?"

"जी हाँ! आपके दर्शन का लाभ लेने यहाँ आया हूँ।"

"जाओ! मुझे अवकाश नहीं है। इतने सारे लोग मुझे मिलने के लिए तरसते रहे हैं, इसलिए अपनी बात संक्षेप में कहो।"

"महाराज ! मैं तो केवल यह पूछने आया हूँ कि ये सब क्या कर रहे हैं ?" मैंने कहा।

"यह भी नहीं पता है ? ये सब धर्म और आचार के विषय में मेरा मन्तव्य जानने के लिए आये हैं।"

"पर ये थैलियाँ कैसी हैं ?"

"क्यों ? उनमें से जो अधिक रुपये देंगे उन्हीं के लाभ के उपदेश मैं दूँगा। मैं सृष्टि में आदि स्मृतिकार था।

"कौन महात्मा मनु ?" मैंने फिर कहा।

"हाँ ! पहले मैंने एक धर्म-शास्त्र की रचना की थी; पर उस समय मैं ज़रा जंगली था जिससे सभी के लिए शास्त्र-रचना कर डाली थी। मैं तब समझता था कि धर्म की शिक्षा निस्स्वार्थ भावना से देना ही सार्थक है।"

"इसलिए अब शास्त्र के सिद्धान्त बेचने लगे हैं ?"

"पागल कहीं का ! अरे भई पहले मैं जंगली था इसलिए धर्म-शिक्षा मुफ्त दिया करता था, अब एक महात्मा के प्रताप से हम सब सुधर गये हैं और जो अधिक मूल्य दे उसके लाभ के लिए अपना परामर्श देता हूँ, क्योंकि जहाँ पैसा है वहीं न्याय है।"

"ये महात्मा कौन रेवड़िया ?" मैंने प्रसन्न होकर कहा।

"हाँ वही ! जाओ। अब मेरा बहुमूल्य समय नष्ट हो रहा है।" पर मैं तो उनके यह बात कहने के पहले ही चल पड़ा। मेरे मित्र रेवड़िया का प्रभाव यहाँ तक पहुँचेगा, इसका मुझे ज़रा भी खयाल नहीं था। शाबाश मेरे वीर ! सुधरे ज़माने के उन्नायकों में तुम्हारा नाम इतिहास में अमर हो जायगा।

"भाई !" एक संशय होने के कारण मैंने अपने साथी से पूछा—"ये सब इतने दबे हुए से कैसे रहते हैं ?"

"कौन जाने। भारत-विभाग के सभी स्त्री-पुरुष ऐसा ही करते हैं। वासना छोड़कर—इन्द्रिय-निग्रह करके इनका स्वभाव ऐसा विचित्र हो

गया है कि महात्मा रेवड़िया का सिद्धान्त स्वीकार करते हुए उनपर बहुत दबाव पड़ता है।"

"कोई हर्ज नहीं। आखिर सुधरे बिना तो काम नहीं चलता? ठोक-पीटकर इतने पुराने जंगलीपन से तो बचाना ही चाहिए।" मैंने कहा।

अब और क्या कहूँ? हम बहुत घूमे-फिरे, बहुत देखा, सर्वत्र रेवड़िया-पन्थ की दिग्विजय दिखायी दी। मेरी छाती गर्व से फूल उठी। उनमें एक-दो दृश्य तो बड़े ही रसमय थे जिनका वर्णन करके मैं अपनी स्वर्ग-यात्रा का विवरण समाप्त करूँगा।

मैंने भगवान चाणक्य को देखा। मि० रेवड़िया की शिक्षा के अनुसार वे कार्यदक्षता—efficiency—का पाठ पढ़ते दिखायी दिये। जो महात्मा सारे इतिहास में चतुर-शिरोमणि थे, जिन्होंने अपना जीवन लगाकर सारे भारत में मौर्य-राजसत्ता जमायी थी उनमें भी वर्त्तमान युग के अनुसार ही कार्यदक्षता आती है, यह बात उन्हें स्वीकार करते देखा। उन्होंने मृगचर्म छोड़कर कुर्सी-मेज़ स्वीकार कर लिया था; किन्तु पद्मासन का अभ्यास होने के कारण कुर्सी पर भी पद्मासन लगाकर ही बैठे थे। धोती पहनने से कार्यदक्षता नहीं आती इसलिए उन्होंने पतलून और बड़ा बूट पहन रखा था। जटा रख लेने से बेपर्वाही आ जाती है, इसलिए उसे छिपाने के लिए हैट लगा रखी थी! अहा हा! हमारे सिद्धान्त की दिग्विजय थी! कारण यह था कि जब तक मनुष्य कुर्सी-मेज़ पर नहीं बैठता, बूट-पतलून न पहने और हैट न लगाये तब तक कार्यदक्षता और चतुरता उसमें आ ही नहीं सकती। यदि महात्मा चाणक्य को यह सब पहले मालूम होता तो उन्हें धारण कर वे भरत-खण्ड के बदले सारे एशिया पर मौर्य सम्राट् का झण्डा फहरवाकर छोड़ते।

इससे भी बढ़कर प्रभावशाली प्रसंग एक और जगह आया। मैंने आठ-दस व्यक्तियों की एक टोली देखी।

"भाई !" मैंने अपने साथी से पूछा—"ये सब कौन हैं ? मैं तो इन लम्बी दाढ़ीवाले महापुरुष को ही पहचानता हूँ।"

"हाँ ! ये तो मुस्लिम गौरव-भंजक शिवाजी महाराज हैं। ये पौला पहने, हाथ में परशु धारण किये महावीर परशुराम खड़े हैं; और वे यूनानी सत्ता को चूर-चूर करनेवाले प्रतापशाली चन्द्रगुप्त मौर्य हैं जिनकी गाथा दिग्दिगन्त तक सुनायी पड़ती थी। उधर पेड़ के पास महाराजाधिराज श्रीहर्ष खड़े हैं।"

"ओ हो ! पर यह साधु इन सबसे बड़े जोश से क्या कह रहे हैं ?"

"यह साधु-जैसे महात्मा जड़भरत हैं। ये रेंगनेवाले छोटे जीव-जन्तुओं की हिंसा से बचाने के विचार से धरती पर पैर रखते भी डरते थे।

"अच्छा ! ये अब क्या कहते हैं ?"

"ये अब योद्धाओं को उपदेश दे रहे हैं।"

"किस विषय का ?"

"भरत ने नया पन्थ स्वीकार कर लिया है और वे सबको कहते हैं कि आर्यगण पागल और कायर हैं, क्योंकि वे सागसब्जी खाकर रहते हैं। ये इन सबको मांसाहारी बनने की शिक्षा दे रहे हैं, क्योंकि इसके बिना न शौर्य आता है न साहस।" मैं सब समझ गया।

"यह बात है ! शाबाश मेरे रेवड़िया तुम्हारी क्या स्तुति करूँ ?" कहकर मैं रवाना हुआ।

आगे मैंने भगवान बुद्ध को देखा, वे भी सुधर गये थे, और एक बीमार को कह रहे थे—"यह तेरा भोग है जो तुझे भोगना ही पड़ेगा। विश्व-नियम के अनुसार योग्य व्यक्ति ही जीवित रहते हैं। संसार में रस्साकशी होनी चाहिए, मार-पीट होनी चाहिए और दुर्बल हुआ तो उसका भोग भोगना ही पड़ेगा। मुझे भगवान बुद्ध के मुँह से डार्विन की बातें सुनाई पड़ीं और मुझे ऐसा लगा कि भगवान बुद्ध ने ये बातें अवश्य ही मि० रेवाड़िया से सीखी होंगी।

इस प्रकार घूमते-फिरते हमें जो अन्तिम अनुभव हुआ वह तो नमूने के लायक था, और वर्त्तमान युग के सिद्धान्त स्वर्ग-लोक में किस प्रकार प्रसारित हो गये हैं उसका मुझे विश्वास हो गया।

एक दुर्बल रोगी मनुष्य भूमि पर पड़ा था। एक बलकल-धारिणी सुन्दर तरुणी पैरों में ऊँची एड़ी के जूते पहने, चश्मा लगाये वहाँ क्रोध-पूर्वक खड़ी थी।

"सती! मैं अब नहीं बचूँगा। मुझे ज़रा पानी दो।" बड़े परिश्रम से साँस लेते हुए उस दुर्बल रोगी ने कहा।

"मरते समय भी शान्त नहीं रहा जाता, सत्यवान! तुम तो बीमार थे, फिर विवाह किसलिए किया? तुममें मेरी आवश्यकता पूर्ति करने की शक्ति नहीं थी तो नारद को मेरे पास क्यों भेजा था? तुम्हारे जैसे को स्त्री रखने का क्या अधिकार है?" हाथ पर हाथ पटकते हुए सावित्री ने कहा।

"सावित्री! जो हुआ सो हुआ," मृत्यु के द्वार पर पहुँचे हुए सत्यवान ने कष्टपूर्वक कहा—"पर कुछ तो कृपा कर, तू जो कहे सो करूँ। चाहे जो हो, पर मैं तेरा पति हूँ।"

"उससे क्या? मैं कोई गुलाम नहीं हूँ। अपने लिए मेरा जीवन नष्ट करने का तुम्हें कोई अधिकार नहीं था? ठीक, लो पानी देती हूँ; पर तुम्हारी जो सम्पत्ति हो वह मेरे नाम वसीयत कर दो।"

"क्या यह वसीयत का मौका है? धन की चिन्ता पहले? अरे रे! इस समय यह क्या कहती है।" सत्यवान ने कहा।

इतने ही में यमराज आ गये। सत्यवान को उन्होंने पकड़ लिया। सावित्री ने सत्यवान का पैर पकड़ लिया।

"भद्र महिला" यमराज ने कहा—"यह क्या कर रही है? मरते मनुष्य को इस प्रकार खींच रही है। पाँव क्यों नहीं छोड़ती? तेरे पति की मृत्यु निकट है।"

"जाने कैसे दूँ? कब से कह रही हूँ; पर यह नहीं सुनते। जब तक

यह मेरे नाम वसीयत नहीं कर देते, तब तक मैं न छोड़ूँगी। मैं इनका पाँव पकड़े साथ-साथ आऊँगी।"

"तुझे और कुछ चाहिए तो माँग, मैं दे दूँ। पर इसे छोड़ दें। मुझे जल्दी है।"

"तो फिर मुझे एक दूसरा अधिक सुन्दर और शक्तिमान पति..."

एक पल में यमराज अन्तर्धान हो गये। सावित्री और सत्यवान भी अदृश्य हो गये। मैं अपने उसारे में खाट पर पड़ा था। थोड़ी ही झपकी के बाद मैं जगा था। स्वर्ग गया महात्माओं से मिला। प्रसन्नता हुई। चारों ओर रेवड़िया-पन्थ की जयजयकार थी। मि० रेवड़िया-जैसे सपूत पूर्वजों की अपेक्षा कितने सुधरते जा रहे थे।

अपनी सफाई में

कौन जाने मेरे जन्म के समय मेरे माँ-बाप किसी भय से संत्रस्त थे अथवा ग्रह, नक्षत्र या राशि का कोप होने के कारण वे काँप रहे थे या अनजान दाई ने मेरी खोपड़ी में आ रहे साहस और पुरुषत्व को दबा दिया था, पर यह तो निश्चित है कि भूतल पर मेरे जैसा साहसहीन स्वभाववाला व्यक्ति आपको कठिनता से दृष्टिगोचर होगा।

मेरी माँ यदि ठीक कहती हो तो बचपन में मेरा जैसा शान्त लड़का और कोई नहीं था। मैं कभी रोता तो तभी जब अकेला होता। मुझे रोने की आकांक्षा तो बहुत हुआ करती रही होगी, और उसे अकेले-अकेले पूरी भी करना पड़ता रहा होगा, पर यदि ऐसी अवस्था में कोई आ जाता तो मेरी ज़बान जैसे तलुवे में चिपट जाती थी, फिर रोता भी तो कैसे ?

मैं पाठशाला में भी शान्त और होनहार लड़का गिना जाता था। और सभी लड़कों से पहले—नौ बजे ही मैं वहाँ पहुँच जाता। कभी-कभी तो देर तक स्कूल में यों ही घूमता फिरता। स्कूल की खिड़कियाँ तक न खुली होतीं, तो भी मैं पर्वाह न कर वहाँ पहुँच ही जाता। रास्ते में कोई जान-पहचानवाला न मिल जाय, यह ख़याल रहता था। स्कूल में मास्टरों को प्रसन्न करके अच्छे नम्बर प्राप्त कर लेता था, और शाम को जब सब लड़के घर जा चुकते उसके एक घण्टा बाद घर लौटने के लिए निकलता था। कहीं दूसरे लड़कों के साथ भी आया-

जाया जाता है ? यह विचार आते ही मेरा माथा दुखने लगता।

एक दिन तो मुझ पर खूब बीती। पहला नम्बर आने पर नियमानुसार मैं मानीटर तो बन गया; पर मेरा अंग-अंग टूटने लगा। मुझे जोश भरने की तैयारी हुई। बड़ी मुश्किल से मैं घर लौटा और बीमारी का बहाना करके लेट रहा। अब क्या होगा—पूरे सप्ताह क्लास में कैसे जाऊँगा—दूसरे लड़कों से कैसे बातचीत करूँगा; यह सब विचार करते सारी रात बीत गयी। सवेरे के जागरण का सचमुच ताव आ गया। इसी तरह किसी तरह पाँच दिन पूरे हुए और उसके बाद मैंने ऐसी व्यवस्था कर ली कि मुझे एक-दो लड़कों की अपेक्षा कम ही नम्बर आयें।

ज्यों-त्यों करके कालेज की पढ़ाई पूरी करने के बाद मैं नौकरी करने लगा और ऐसा ढंग पकड़ा, जिससे जहाँ तक हो, किसी के सम्पर्क में न रहना पड़े। मेरे आफिस में पुराने कागजात के लिए एक खास कारकुन था। वह तो बस एक बड़े कमरे में बैठा ही रहा करता। उस के पास कभी कोई नहीं आता था, और वह बीस-पच्चीस क्लर्कों की लश्कर से सबमें अधिक मजे में था। उस कारकुन के मरते ही मैं एक अर्जी अपने साहब को चुपचाप लिखकर रात होते ही डाक में डाल आया। मेरे साहब की मुझ पर बड़ी कृपा है। वह मेरी बात जान गये थे, इसलिए उस मृतक क्लर्क के काम पर मुझे ही नियुक्त कर दिया। तनख्वाह भले ही दस रुपये कम थी, पर किसी की कोई झंझट नहीं थी।

मैं बम्बई से ऊब चुका था। पहले तो मैं कहीं सबसे निचली मंज़िल में रहना चाहता था। ऊपर रहने पर मानलो निचली मंज़िल में आग लग जाती तब तो मैं ऊपर आकाश में रह जाता न ? मान लीजिए जीना तंग हो और बीस जने घर में रहते हों तो सभी साथ उतरने की जल्दी करेंगे, तब फिर तुम्हारा कहाँ पता लगेगा ? इस से मैंने उसकी बात ही नहीं की।

पर जहाँ मैं नीचे की मंज़िल में रहने लगा वहाँ एक दूसरी ही दिक्कत पैदा हो गयी। पहले ही दिन एक महाशय मिले। मैं उस समय अपनी कोठरी के किवाड़ खोल रहा था। "क्यों भाई! आज आये?" उन्होंने पूछा। मेरे हाथ काँप उठे। बड़ी कोशिश की; पर हाथ ऐसे कँपे कि ताले में कुंजी ही न घूमती थी। वह सज्जन क्या समझेंगे? "कहाँ के रहनेवाले हैं?" उन्होंने दूसरा प्रश्न किया। मैं तो बहुत घबड़ा उठा और अपना प्रयत्न बन्द करके दूसरी ओर छिपकर बैठ रहा। मेरा शरीर पसीने-पसीने हो रहा था।

इन्होंने मुझे क्यों पूछा? यह खुफिया पुलिस का तो नहीं है? सम्भव है मेरा नाम किसी षड्यन्त्र में आ गया हो? फिर मैं दो-तीन घण्टे बैठा ही रहा। किवाड़ ज़रा खोले, इधर देखा, और जब कोई न न दिखायी दिया तो झटपट ताला लगाकर नौ-दो-ग्यारह हो गया। कुछ दिनों में मुझे समझ आगयी कि कितने ही लोगों को बिना जान-पहचान के ही खोद-विनोद करने की टेव होती है—वह मेरे पीछे नहीं पड़ेगा। मैंने विचार किया कि कहीं एकान्त में जाऊँ तो ठीक हो। पर गुप्तचर का भय वहाँ भी पिण्ड न छोड़ता? अन्त में निश्चय किया कि चाहे जो हो, पर बात करने की आफत कैसे सहन की जाय? मुझे तो रोज कँपकँपी आ जाती है।

मैं तुरन्त नोटिस देकर पाँचवीं मंज़िल पर चला गया। अब मैं निश्चिन्त हो गया। मेरे रहने के मकान में यह खूबी है कि नीचे तो सब दुकाने ही दुकानें हैं, ऊपर दो मंज़िल तक पेढ़ियाँ*। तीसरी मंज़िल पर परदेशी लोग रहते हैं जो साल में तीन-चार दिन आते-जाते है। चौथी मंजिल पर जो सज्जन रहते हैं उनके घर में दो जने पागल हैं। इसलिए उनकी झंझट में लगे रहने के कारण उस घरवालों को मेरी ओर देखने का अवकाश नहीं मिलता।

---

*व्यापार करनेवाली फर्मों के आफिस।

यह बम्बई की खूबी है, क्योंकि ऐसा एकांत यहाँ ही मिल सकता है। हाँ, एक भय इस शहर में बड़ा दुःखद है। ट्रामवाली सड़कों पर चलना-फिरना इसलिए कठिन है कि बिजली का तार टूट पड़े या मोटर और ट्राम लड़ जायँ तो जान आफत में आजाय! और मोटर चलाने-वाले ही सड़क पर मोटर इस प्रकार दौड़ाते है जैसे सरकार ने उन्हें खून करने की मंजूरी दे रखी हो और वे तो वैसे ही मनमानी ढंग से मोटर दौड़ाते जायँगे। 'मोटर' शब्द किसी के मुँह से सुनते ही मेरे रोंगटे खड़े हो जाते हैं। उसका भोंपू सुनने पर मेरे होश उड़ जाते हैं, इसलिए मैंने तो यह नियम ही बना लिया है कि मोटर की आवाज़ सुनते ही एक ओर की दीवार से चिपककर आँखें मींच लूँ, इस तरह मुझे कहीं भी पैदल पहुँचने में देरी हो जाया करती है; पर इससे क्या आधा घण्टा पहले ही राह पकड़ लें तो समय पर पहुँच सकते हैं। इससे खास का क्या जाता है। आफिस जाना होता है तो मैं तो चौपाटी के बाहर-बाहर के रास्ते ही जाता हूँ। ज़रा धूप तो लगती है, पर कोई डर तो नहीं होता और वापसी में बलार्डपियर होकर बाहर के रास्ते, लौटने पर जानपहचान वाला कभी कोई मिल ही नहीं सकता।

कोई यह न समझे कि मैं अल्प-बुद्धि हूँ। मैं निर्बल सही, पर मेरा यह विश्वास है कि जब-तक संसार में मेरे मत और स्वभाव के लोग न बढ़ेंगे तब तक वह कभी सुखी नहीं होगा। मैं यह भी मानता हूँ कि हमारे जो आर्य ऋषि-मुनि वनों में रहते थे, अहिंसा आदि की शिक्षा देते थे, उनका भी उद्देश्य तो यही था। आज मेरे-जैसे लोग अधिक नहीं हैं, इसीसे सरकार को कितने कानून बनाने पड़ते हैं? इस विषय पर मैं एक पुस्तक लिखने लगा हूँ। जब वह छपकर प्रकाशित होगी तो इस विषय में आप लोगों को आश्चर्य होगा और वे मेरी प्रतिष्ठा करेंगे।

आप भी किसी धोखे में न आजाइएगा कि मैं बहुत ऊँची भूमिका पर चढ़ गया और अब भी चढ़ता जा रहा हूँ। इस विषय में मैं अपने प्रिय विचारों के प्रसार, संशोधन और अभ्यास के लिए कितने

ही ऐसे विचार व्यक्त कर रहा हूँ जिन्हें मैंने फुटककर रूप में नोट कर रखा है। ऊपर बतायी गयी यही महत्त्वपूर्ण पुस्तक जब पूरी होगी तो मैं निम्नलिखित दूसरे विषय हाथ में लूँगा :—

१. सबसे अधम टीका-टिप्पणी के अधिकारी वे हैं जो किसीसे भी नहीं डरते। वह पशुओं की तरह चाहे जहाँ विचरते-फिरते हैं। अफ्रीका में जाना हो, उत्तरी-ध्रुव में पहुँचना हो, मंगलग्रह की यात्रा करनी हो तो इस श्रेणी के लोग पहले आगे आते हैं। लोग उनकी प्रशंसा करते हैं। मैं उन्हें धिक्कारता हूँ। कवित्व-शक्ति की ही तरह भय की अनुभूति-शक्ति भी ईश्वर-प्रेरित होती है। उस कारण से मनुष्य अधिक सूक्ष्म-रसपूर्ण और कुछ नये अनुभव कर सकता है। जिनमें यह शक्ति न हो वे तो जड़ हैं—"साक्षात् पशुः पुच्छविशाणहीनः" हैं।

२. अधम डरपोक—जो विनाशक चीजों—जैसे शेर, चीते, रेल-गाड़ी या अग्निकाण्ड आदि से डरते हैं।

३. मध्यम डरपोक—जो वस्तुस्थिति विनाशक हो जाती है वह पहले ही से विनाशक बन चुकी होती है, ऐसा मानकर व्यवहार करनेवाला।

४. डरपोक—जितनी वस्तुओं से भी डरने की सम्भावना हो उन सबसे डरनेवाला डरपोक होता है। उदाहरण के रूप में—भूत, गड़गड़ाहट और बिजली आदि से भयान्वित।

५. उत्तम डरपोक—जो अपने डरने का कारण जाने बिना ही भय खाते हैं।

६. श्रेष्ठ डरपोक—उन्हें भय का कारण जानने की आवश्यकता तो नहीं ही होती, पर साथ ही अकल्पनीय भय से भी वे डरते हैं। यह सर्वोत्तम भय है, और मैं यह मानता हूँ कि निर्विकल्प समाधि से इसका घनिष्ट सम्बन्ध होता है। इस बात का निर्णय करने के लिए मैं अगले वर्ष पतंजलि का योगदर्शन पढ़नेवाला हूँ, और मेरा विश्वास है कि यह स्थिति शेक्सपियर की कवित्व-शक्ति से कुछ मिलती है। इस स्थिति

तक मैं पहुँच गया हूँ, यह कहने की कोई खास ज़रूरत तो नहीं रह जाती।

मुझे अब कुछ अधिक नहीं कहना चाहिए, केवल अपने डरपोकपन के दो-चार ऊँचे और अभ्यास से तीव्र हुए भय के उदाहरण अनुभवी बुद्धि को दिये बिना काम नहीं चल सकता, इससे भविष्य में मेरा पदानुसरण करनेवाले किसी उत्साही डरपोक को ज्ञात हो सकेगा कि वह चतुरता में कहाँ तक आगे बढ़ा है।

तीन वर्ष में एक घटना हुई है। मेरी गृहस्वामिनी की तबीयत दिन-प्रतिदिन सुधरती गयी और वह हृष्ट-पुष्ट हो गयी। मेरा अर्द्धांगनी के साथ किस प्रकार परिचय हुआ, यह विषय इतना विस्तृत है और इसका प्रत्येक प्रसंग ऐसा गम्भीर रसमय एवं भयंकर है कि उसके लिए एक अलग पुस्तक ही लिखी जानी चाहिए। ये सभी प्रसंग छुटपन में ही हो जाने के कारण अब उन पर बहुत गर्द जमा हो चुकी है। तीन वर्ष मेरी गृहस्वामिनी कुछ मोटी पड़ी—कुछ पेट उभरा। मैं डरा कि कहीं कोई रोग तो नहीं हुआ। डाक्टर के यहाँ चलने के लिए मैंने उनसे विनती की, पर वे तैयार न हुईं तो मैं बहुत घबराया।

मैंने कहीं पढ़ा था कि स्त्रियाँ अपना रोग छिपाने के लिए डाक्टरों के पास नहीं जाया करतीं। मुझे निश्चिय हो गया कि रोग अधिक भयंकर मालूम होता है। बहुत चर्बी बढ़ने से हृदय की धड़कन बन्द हो जाती है, यह भी भय था। सोचते-सोचते सिर में दर्द हो गया। बाज़ार जाकर रोग-सम्बन्धी-पुस्तकें खरीद लाया और महीनों तक रोगों की चिकित्सा का अध्ययन करता रहा। मेरी अर्द्धांगनी का शरीर अकड़ने लगा, मुझे उसकी मृत्यु निकट आती प्रतीत हुई। मुझे दिन-रात में कभी नींद न आती थी। उसके मर जाने पर किन-किन चीजों की ज़रूरत पड़ेगी इसका विचार भी मैं करने लगा, जाति-बिरादरी-वाले तेरहवीं करने को कहें तो की जाय या नहीं, इसके बारे में भी संशय हुआ, संगी-साथी दूसरी स्त्री करने की सलाह दें तो उन्हें क्या जवाब देना चाहिए, यह भी सोचने लगा। ठोक-पीटकर ब्याह दूसरा भी हो

गया तो वह स्त्री कैसी निकलेगी, इस पर विचार करने बैठ गया। इन सभी विचारों से मैं घबराया। दिन-पर-दिन मेरी घबराहट बढ़ती जाती थी। अकेले मैं संत्रस्त फिरा करता। चिन्ता से ज्वर आ गया। ज्वर के कारण नौकरी से छुट्टी लेने की आवश्यकता जान पड़ी, पर उस चिन्ता का कारण दूर हो गया इसलिए वह भय जाता रहा।

एक दूसरे अवसर पर मैं एक सभा-भवन के आगे से गुज़र रहा था। "प्रत्येक मनुष्य को साहस रखना चाहिए; साहसी बनना चाहिए" मेरे कान में शब्द पड़े और मैं इस तरह चौंका जैसे बिजली गिरी हो। प्रत्येक व्यक्ति के साहसी बनने का क्या मतलब ? सरकार को ऐसे भयंकर खूँखार विचारों को तो सख्ती से दबा देना चाहिए।

सभी साहसी बनें ! तो फिर मेरा क्या होगा ? मुझे क्या देखना होगा ? मेरी तीव्र बनी हुई संस्कारी भयातुरता की वृत्ति का क्या होगा ? इन विचारों के आने पर मुझे ऐसा लगा कि ऐसे वक्ताओं से तो संसार डरता है। उन्हें रोकने के लिए कुछ करना चाहिए। तो फिर ? मुझे क्या करना चाहिए ? मुझे यह विचार आया कि क्या मैं भी भाषण दूँ ? पर हाय, यह कैसे हो सकेगा ? क्या लिखूं ?—मेरा निश्चय रद हो गया। साहस के विरुद्ध विग्रह आरम्भ हुआ ?

परन्तु फिर ? दण्ड-विधान की याद आयी। मानहानि का कानून नुकसान का दावा, हाईकोर्ट—सालीसिटर, बैरिस्टर ! घबराकर मैं अपने एक वकील मित्र के यहाँ जाकर कानून की किताबें लाया। इस विषय का कानून पढ़ा। दूसरी शंका हुई और मैं डर गया। इस प्रकार का एक लेख लिखने, काटने, मिटाने, जोड़ने में मुझे ग्यारह वर्ष लग गये। पाँच गिन्नी खर्च करके बड़े सरकारी वकील एडवोकेट-जनरल से राय लेनेका विचार हुआ। अन्ततः मैंने अपना लेख तैयार कर लिया।

मेरे किवाड़ कौन खटखटा रहा है ? पुलिस वारण्ट लेकर तो नहीं आयी है कि मैं क्या लिख रहा हूँ ? यदि ऐसा न हुआ तो मैं अपनी सफाई का यह लेख अवश्य प्रकाशित कराऊँगा।

स्मरण-देश की सुन्दरी

विदेही जनक ने ऋषि अष्टावक्र को पूछा था "यह सच्चा है या वह ?" और ऋषि ने उत्तर दिया था कि "दोनों ही झूठे हैं।"

क्या ऋषि झूठे नहीं होते ? तत्त्वज्ञान की विकट झाड़ी में राह भूलकर भटकते हुए को यह उत्तर नहीं दिया था ? दोनों ही सच्चे क्यों नहीं हो सकते—सच्ची कही जानेवाली सृष्टि और झूठी मानी जानेवाली बात क्या काल्पनिक सृष्टि है ? मीराबाई का मन क्या सच्चा था ? प्रभावशाली चित्तौड़ के पत्थरगढ़ या कल्पना-सृष्टि के वैकुण्ठ—हज़ार वीरों के नेता राणा कुम्भा क्या मन में ही नटवर गिरधारी की कल्पना न करते रहे होंगे ?

स्मृतिपूजक, वियोगी, प्रेम-संन्यासी का मन क्या सच्चा होता है ?—वर्षों पहले का एक छोटा-सा चुम्बन या पचास वर्ष साथ रखी हुई स्वीकृत स्थूल देहधारिणी, सहधर्मचारिणी ? मीराबाई ने तो वैकुण्ठ में विहार करने के लिए चित्तौड़ छोड़ा था; प्रेमयोगी के उस चुम्बन की याद रखने के लिए संसार-सुख नीरस मान लिया। कौन कहेगा कि दोनों सृष्टियों में कौन सच्ची है और कौन झूठी ?

बम्बई में वर्षा रूपगर्विता प्रियतमा से भी बढ़ी हुई है। आकाश में चाँदनी छिटक रही हो, और अभी आता हूँ कहकर छतरी लिये बिना घर से बाहर जाने की हिम्मत की कि दूसरे ही क्षण ऐसी मूसलाधार वृष्टि हुई कि उससे बचने को गोवर्द्धन पर्वत की आवश्यकता होगी।

बादलों के घोर गर्जन-तर्जन से डरते-डरते बरसाती ओवरकोट पहन हाथ में छतरी लिये सातों दिन फिरा कीजिए, पानी का एक छींटा भी न पड़ेगा।

एक बार मैं नाटक देखने गया तो ऐसा लगा कि बम्बई के आकाश को एक ऐसा ही हाथ दिखाने का मन हुआ है। एक बजे नाटकघर से बाहर निकले तो आकाश शान्त, रुपहली चाँदनी छायी थी और जेब में पैसे की तंगी होने के कारण मैंने अपने कमरे तक पैदल चल डालना पसन्द किया। पर गिरगाँव पोस्ट आफिस पहुँचते-पहुँचते बादल टूट पड़े; ऐसा भासित होने लगा जैसे प्रातःकाल तक प्रलय ही हो जायगी। अब कहाँ जाऊँ, कैसे बैठूँ इसका कोई उपाय नहीं सूझा। छतरी में से चूती हुई जलधारा मेरे सिर पर, कपड़ों पर रुद्री करने लगी। मेरी कोट के नीचे पहनी हुई कमीज भी एकदम भीग गयी। मेरा शरीर भीतर से उसके गीलेपन की सर्दी देने लगा। इस वृष्टि से छुटकारा पाते न देख मैं सिर नीचा कर आगे बढ़ने को तैयार हो गया।

कुछ दूर आगे जाकर मेरी गति एकदम अवरुद्ध हो गयी; किसी ने मेरा हाथ पकड़ लिया। मेरे हाथ से छतरी टेढ़ी हो गयी और बरसात की तेज बौछार ने मुझे अन्धा बना दिया। मैं चौंका। इस बाधा का कारण मैं नहीं समझ सका। पीछे जल-विन्दु की झड़ी के पर्दे से मैंने दृष्टि दौड़ायी तो लालटेन का कुछ प्रकाश दिखायी दिया। मेरा हाथ किसने पकड़ा था, यह देखकर मेरे होश उड़ गये—भगवान मेघ की भयंकर कृपा को तो मैं भूल ही गया। मेरा हाथ एक स्त्री ने पकड़ रखा था। मैं काँप उठा।

बरसात की झड़ी और लालटेन के प्रकाश में स्वप्न से रचित सुन्दर और मधुर वातावरण में एक सुन्दरी बालिका मैंने स्पष्ट देख ली। उसे देखते ही उसका अपूर्व सौन्दर्य मेरे मन में सदा के लिए वास कर गया। ब्रह्मा ने उसकी रचना में बड़ी ही छटा के साथ सुकुमारता की रेखाएँ बनायी थीं। उसकी दयामय, अश्रुपूर्ण नेत्रों की भवें कमान की तरह मानो

टूटना चाहती थीं। भय से उसका ओठ फीका पड़ गया था। उसके दमकते सौन्दर्य पर निराशा और भय की विषाद-रेखा छा रही थी। वह ऐसी विनम्रता के साथ ऐसी मुखमुद्रा से देख रही थी जैसे बाण के प्रहार से भयभीत हिरणी मरणापन्न अवस्था में देख रही हो। एक क्षण में ही मैं यह सब देख गया।

मैं स्वार्थी था। उस समय मैं अपने बारे में विचार कर रहा था। अब हाथ पकड़नेवाली स्त्री से मैं किस प्रकार छूटूँ? दुनिया के पाखण्ड से परिचित अनेक शंकाएँ मेरे मन में उठ खड़ी हुईं।

बरसात की प्रबल बौछार और दुःख के वेग से उस लड़की के पाणि-पल्लव काँप रहे थे। "भाई! भाई! मुझे ले चलो, तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ। ये सब मुझे मार डालेंगे। भाई! भगवान तुम्हें सुखी करेंगे।" उसने वीणा-विनिन्दत स्वर में कहा; पर साथ ही वीणा के टूटे तार के भग्न स्वर की पुट भी थी।

मैंने शंकाएँ दूर कर फिर उसकी ओर देखा। कारण समझे बिना भी मुझे उसकी दुःखी अवस्था का कुछ भान हो गया।

"क्या तकलीफ है तुम्हें बहन?"

"पीछे बताऊँगी! अभी कोई आ जायगा।" उसने उतावली-भरे स्वर में मुझसे कहा—"मुझे पकड़ ले जायँगे; मुझे ले चलो, मुझे बचाओ।" वह बार-बार पीछे भी देखती जाती थी। उसके चेहरे से यह स्पष्ट था कि कोई उसके पीछे लगा है जिसका आतंक उस पर छाया हुआ है।

मैं भी विवश हो उसी दिशा में देखने लगा जिधर वह बार-बार देख रही थी। दुःख की मारी इस अबला को ले जाकर मैं कहाँ रक्खूँ? इस बात का किसे पता कि उसकी अवस्था क्या होगी और क्या इतिहास होगा? दूसरे दिन फौजदारी अदालत में परायी स्त्री घर में रख लेने के अभियोग में हाज़िर होना पड़े तो उसका क्या उपाय होगा? मुझमें वास्तविक वीरों का साहस नहीं था। मैं तो इस सुधरे ज़माने

का स्वार्थी कायर जन्तु था। अबला के सामने भी मैं बलहीन था।

मूसलधार बरसात होती ही रही। दस-पाँच मिनट के बाद मैंने कड़ी कठिनाई से कहा—"इस ओर आइए।"

"अरे भाई, क्या विचार कर रहे हो? मेरे प्राण जायँगे, कुछ भी दया है कि नहीं।"

मैं अधम, पापी और बावला था इसीलिए तो स्पष्ट स्वर में पूछ उठा—"कहाँ ले चलूँ?"

मैं घबरा गया था। मैं क्या कह रहा हूँ, इसका भी भान मुझमें नहीं रहा था। इस तरह पाँच बहुमूल्य मिनट और व्यतीत हो गये।

"कहाँ क्या? चाहे जहाँ ले चलिए।" कहकर लड़की ने घबराई दृष्टि से फिर पीछे देखा। उसकी आँखों में भय बढ़ा। उसने मेरा हाथ छोड़ दिया। पीछे से किसी के दौड़ते हुए आने की आवाज़ सुनायी दी। मुझे कुछ भी होश-हवास नहीं रह गया।

लड़की मेरा हाथ छोड़कर जब भागने लगी तो उसके पाँव कीचड़ में फिसल गये और वह धड़ाम-से सड़क पर गिर गयी। पीछे से तहमद बाँधे हाथ में सोटा लिए एक पुरुष दौड़ता हुआ आया। मेरे कुछ भी कहने के पहले ही उसने नीचे गिरी असहाय लड़की पर डंडे का एक हाथ मारा। लड़की की चीख से मेरे कान के पर्दे फट-से गये।

"अरे-अरे!" कहकर मैं समय बीतने के बाद साहस करके आगे बढ़ा।

"चल, तू अपनी राह जा। पति-पत्नी की बात में तू दाल-भात में मूसलचन्द बनने क्यों आता है?" कहकर उस यमदूत ने हाथ का डण्डा घुमाया।

जैसे उसकी बात कोई श्रुतिवाक्य हो, इस प्रकार उसे सुनकर मैंने सिर नीचा कर लिया, और मन-ही-मन घबराते हुए कि कहीं मुझ पर ही बारह न बज जायँ मैं वहाँ से खिसका। जाते-जाते मैं उस लड़की की ओर नहीं देख सका।

मैं पचास कदम जाकर रुक गया। मुझे अपनी अधमता पर तरस आया। मनुष्यता की परीक्षा में मैं बेकार सिद्ध हो गया था। उस लड़की का चेहरा, उसका सड़क पर गिरा हुआ शरीर मेरी आँखों में छाया रहा। मैंने पीछे लौटने का प्रयत्न किया; पर बरसात का यह हाल था जैसे फिर कभी न पड़ेगी, इससे सामने कुछ दिखायी भी न दिया। पीछे लौटने की इच्छा हुई पर हिचक और बेहयाई ने वह इच्छा न पूरी होने दी। मैं आजकल के सामान्य लोगों की अपेक्षा साहस में कम नहीं हूँ। पर साहस करके क्या कोई किसी अज्ञात बाला को उसके पति के पास से अपने घर लिवा लाता है? आजकल का ज़माना और आधुनिक शिक्षा ऐसा करने दे, ऐसा मुझे नहीं लगता। हम लोग अधिक चतुर होते जा रहे हैं।

मैं घर पहुँचा; पर एक क्षण के लिए भी नींद न आयी। उस असहाय अबला का कातर मुखमण्डल मेरी नज़रों के सामने प्रति क्षण फिरता रहा। प्रतिपल वह मुझसे दयनीय स्वर में पूछ रही थी—"कुछ भी दया है कि नहीं?" मैंने अपने भाग आने के लिए अपने को हज़ारों बार धिक्कारा; हिचकिचाहट में बिताया गया समय मेरे हृदय को सालने लगा।

सुबह होते ही मैं घर से निकल पड़ा। सूर्योदय होने पर रात के संस्मरण स्वप्न-जैसे लगे। मैं भुलेश्वर के आगे गया। जिस जगह मैं खड़ा था, जहाँ वह लड़की गिरी थी, उसका स्मरण करने लगा। क्या यह अनुभव सच था या यह केवल मन का भ्रम था? नहीं, भ्रम कैसे हो सकता है? दिन होने के कारण लोगों की आवा-जाही की भीड़ होते हुए भी सामने एक रसीला पर दुःख से संत्रस्त मुखमण्डल मेरे सामने दिखायी दे रहा था। कोई मरणासन्न कोकिला के स्वर में पूछ रही थी—"दया है कि नहीं?" मेरे कान में उसकी चीख़ भी सुनायी पड़ रही थी।

मैंने आसपास देखा। वह एक बड़ी चॉल* से निकल कर आयी थी। पर अब उससे जाकर किस प्रकार पूछे ? अचानक भेंट हो जाय, इस ख़याल से मैं नीचे-ऊपर देखता रहा। ऊपर जाकर मैं क्या करूँगा। खिन्न होकर मैं आखिर लौट पड़ा।

मेरे मन का भ्रम बढ़ने लगा। वह चेहरा, वह प्रश्न और वह चीख़ मन में छायी रही। काम करते-करते भी प्रतिपल वह चीख़ मुझे सुनायी देती थी। ज़रा शान्ति आ जाने पर भी वह शब्द मेरे कानों में गूँजते रहते—चाहे जो बात करता होऊँ बीच में यह दुःख आड़े आ जाता था। सवेरे, दोपहर, शाम, किसी भी समय आधी रात तक जान-अनजान में जब कभी भुलेश्वर की ओर जाता तो बिना भूले उस स्थल पर थम जाता और उस रात की घटना मेरी अधमता और कायरता-भरी करतूत को, याद दिलाकर मेरे श्वास की गति को तीव्र कर देती और मुझे अपने ऊपर धिक्कार के समुद्र में डूब जाना पड़ता। मेरी नींद जाती रही; मेरी शान्ति, स्वास्थ्य, सुख सब दूर हो गये। उसके बदले बस एक मुखमण्डल, एक प्रश्न और एक चीख़ रह गयी।

मुझे अब नींद बिल्कुल नहीं आती थी और नींद के नाम से भी मुझे डर लगने लगा है। जो पल-दो पल के लिए ज़रा झपकी भी आ गयी तो उससे मेरा प्राण निकलने लगता है; स्वप्नों के दृश्य मेरे मन को विह्वल कर देते हैं। प्रत्येक स्वप्न में वह अबला बाला अवश्य होती है। मैं भयंकर घोर जंगल देखता, हज़ारों बालिकाओं पर उनके पतियों की मार पड़ते देखता। सभी की कर्ण-भेदी चीत्कार सुनायी देती, और इन सभी मारों और दुःखों का कारण मैं था, क्योंकि हिचकिचाहट में पड़ा हुआ अधम तो मैं ही था न ? सारी स्वप्न-सृष्टि मुझे दोष देकर गर्ज उठती—मैं काँपते शरीर और हिलते प्राण लिये

---

* बम्बई में पुराने ढंग के सामूहिक कमरे वाले किराये के मकानों को 'चॉल' कहते हैं।

जागता रहता, पर जाग्रत अवस्था में भी जो विचार आते वे स्वप्न-परम्परा के आतंक के-से ही होते थे।

एक महीने तक मैं ऐसी ही बिगड़ी अवस्था में पड़ा रहा। मेरे मस्तिष्क में सदा एक प्रकार का शोर होने लगा। एक सुपरिचित चीख़ स्पष्ट सुनायी देती। ऐसा लगने लगा कि वह अबला मेरे सभी सम्बन्धियों की अपेक्षा अधिक निकटवर्त्तिनी है। यदि क्षणभर भी उसकी याद न आती तो मेरी वेदना उलटे बढ़ने लगती। मुझे ऐसा लगता कि मेरा शरीर एक जगह पड़ा है; पर प्राण उससे मुक्त होकर दूर चला गया है।

मेरी स्त्री और मेरे मित्रों ने मेरी बदली हुई स्थिति देखी। मुझे जलवायु-परिवर्त्तन की सलाह दी। मुझे भी उनकी बात ठीक लगी। मैंने बाहर जाने का दिन निश्चित किया और अगले दिन स्त्री को अपने गाँव भेज दिया। उस दिन मेरी बेचैनी बढ़ गयी, मेरे माथे में शोर बढ़ा। मेरा मुँह और भी सूखने लगा; मेरी आँखों के सामने से वह दयनीय आँखोंवाला चेहरा ज़रा भी हटता नहीं था।

रात हुई तो मन में सोच-विचार और भी बढ़ा। तीन-चार बार भुलेश्वर हो आया था। कभी-कभी हिम्मत बाँधकर मैं उस चाल में भी किसी कल्पित दोस्त का झूठा नाम लेकर हो आया था। आज भी मैं ऐसा ही बहाना करके वहाँ गया। सदा की तरह आज भी कोई दिखायी नहीं दिया। आख़िर मुझसे घर में नहीं रहा गया। मैं हवा खाने के लिए चौपाटी पर चला गया। आधी रात तक मैं वहीं पड़ा रहा। आख़िर हार-थककर बेहोशी की-सी अवस्था में वापस आया। मेरे मन में उस रमणी की ही रट लगी हुई थी।

मैं अपने रहने की इमारत के सामने आया। ऊपर चढ़कर अपने कमरे में सो जाने का प्रयत्न करूँ या एक बार और भुलेश्वर हो आऊँ, इसी विचार में ज़रा रुका। मेरी दृष्टि ज़ीने पर गयी। सीढ़ियों पर अँधेरे में बैठी कोई स्त्री हाथ पर माथा टेके रो रही थी। मैं दिग्भ्रम के

सदृश खड़ा रह गया। मेरे मस्तक पर जैसे हथौड़े का प्रहार होने लगा। मेरा दिमाग ठिकाने है या नहीं; यह बात मेरी समझ में नहीं आयी—मैं उस बैठी स्त्री को टकटकी बाँधकर देखने लगा।

देखते-देखते ऐसा लगा मानो मेरे हृदय की धड़कन सहसा बन्द होगयी हो। उस स्त्री की रूपरेखा परिचित लगी। मैं आँखें फाड़-फाड़कर उसे देखता रहा। उस स्त्री ने धीरे से अपने मुँह पर से हाथ हटाया। मैं एक कदम पीछे हट आया। मैंने अपना सिर थाम लिया। यह कौन है? उस दिन आधी रात को मिली हुई बाला के भयंकर रूप में परिचित चेहरे को मैंने देखा। उसी मरणासन्न हुई मृगी की भय-व्याकुल, याचनापूर्ण आँखें! वही सौन्दर्य की मूर्त्ति! मैं इस विचार में पड़ा कि मैं स्वप्न देख रहा हूँ या यह सच है?

मैं इतने दिनों से जिस दुःख का अनुभव कर रहा था वह अदृश्य हो गया; मेरे शरीर में, हृदय में सुख की उत्साह-प्रेरक सनसनी दौड़ गयी। मेरे मस्तिष्क में होनेवाला शोर मिट गया और उसके बदले सुमधुर संगीत-सा गूँजता प्रतीत हुआ।

वह स्त्री दयनीय भाव से देख रही थी, मुझे ऐसा लग रहा था कि इस तरह वह अधिक देखेगी तो मेरे मस्तिष्क में तने हुए तार अभी टूट पड़ेंगे; पर मैं कुछ कह न सका। उसने पहले जिस प्रकार पूछा था वैसे ही स्वर में बोली—"दया है कि नहीं?" वही प्रश्न था। पहले मैं इस प्रश्न से काँप उठा था; अब हर्ष हुआ—आख़िर मैं उसको मिला। पर प्रश्न का उत्तर देने के पहले मैं उसके मनोहर नेत्रों की ओर देखता रहा। वह अपलक मेरी ओर देख रही थी। मैं उत्तर देने गया, मैं कुछ कहने ही जा रहा था कि "हाँ, आ जाओ, घर तुम्हारा ही है" पर शब्द मुँह से निकल नहीं सके; फिर भी वह स्त्री मेरे स्वागत-सूचक नेत्राभिव्यंजन को समझ गयी। मैं आगे बढ़ा, वह भी मेरे पीछे-पीछे ऊपर चढ़ी। मैंने अपना कमरा खोला और उसे आदर से भीतर बुलाया। एक बार मुझे हिचकिचाहट हुई थी; पर

हिचकिचाहट का भयंकर दण्ड मिल चुका था। क्या अब और हिचकिचाहट दिखानी है ?

मैंने स्नेहभरे आदर से उसे बुलाया। गये अवसर पर किये गये घोर पाप के प्रायश्चित्त की याचना की; अपनी कायरता के लिए क्षमा माँगी। वह स्त्री मुँह से कुछ न बोली; केवल दयनीय, अश्रुपूर्ण, निश्चल नेत्रों से मेरी ओर देखती रही। उसके फीके म्लान मुख पर अधिक-से-अधिक कुछ मृदुहास्य की रेखा उभरी और पलभर में जाती रही। इतने दिनों से मन में रखे हुए अनेक विचार उसे दर्शा दिये। उसने सब-कुछ सुना। फिर मुझसे पूछा—"दया है कि नहीं ?"

"दया ? यह क्या पूछा करती हो ? तुम जो कहो वही करने को तैयार हूँ; पर इस तरह चुपचाप क्यों बैठी हो ? बोलो, कुछ तो कहो। तुम यहाँ किस तरह आ सकीं। मुझे कैसे खोज सकीं ?"

उसने जवाब में कुछ कहा। क्या कहा, यह याद नहीं रहा। फिर मैंने भी कुछ कहा जो याद नहीं है। आख़िर उसने मौन भंग किया; बहुत-सी बातें कीं। मेरे हर्ष का पारावार नहीं रहा। मुझे नाच उठने की इच्छा हुई। हर्ष से या न जाने किस कारण सारा कमरा चक्कर काटने लगा। मैं उस रमणी का अनुपम चित्र अपने हृदय में जमाने लगा। इस तरह मिनट, घण्टे और कितना समय व्यतीत हो गया, इसका भान नहीं रहा। ऐसा लगा कि मेरी नसों में अग्नि फिर रही है। वह स्त्री अपनी दयापूर्ण हँसी से देखती रही। मैं जहाँ बैठा था वहाँ से उठा, उसके पास आया—उसके पैरों पड़ा और उसका हाथ पकड़ने का प्रयत्न किया।

उसका हाथ बरफ़-जैसा ठण्डा था—उसके दयनीय, मनोहर और प्राणहर नेत्र और मस्तक केवल मुझे ही दिखायी दे रहे हैं ?—उसका मृदुहास्य स्थिर-सा था। मैंने उसी का प्रश्न किया—"दया है कि नहीं ?" और उसके चरणों में मस्तक नवा दिया। उत्तर में मेरे कानों में सदा गूँजनेवाली परिचित चीख़ सुनायी पड़ी। मैं काँप उठा। मैंने

ऊपर देखा। मेरी आँखें झुक गयीं—केवल उसी की आँखें मिथुन राशि के दो नक्षत्रों की तरह स्थिर चमक रही थीं। मैं उसका हाथ पकड़ने गया—पर मेरे हाथ में कुछ नहीं आया—इस पर कई बार पकड़ने के प्रयत्न में मैं गिर पड़ा या क्या हुआ, यह कैसे कहा जा सकता है ?

मैं उठा। मेरे पैरों में अज्ञात बल आगया। मैंने याचकतापूर्वक पूछा—"दया है कि नहीं ?" उत्तर में वह स्त्री कहाँ गयी ? जिस कुर्सी पर वह अभी-अभी बैठी थी वह खाली लगी। मैंने उठकर किवाड़ बन्द कर दिया और फिर झटपट भुलेश्वर की ओर लपका।

जिस जगह वह पहले मिली थी वहाँ लोगों की भीड़ जमा थी। "यह क्या है ? ये सब क्यों जमा हुए हैं ?" पास खड़े हुए एक आदमी से मैंने पूछा। वह मुझे देखकर इस तरह चौंका जैसे मैं जानवर होऊँ और फिर देर तक मुझे देखता ही रहा। मैंने फिर वही सवाल किया। आखिर वह बोला—"यहाँ एक स्त्री रात को खिड़की से गिर कर मर गयी है।"

मेरे नेत्र खुले रह गये। मैं भीड़ में आगे घुसने लगा। मुझे देखकर कितने ही हट गये। चाल के अन्दर एक जगह और लोग जमा थे। मैं वहाँ पहुँचा। पास ही कोई रो रहा था—हाँ ! वह चीख़ सुनायी दे रही थी। मैं और आगे बढ़ा, रास्ते में खड़े लोगों को धक्का देते हुए उस जगह पहुँचा जहाँ खून से लथपथ एक लाश पड़ी थी। भगवान् ! वही मेरी सुपरिचिता—वही अंगरेखा—वही निश्चल नयन—वही म्लान-सुन्दर मुखमण्डल—गत रात देखी हुई ज्यों-की-त्यों आकृति !

मैं क्या देख रहा था ? मैं चिल्लाकर पूछना चाहता था; पर गले में से आवाज़ ज़रा भी नहीं निकल रही थी। मेरी आँखों के सामने एक भयंकर अग्निज्वाला उछली। फिर क्या हुआ, इसका मुझे भान नहीं रहा। वही मुखमण्डल, वही प्रश्न और वही चीज़ मेरे दिमाग में छायी रही।

जब मुझे कुछ होश आया तो मैं ज़ोर से चिल्लाकर बोल उठा—"दया है कि नहीं ?" कोई उत्तर नहीं मिला। फिर चारों ओर अँधेरा छा गया।

मुझे फिर होश आया तो मैं अपने घर में था। मेरी स्त्री मेरे सिर पर बरफ़ रख रही थी। मेरे एक डाक्टर मित्र मेरे सामने कुर्सी पर बैठे थे।

"दया है कि नहीं ?" मैंने बैठे हुए गले से पूछा।

"हाँ हाँ, पूरी दया है ?" किसी ने उत्तर दिया। आवाज़ परिचित थी; पीछे मैंने पहचाना, यह मेरी पत्नी की आवाज़ थी।

"कौन निर्मला ?"

"हाँ।" उसने कहा।

"तू कब आयी ? तुझे तो कल ही आना था।"

"नहीं, मुझे आये तो ग्यारह दिन हो चुके।"

"हैं !"

"हाँ ! मेरे जाने के दूसरे ही दिन तो तुम्हारे दोस्त ने मुझे तार देकर बुला लिया था। तुम्हारी तबीयत ख़राब हो गयी थी।"

❀ ❀ ❀

दो महीने में मैं स्वस्थ हुआ। शरीर में बल आया। फिर काम-धन्धे में लग गया। फिर भी एक रात की हिचकिचाहट, दूसरी रात का आनन्द कभी नहीं भूलता। इतने वर्ष हो जाने पर भी अभी मन में वह मुखमण्डल, वह प्रश्न और वह चीख़ छायी रहती है।

अग्निहोत्री

वे पुराण-काल की साक्षात् प्रतिभा थे। आर्य-संस्कृति की भावना के केन्द्र प्रतीत होते थे। उनकी भवों पर योगाभ्यास की मुद्रा थी। मस्तक पर धनुष-जैसा प्रभावपूर्ण त्रिपुण्ड शोभायमान था। नेत्रों में निर्मलता थी, मुखमण्डल पर मधुर शान्ति विराजमान थी। उनकी जिह्वा पर श्रुति थी। उनके कण्ठ पर शंकर का जाप था; उनके श्वास-प्रश्वास से ओंकार का महामंत्र निकलता था।

वे इस ज़माने की तो कौन कहे, भूत-काल के भी प्रतिशब्द-रूप थे। उनका शरीर बीसवीं सदी का था और मन मनु-काल का।

वे अग्निहोत्री थे। वे थे तो गुजरात के एक छोटे-से गाँव के गरीब ब्राह्मण, पर उनके जीवन में भारत की पवित्र भावना सजीव हो उठी थी। साठ वर्ष तक जप-तप और ध्यान-साधन के द्वारा पवित्रता और संयम के शिखर पर पहुँच गये थे; वे मन, वचन और कर्म से आर्य संस्कृति के परिपक्व फल रूप में आदर्श ब्राह्मण थे।

गुजरात के एक कोने में बैठे वे सनतान-धर्म के पुनरुद्धार का मोहक स्वप्न देख रहे थे। उनका विश्वास था कि ब्राह्मण के तप पर सृष्टि का आधार है। वे मानते थे कि ब्राह्मण के ही कर्म से धर्म का उद्धार हो सकता है। उनका श्रद्धालु हृदय यह आश्वासन देता था कि आर्य धर्म के पुनर्जीवन का प्रथम क्षण वे देख कर तृप्त होंगे।

वे केवल मन-ही-मन में हवाई किले नहीं बनाते थे प्रत्युत् भगीरथ-

प्रयत्नों द्वारा अपने गाँव के वातावरण को उन्होंने शुद्ध और धार्मिक बना दिया था और अपने एकमात्र पुत्र को बड़े उत्साह से पढ़ा-गुनाकर अपनी भावना की सुवास अन्य गावों में प्रसारित करने के लिए बम्बई भेज दिया था। उन्हें इस लड़के से बड़ी आशाएँ थी। जन्म से ही उसे ब्राह्मण का शुद्ध संस्कार मिला था। और वेद-स्मृति उसके रात-दिन के साथी थे। उसके पिता की मान्यता थी कि पुत्र में बुद्धि थी, सनक थी, अधमता के बोझ से दबी धरती का उद्धार करने के लिए वराह रूप धारण करने की शक्ति थी।

बाप ने बेटे को दिग्विजय करने के लिए भेजा था। पहले तो बेटे की आरम्भिक विजय के डंके की गड़गड़ाहट का समाचार डाक द्वारा प्राप्त कर बाप को सन्तोष मिल रहा था। उनका हृदय प्रफुल्लित हो गया था और मन को आशाओं के फलीभूत होने का समय निकटतर आता प्रतीत होता था।

धर्म के उद्धार, आर्य-संस्कृति के पुनर्स्थापन, चातुरवर्ण्य समाज और शुद्ध तथा तपस्वी ब्राह्मण की श्रेष्ठता, सरल तथा सत्याचारी जन-समाज तथा त्यागी एवं धर्ममार्गी राजा, इनकी सिद्धि के लिए वे बड़ी उतावली में थे। काल-सागर में खिंचकर आती हुई बधाइयों को प्रेम भाव से स्वीकार करने के लिए यह भोले ब्राह्मण श्रद्धालु-हृदय से और आकांक्षापूर्वक खड़े थे।

पर बाप के आशाकेन्द्र पुत्र का कोई भी समाचार आना बन्द हो गया। वासन्ती प्रभात के आकाश की भाँति निर्मल हृदय में शंका-संचार होने लगा; किन्तु—"मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्म चेतसा" सूत्र पढ़कर वे हृदय को आश्वासन देते।

परदेशी पवन की नई और अच्छी लहरें उस गाँव में बार-बार आती थीं; पर उनको तो सनातनधर्म में श्रद्धा थी, भारत के भाग्य में विश्वास था। आर्यों के उत्साह और साहस का उन्हें विश्वास था, अपने-जैसे अनेक ब्राह्मण वीरों के परोपकारी प्रयत्नों के प्रभाव को वे

मानते थे। भारत के भाग्य और उसके विधाता भगवान गोवर्द्धनधारी में उनकी श्रद्धा अडिग और अगाध थी; उनका विश्वास था कि—

यदा यदाहि धमस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानम धर्मस्य तदात्मानम् सृजाम्यहम।।

वर्षों बीत गये; पर एक-दो पौत्र-जन्म के शुभ-समाचार के अतिरिक्त बुड्ढे को अपने सुपुत्र के सम्बन्ध में और कोई समाचार नहीं मिला। इससे अग्निहोत्री जी के मन में बड़ी अधीरता उपजी। वंश-वृद्धि से जो आनन्द हुआ उसमें इस कल्पना से और भी अभिवृद्धि हुई और इनकी आत्मा आनन्दमयी हो गयी। उन्होंने कई बार अपने सुपुत्र को आदेश लिख भेजा कि वह एक बार अपनी जन्मभूमि में हो जाय; पर उन पत्रों का कोई भी उत्तर नहीं आया। इस पर अग्निहोत्री-जी ने स्वयं बम्बई जाने का निश्चय किया और उस निश्चय के परिणाम-स्वरूप एक दिन सुबह आठ बजे गिरगाँव के एक विशाल भवन के सामने अग्निहोत्री जी आ खड़े हुए।

बम्बई आते समय अग्निहोत्री जी रास्ते में बहुत सोच-विचार में पड़े थे—उनको भयंकर और अगम दुनिया में होकर आना पड़ा था। उन्होंने एक ही डब्बे में अनेक जाति के लोगों की खिचड़ी देखी, ब्राह्मण कहलानेवालों को स्टेशन के नल में मुँह लगाकर पानी-पीते देखा और अपने-जैसे शुद्ध और पवित्र ब्राह्मण की ओर लोगों को तिरस्कार की दृष्टि से देखते देखा। उन्होंने देखा कि वे दुनिया को जितनी अधम और धर्मभ्रष्ट समझते थे उससे वह कहीं अधिक पतित हो चुकी है। जिस सनातनधर्म के सजीव होने को वे जीवन का आधार बनाना चाहते थे, उसकी पहचान वे कहीं उसके शव के रूप में भी नहीं कर सके। और अब यह गन्दी गली, मानव-जन्तुओं से भरी इमारतें और संस्कार-हीन स्त्री-पुरुष उन्होंने देखे तो वे अकल्पनीय भावना से काँप उठे।

उन्होंने पाँच-सात आदमियों से गोविन्दराम अग्निहोत्री के बारे में

पूछा और अन्त में उनके सुपुत्र का पता लग गया। किसी ने एक कोठरी दिखाकर कहा कि वही उनके उस पुत्र का निवास-स्थान है जिसे वे धर्म-धुरन्धर समझे बैठे थे। एक ओर तो खारवानों की श्रेणी और दूसरी ओर कोई सामने शीशा टाँगे खड़े-खड़े हजामत बना रहा था। उन्होंने अनिश्चित-स्वर में हजामत बनानेवाले से पूछा—"गोविन्दराम अग्निहोत्री कहाँ रहते हैं ?"

हजामत बनानेवाले ने ज़रा मुँह फेरकर तिरस्कार-भरे स्वर में पूछा—"क्यों, क्या है ?"

"मुझे मिलना है। अग्निहोत्री जी ने ज़रा कर्कश स्वर में कहा।

"उस लड़के को पूछो।" कहकर वह आदमी हजामत बनाने लगा।

अग्निहोत्रीजी ने कोठरी में बैठे एक, छः-सात वर्ष के लड़के की ओर देखा। वह फर्श पर बैठा था। उसके सामने चाय की प्याली थी और हाथ में एक छोटी रोटी, जो कुछ जली-जली-सी दिखाई दे रही थी। अग्निहोत्रीजी ने स्टेशनों पर मुसलमानों को यह चीज़, बेचते देखा था इसलिए उसे पहचान गये कि वह कैसी चीज है। लड़का वह रोटी चाय में डुबाकर खा रहा था। लड़के का मुँह गन्दा था और आँखों में कीचड़ थी।

उस लड़के से कुछ दूर मैले-कुचैले कपड़े पहने एक स्त्री बैठी माथा खुजा रही थी। उसे देखकर अग्निहोत्रीजी को संशय नहीं रहा। आठ वर्ष पहले जो ब्राह्मण-कन्या उनके सुपुत्र को ब्याही गयी थी उसीका यह संशोधित और परिवर्द्धित स्वरूप था। लजाते-लजाते अग्निहोत्री-जी ने उससे पूछा—"गोविन्दराम है ?"

"कौन है ?" दूसरे गाँव की बाल्यावस्था में विवाहिता, जिसने वर्षों पहले श्वसुरदेव को देखा था, उन्हें न पहचानते हुए कहा—"बाहर गये हैं। क्या काम है ?"

"मैं उनके गाँव का हूँ, उनसे मिलना है।"

"बैठिये अभी आयेंगे" कहकर निर्लज्ज स्त्री ने फिर सिर खुजाना शुरू कर दिया।

अग्निहोत्री जी ने घर में चारों ओर दृष्टि डाली। एक छोटी-सी कुर्सी थी। उसमें दो-एक टूटी-फूटी कुर्सियाँ, दो-तीन सन्दूकें, पुराने बर्तन फटे-पुराने कपड़े और कूड़े-कर्कट के सिवा और कुछ नज़र नहीं आया। उनके गाँव में तो कुम्हारिन का झोंपड़ा भी ऐसा गन्दा और अव्यवस्थित नहीं है।

"दातुन दे सकोगी ?" थोड़ी देर बाद बुड्ढे ने कहा।

"निबट गई है; नमक है चाहिए तो।"

अग्निहोत्री जी ने नमक लेकर मुँह साफ किया और कुल्ला करने के लिए पानी माँगा।

"वह रहा नल," पाखाने के पास स्थित नल की ओर इशारा करके स्त्री ने कहा। नल के पास एक स्त्री बर्तन माँज रही थी।

अग्निहोत्री जी उस ओर गये। स्त्री को मैले हाथ से नल बन्द करते देख अग्निहोत्री जी चुपचाप उसके पीछे खड़े हो गये। इस बीच बिस्कुट खानेवाले लड़के ने अपनी माँ के पास आकर कहा—"माँ मुझे और चाय दे।

इधर अग्निहोत्रीजी ने प्रश्न किया—"नहाने के लिए भी क्या यह नल ही है ?"

"यहाँ नल बैठा नहीं रहता। उस बड़े पीपे में पानी लेकर नहा लो।" गोविन्दरामजी की पत्नी ने नल के पास पड़े एक बड़े सार्वजनिक पीपे की ओर इशारा करते हुए कहा।

अग्निहोत्रीजी कुछ क्षण के लिए चुप हो रहे। आँखें बन्द कर लीं। उनकी सन्ध्या का समय बीता जा रहा था, पर बेचारे क्या करें ? बाहर खड़े होकर उस बड़े बर्तन की ओर देखते रहे।

बर्तन माँजनेवाली निश्चिन्त भाव से बर्तन माँज रही थी। नल बन्द हो जाने के कारण वह अपने गन्दे हाथों से ही उस बड़े पीपे में

से पानी लेकर बर्तन धो रही थी जो अग्निहोत्रीजी को दिखाया था। एक-दो गन्दे लड़के भी उस पानी में हाथ डाल चुके थे।

अग्निहोत्रीजी की विचार-शक्ति कुण्ठित हो गयी। वे लौट आये और कुछ देर किवाड़ के पास खड़े रहे। यह गोविन्द अग्निहोत्री का घर है? और यह है यहाँ का आचार? यह कैसे सह्य हो और यहाँ कैसे रहा जाय? क्या किया जाय, इस विचार में तल्लीन रहने के बाद उनकी दृष्टि घर के अन्दर गयी। चूल्हे पर पकती दाल उतारने के लिए गोविन्दराम की पत्नी बिना हाथ धोये या वस्त्र बदले ही पहुँच गयी और बटलोई को चूल्हे से उतारकर नीचे रख दिया। यह देखकर तो अग्निहोत्री का पारा एकदम ऊपर चढ़ गया और उन्होंने फौरन पगड़ी सिर पर रखकर अपनी पोटली सँभाल ली। यह अधोगति देखकर उनका सिर चक्कर खाने लगा।

"मैं ज़रा एक जगह हो आऊँ; फिर आजाऊँगा।" कहकर वे वहाँ से चल पड़े।

अग्निहोत्री वहाँ से बाहर निकले। उनकी तीक्ष्ण दृष्टि का तेज लुप्त हो गया और कमर का बल जाता रहा। उन्हें यह भान न रहा कि वे कैसी दुनिया में आ गये हैं। उन्हें याद नहीं रहा कि ऐसी दुनिया में वे आये किसलिये? किसीसे राह पूछकर वे समुद्र की ओर चल पड़े।

सागर-दर्शन करके उनके मन को कुछ सान्त्वना मिली; उन्होंने स्नान-सन्ध्या की, जिससे उन्हें स्वस्थता प्राप्त हुई। वह स्त्री और बच्चा क्या गोविन्दराम के ही थे? यह माने बिना तो छुटकारा नहीं था। उन्होंने चुपचाप चारों ओर दृष्टि दौड़ायी। सामने कुछ दूर पर शंकरजी का मन्दिर था जिसकी गगन-चुम्बी शिखा पर भगवा झण्डा फहरा कर उन्हें आमन्त्रित कर रहा था। अग्निहोत्रीजी को आश्वासन मिला। भोलानाथ अन्त में ब्राह्मण के सहायक हुए। अग्निहोत्रीजी धीरे-धीरे बाबुलनाथ के मन्दिर में गये और वहाँ शंकर की पूजा की। फिर

स्वस्थ चित्त हो विचार करने लगे; पर कुछ भी नहीं सूझा। उनकी वही दशा हुई जैसी किसी की अपना घर स्वाहा हो जाने पर हुआ करती है।

शाम को उन्होंने बाबुलनाथ के निकट ही चौपाटी पर विशाल नर-मेदिनी देखी, भाग्यशाली लोगों की चमक-दमक देखी, मोटरों की भीड़ और चहल-पहल देखी; पर इन सबका उनके मन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उन्हें अपने और इन सब वस्तुओं के बीच उतना ही अन्तर दिखायी दिया जितना कि स्मशान और संसार के बीच होता है।

शाम को अग्निहोत्रीजी का मन जान या अनजान में गिरगाँव की उस चाँल की ओर खिंचा जिसमें उनके सुपुत्र रहते थे। कोई स्पष्ट विचार न होने के कारण वे वहाँ पहुँचकर चाँल के सामने खड़े हो गये। उस चाँल की गन्दगी को देखते हुए उनका साहस उसमें घुसने का नहीं हुआ। आखिर उनके कान में कोई परिचित आवाज़ पड़ी और वे विचार-निद्रा से जगे। वह आवाज़ उनकी पुत्र-वधू की थी। उसके साथ कोई पुरुष भी था। अग्निहोत्रीजी ने ध्यानपूर्वक देखा और पीछे हटकर अँधेरे का आश्रय लिया। वह पुरुष मैला, गन्दा कोट-पतलून पहने हुए था और एक फटी-पुरानी हैट भी सिरपर लगा रक्खी थी। उसके मुँह में सिगरेट शोभायमान थी। अग्निहोत्रीजी की आँखें चकरा उठीं। इस गन्दे संस्कार-भ्रष्ट बन्दर को उन्होंने पहचाना—वह था उनकी आशाओं का आधार एकमात्र पुत्र गोविन्दराम। कोई विचार किये बिना वह उसके पीछे लग गये। वह आगे-आगे चला।

"चल आज तुझे ईरानी की दुकान में ले चलूँ।" गोविन्दराम ने अपने पीछे गुप्त रूप में लगे बाप का पता न पाकर पत्नी से कहा।

"नहीं," स्त्री ने कहा—"मुझे तो वहाँ की कोई चीज़ नहीं भाती।"

"तू इतने दिन बम्बई में रहकर भी नहीं सुधरी—चल।" कहकर गोविन्दराम उसे साथ लेकर जबर्दस्ती ईरानी की दुकान में घुस गया।

अग्निहोत्रीजी की आँखों में एक और ही तरह का तेज आ गया। वे अन्धकार में भी चमकने लगीं। दुकान में से दो मियाँभाई निकले और उन्हें अज्ञानतः छूते हुए बाहर चले गये। अग्निहोत्री ने गहरी श्वास ली और वे शिवालय की ओर वापस मुड़े। उन्हें ऐसा लगा कि सृष्टि जलकर खाक हो गयी है। वहाँ घूमनेवाले लोग जैसे चिता में से निकलकर आये हुए शव हैं। मन्दिर की भव्यता उन्हें स्मशान से भी अधिक वीभत्स लगती थी। उन्होंने मन्दिर के गर्भद्वार पर पहुँच कर शिव को साष्टांग किया; पर उन्हें शंकर भी कुछ कृत्रिम-से लगे। आस-पास बिजली का प्रकाश अन्धकार से भी बुरा लगा। पुजारी ब्राह्मण को देखकर उनके रोंगटे खड़े हो गये। पास ही दो ब्राह्मण बैठे परस्पर बात कर रहे थे—

"भाई, कल सेठ के यहाँ श्राद्ध है। है विचार ?"

"हैं," दूसरे ने कहा—"अरे राम !"

"क्यों ?"

"हमारे यहाँ तो सूतक है।"

"तो वहाँ कौन जायेगा तुम्हारा बाप ? पच्चीस रुपये से हाथ क्यों धोते हो ?"

"तो ठीक है; पर कोई जाने नहीं।"

"मेरी एक शर्त मानो तब—"

"कौन-सी ?"

"पन्द्रह तुम्हारे और दस मेरे।"

"भई, यह तो ज्यादा कह रहे हो।"

"तो तुम्हारी मर्जी।"

"अच्छा तुम्हारी बात ही सही।"

"ठीक है, कल सुबह बालकेश्वर—"

अग्निहोत्री यह बात सुनकर बड़े संकोच में पड़े। उनकी आँखें पागल की आँखों के समान अकारण चमक उठीं। वह स्तब्ध से रह

गये। आखिर भैया ने उन्हें वहाँ से हटाया और वे बाहर धर्मशाला में आ पड़े; पर उन्हें नींद नहीं आयी। वे अनेक आवाज़ें सुनने लगे। सारी दुनिया उनका मज़ाक उड़ाने लगी। वे उठ खड़े हुए और इधर-उधर टहलने लगे।

उषा की प्रथम किरण मन्दिर के शिखर पर पड़ते ही अग्निहोत्रीजी के अनिमेष नेत्रों ने उन्हें देखा। उन्होंने आकाश में चारों ओर नज़र दौड़ायी। दूर सागर की मर्यादा की ओर दृष्टि डाली, और वापस आकर ऊँघते हुए नगर की ओर देखा। इसके बाद वे धीरे-धीरे मन्दिर की सीढ़ियाँ उतरकर समुद्र की ओर चले।

उन्होंने स्नान किया। सन्ध्या की, और साठ वर्ष से ज़बान पर चढ़े हुए श्रुति वाक्यों का उच्चारण किया। दूर से शिवालय की ध्वजा फहराती ध्यान से देखी। जिस श्रद्धा के आधार और आशा पर वे जी रहे थे उसका मूल उन्हें देखने में नहीं आया। जिस भावना से उनके श्वास तथा प्राण का पोषण हो रहा था वह भंग हो गयी। उन्होंने उदयोन्मुख सूर्य को अर्घ्य दिया और चुपचाप उलाहना दी—"भगवान, तुम्हारा तेज भी कम हो गया!" उन्होंने शंकर की ध्वजा की ओर तिरस्कारपूर्ण दृष्टि डाली। वह दृष्टि कह रही थी—"पिनाक-पाणि! तुम्हारा त्रिशूल भी घिस गया है क्या?"

उनकी आँखों में सहस्र पीढ़ी का ब्रह्मतेज प्रकाशित हो उठा। उनके तेजस्वी मस्तक पर साक्षात् सरस्वती आ विराजीं। उनकी संस्कारी और धर्म-परायण आत्मा शान्त और स्वस्थ हो गयी; पर उनके कान में समुद्र की तरंगें कुछ-कुछ हास्य कर रही थीं। रणयज्ञ में होम बने हुए योद्धाओं में शेष रह गये शूर की भाँति अग्निहोत्रीजी को उन्माद-सा हो गया। उन्होंने अपनी स्वतंत्रता बचा ली; वह समुद्र में अधिकाधिक आगे बढ़ते गये। सूर्य-बिम्ब पर उनके निश्चल नेत्रों ने तेज बरसाया और वे मुँह से बोल उठे—"तत्सवितुर्वरेण्यं"। लहरें उनके मुँह तक आ गयीं, आगे बढ़ीं, आँख तक आ गयीं। वे स्थिर दृष्टि से

और भी आगे बढ़े। आखें बन्द हो गयी। शिखा अदृश्य हुई। उनके सिर के ऊपर पानी चढ़ गया।

उस संसारी आत्मा ने अनेक रंग देखे। उनके नेत्रों के सामने सूर्य-विम्ब खेलता रहा। उसमें ॐकार लिखा हुआ उन्होने देखा। कान में आवाज़ आयी, कोई मज़ाक-भरे स्वर में कह रहा था—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानम् धर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

उन्होंने 'तत् सवितु' कहना शुरू किया; पर सूर्य अदृश्य हो गया —नाद बन्द हो गया, चारों ओर अन्धकार छा गया और अग्निहोत्रीजी की आहुतियाँ पूरी हो गयीं।

प्राइवेट सेक्रेटरी

दि आनरेबल सर मोहनलाल नाइट, कामगरा बम्बई में भी कार्य-कुशलता में एक ही थे—एक बहुत बड़े व्यापारी और.....

वे एक बड़ी फर्म के मालिक, छः कम्पनियों के मैनेजिंग एजेण्ट और छब्बीस कम्पनियों के डाइरेक्टर थे। वह कितनी पेढ़ियों में हिस्सेदार थे, यह बिना किसी सहायक की मदद के नहीं बता सकते थे।

इन सब बातों के सिवा वे सार्वजनिक जीवन के कीड़े थे—वायसराय की स्टेट कौन्सिल, शहर की सफाई, इम्प्रूवमेण्ट ट्रस्ट आदि सरकारी, अर्द्ध सरकारी सभाओं में भी वे विराजते थे और उनकी उप-समितियों में दिलचस्पी के साथ हिस्सा लेते थे। इसके अतिरिक्त उनके नाम बिना कोई संस्था शायद ही जन्म लेने की धृष्टता करती थी। प्रेसिडेन्सी एसोसिएशन, रेडिकल लीग, संसार-सुधार क्लब, उद्योग-वर्द्धक मण्डल, देशी व्यापारी चेम्बर, कपड़े, शेअर, शक्कर, गुड़, शाक.....आदि के बाज़ारों के एसोसिएशन, विदेशी व्यापारवर्द्धक मण्डली और चरखा-प्रचारिणी महासभा, मिल-मालिक संघ और मजदूर-वर्ग-उद्धारक समिति, साम्राज्य-सभा और असहयोग-प्रवर्त्तक महासेना आदि इस तरह की अनेकानेक संस्थाओं के वे या तो सभापति थे या उपाध्यक्ष अथवा मंत्री, उपमंत्री, कोषाध्यक्ष अथवा सदस्य।

सर मोहनलाल ने इन सभी प्रवृत्तियों में ठीक तौर पर सफल होने

के लिए लोगों की एक बहुत बड़ी भीड़ नौकर रख ली थी जिसमें से अलग-अलग विषयों का काम करने के लिए विभिन्न व्यक्ति नियुक्त कर रखे थे। उन सबसे वे इस कौशल के साथ काम लेते थे कि उनकी ज़िन्दगी भर की बुद्धि और चतुरता सेठ की घानी में पिस उठती और परिणामस्वरूप सेठजी के धन और कीर्त्ति की सरिता अधिकाधिक रूप में प्रवाहित होती।

थोड़े दिन हुए सेठजी को एक कठिनाई का सामना करना पड़ गया। कितनी छोटी-छोटी सांसारिक बातों में उनका बहुमूल्य समय नष्ट होता था; नहीं तो उन्हें कितने ही काम रहते थे। ब्याह के निमंत्रणपत्र आते। वरघोड़ा रस्म में सम्मिलित होने के लिए जाना पड़ता, कितने ही जान-पहचानवालों की मृत्यु हुआ करती थी और सेठजी की उपस्थिति के बिना उनकी उठामनी—शवयात्रा सूनी लगती। कितने ही सगे-सम्बन्धियों को सिरदर्द होने लगता तो सेठजी स्वयं जाकर आँसू पोंछने का यश प्राप्त कर लेते। धनाढ्यता के कारण उनसे कितने ही भिक्षुक प्रार्थना करते; पर सेठ की कीर्त्ति के लिए उपयुक्त, शोभायुक्त, मीठा और आश्वासनपूर्ण पत्र लिखने का न तो उन्हें समय मिलता था और न उनका हाथ ही लिखने के लिए जमा हुआ था। उनकी नयी पत्नी डुम्मस में असाध्य रोग से पीड़ित थी और डाक्टरों का कहना था कि उनका मानसिक सन्तुलन अधिकांश समय तक बिगड़ा रहता था, इसलिए सेठजी हर तीसरे दिन भाव-भरे पत्र लिखा करते थे; पर अनेक बार सेठजी ऐसा न कर सकते और डाक्टर दाम्पत्य जीवन पर उन्हें भाषण सुनाया करते थे।

ऐसे आवश्यक काम आफिस के नौकर जी लगाकर नहीं करते और अपनी कार्यदक्षता में कलंक लगवाना सर मोहनलाल को स्वीकार न था, इसलिए उन्हें ऐसे काम में समय लगाना पड़ता था। एक दिन इस विडम्बना को समाप्त करने का अवसर भी हाथ लगा। जिस प्रकार उनकी अन्य प्रवृत्तियों के लिए अलग-अलग विभाग थे

उसी प्रकार एक सांसारिक प्रवृत्तियों का विभाग खोलकर उन्होंने उसे एक प्राइवेट सेक्रेटरी के सुपुर्द करने का निश्चय किया। उन्होंने इस पद के लिए उपयुक्त आदमी रखने के लिए विज्ञापन दिया और उसके जवाब में इस समय कितने ही उत्साही उम्मेदवार सेठजी के स्वरचित स्वयम्वर में वरमाल पहनने की आशा से आये हुए थे।

इस समय सेठजी के आफिस में तीन आदमियों के बराबर मेज़ पर विराज रहे थे। उनकी दृष्टि अपने कार्यक्रम पर थी कि उसी समय ३ बजकर ३९ मिनट पर होनेवाली म्युनिसिपैलिटी की बैठक में सम्मिलित होने का कार्यक्रम डायरी में पढ़ा।

डायरी में ३ बजकर ३९ मिनट पर प्राइवेट सेक्रेटरी का चुनाव करने की मद लिखी हुई थी। उधर ध्यान देते ही सेठजी ने तुरन्त घण्टी बजायी।

घण्टी बजने पर एक सेवक आया।

"दलाल सेठ को बुलाओ।" सेठजी ने उससे कहा।

नौकर गया और एक अधेड़ उम्र के कर्मचारी सेठजी के कमरे में आ घुसे।

"वे उम्मीदवार आये हैं क्या?"

"जी हाँ।"

"कितने हैं?"

"तेरह।"

"Unlucky Number. एक-एक करके भेजो।"

"जो" कहकर दलाल गया और दूसरे ही क्षण एक पारसी युवक आया। ऊँचा, रूपवान और चंचल था। कपड़े की तड़क-भड़क देखकर कोई यह भी कह सकता था कि ह्वाइटअवेलेडला के कपड़े के विज्ञापनी पुतलों में से कोई सजीव होकर यहाँ आ गया है? उसके बाल घुँघराले थे। नाक पर बिना कमानी का चश्मा था।

उसके पतलून की धार बिना टूटी थी। देखनेवाले को लगता कि उसका रचयिता दर्जी कैसा था।

वह रुका और कुछ मुस्कराकर सिर के बाल ज़रा ऊपर चढ़ाये।

सेठजी ने सिर उठाकर पूछा—"नाम ?"

"पेसी सुलतान !" कहकर उम्मीदवार पास आया।

सेठजी ने प्रार्थनापत्रों की टोकरी में से उसकी अर्ज़ी निकाली।

"उम्र ?"

"अट्ठाईस।"

सेठजी ने अर्ज़ी एक ओर रख दी। "ठीक, अगर आपको रखना हुआ तो कल ही पत्र लिखकर सूचित किया जायगा।" कहकर सेठजी ने उसे विदा दी।

सुलतान ने इस भेंट के लिए तीन दिन से तय्यारी कर रखी थी। वाक्य रट रखे थे और पूरे अभिनय का अभ्यास कर लिया था, फिर भी सेठजी ने उसे अपनी छटा आज़माने का तनिक भी अवसर नहीं दिया। इस प्रकार की अप्रत्याशित पीड़ा देख सुलतान स्तब्ध होकर खड़ा रहा। सेठजी ने अस्पष्ट तिरस्कार से उसकी ओर देखकर कहा—"जाइए।"

निरुपाय ही सुलतान विदा हुआ।

तुरन्त एक दक्षिणी सज्जन दाखिल हुए। उनके लाल वस्त्र पर लाल पगड़ी की अद्भुत पेशवाई छाप थी। उनकी अवस्था कुछ अधिक थी और अनुभव विशाल प्रतीत होता था। चार-पाँच सवाल करके सेठजी ने उन्हें भी चलता कर दिया। सेठजी को ऐसा प्रतीत हुआ कि यह आदमी कुछ काम आ सकेगा।

पर इसके बाद तीसरे उम्मीदवार को देखते ही सेठजी का उपर्युक्त विचार बदल गया। इस नवागन्तुक का शरीर भारी था, कदम धीमे थे, नेत्रों में तेज नहीं था और कमर लचकती थी।

सेठजी ने उसकी ओर देखा और उन्हें कुछ हँसी-सी आ गयी।

"आपका नाम ?" सेठजी ने पूछा।

"जी, मधुपर्क शंकर शास्त्री।"

"आप कहाँ के रहनेवाले हैं ?" सेठजी ने विवाह के समय मधुपर्क का आचमन करने-जैसा स्वादयुक्त मुँह बनाकर पूछा।

"नडियाद का।"

शास्त्रीजी की चाल-ढाल देखकर सेठजी को कुछ स्फूर्ति हुई।

"आप साहित्यिक हैं ?"

"अपनी अल्पबुद्धि के अनुसार गुर्जरीदेवी के चरणों में चढ़ाने-योग्य 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं' रखता हूँ।" मधुपर्क शास्त्री ने सगर्व नम्रता एवं गम्भीरतापूर्वक कहा।

सर मोहनलाल के शान्त मुख पर हास्य छा गया। आखिर उन्हें रोककर सेठजी ने पूछा—"क्या वेतन लेंगे आप ?"

"बम्बई का जीवन—"

सेठजी ने बीच में घड़ी की ओर देखकर कहा—"बाल-बच्चे भी हैं।"

"जी हाँ हैं," शास्त्रीजी ने साक्षी देने के ढंग से कहा—"पर अभी तो बम्बई में नहीं हैं।"

"डेढ़ सौ रुपये और मेरे घर पर रहना-खाना; मंजूर है ?"

शास्त्रीजी ने आँखें फाड़ीं—"जैसे आपकी इच्छा !" कहकर अपनी इच्छा प्रकट की।

"आज से ही काम शुरू करेंगे ?"

"आजकल मेरी कोई और प्रवृत्ति नहीं है।"

"तो फिर बैठिए। यह पासवाली मेज़ आपके लिए है," सेठजी ने विद्युद्गति से शास्त्रीजी को नियुक्त करके आज्ञा देना आरम्भ कर दिया—"मैं अभी जा रहा हूँ—सवा पाँच बजे आऊँगा। यह कागज़ लीजिए। इसको २५) भेजना है। साथ भेजने के लिए एक अच्छा पत्र

लिख रखिए। आदमी ज़रा घमण्डी है, उसे ऐसा न लगे कि हम धर्मादा में दे रहे हैं।"

सेठजी ने एक कागज़ देकर दूसरा उठाया।

"यह दूसरा पत्र देखिए यह मनोरमा का है।"

शास्त्रीजी ने ज़रा घबराहट से आँखें फाड़ीं।

"मेरी पत्नी बीमार है। इन्हें ज़रा अच्छा लगे, ऐसा पत्र लिख दीजिए।"

"मैं?"

"हाँ। इसमें क्या है—मैं आकर सुधार लूँगा।" कहकर सेठजी ने घण्टी बजायी और नौकर को बुलाया।

"यह बैग मोटर में रक्खो।" सेठजी ने नौकर से कहा—

"दलाल!—"

दलाल तुरन्त पास आया।

"सर—"

"देखिए, मि० शास्त्री का वेतन डेढ़ सौ रुपये आजसे चालू किया है। इनका नाम लिखिए और यहाँ बैठने की जगह दीजिए। बाकी उम्मीदवारों को आप ही मिलकर छुट्टी दे दें।" कहकर सेठजी चले गये।

: २ :

सेठजी तो चले गये पर मधुपर्क शास्त्री तो चित्र-लिखे-से रह गये—डेढ़ सौ रुपये और खाना-पीनायुक्त—सेठ का हुक्म और सेठानीजी को प्रत्युत्तर—इस अप्रत्याशित घटना से शास्त्री की स्वस्थता कुछ दूर-सी हो गयी थी। दलाल ने हँसी-हँसी में कुछ प्रश्न किये; पर उनका कोई ठीक उत्तर न मिलने के कारण उन्होंने शास्त्रीजी को घमण्डी समझा और चले गये और शास्त्रीजी हाथ में सेठानीजी का वह पत्र लिये खड़े रहे।

पर जो मधुपर्क शंकर को ठीक तौर से नहीं पहचानता वह उनकी इस भावना-रहस्य को नहीं समझ सकता।

मधुपर्क शास्त्री जाति के ब्राह्मण थे, निवासी नडियाद के और उनकी आकांक्षा विद्वत्ता की थी। यही नहीं, वे सृष्टि के हृदय गुजरात को और उसके मध्यबिन्दु नडियाद को मानते थे और उनका दृढ़-विश्वास था कि उस केन्द्र-बिन्दु का आधार कुछ अंशों में वे स्वयं ही हैं। जगद्विख्यात् गोवर्द्धनरामादि नडियादी विद्वानों का कीर्ति-मुकुट अब उन्हीं के मस्तक पर पड़ने के लिए लटक रहा था, इसका उन्हें आन्तरिक विश्वास था।

शास्त्रीजी के विचार से दुनिया नडियाद का ही एक भाग थी। संसार का साहित्य उनको गाँव के विद्वानों के गर्जन की प्रतिध्वनि-मात्र था। उनके मानसिक चक्षु सदा मनसुखराम के 'अस्तोदय' से चन्द्रशंकर का 'पंचकथा' की खान के मूल्यवान चश्मे ही लगाया करते थे।

मधुपर्क शास्त्री की जैसी श्रद्धा अपनी विद्वत्ता और नडियाद की महत्ता में थी उतनी ही पत्नी-पूजा में थी। वे गुजरात की स्त्रियों को संस्कार और सौन्दर्य में सारी सृष्टि की स्त्रियों से श्रेष्ठ मानते थे और अपनी सहधर्मिणी को भूत, वर्तमान और भविष्य की सुन्दरियों की अनमोल विशेषताओं का संग्रह-स्थल मानते थे।

जिस समय सर मोहनलाल ने अपनी पत्नी का पत्र उनके हाथ में दिया था उनका हृदय भड़क उठा था। जब उस पत्र का उत्तर लिखने का काम उन्हें सौंपा गया तो उनका विचार हुआ कि यह पापी पृथ्वी रसातल में क्यों नहीं धँस जाती। संसार में क्या ऐसे अधम पति भी होंगे जो कोमल हृदय अर्द्धांगिनी के प्रेम भरे पत्र का जवाब किराये के कर्मचारियों से लिखाते होंगे! यह बात उन्होंने सुनी थी कि बम्बई की अधोगति के गर्त्त में अनेक प्रकार के नराधम रहते हैं; पर इस धनाढ्य के पत्नी-द्रोह के आगे तो वे सभी पुण्यात्मा समझे जा सकते हैं। किस अभिलाषा, उत्साह, अनोखे भाव से कोमलांगी ने सन्देश भेजा है! और किस शान्ति, क्रूरता और भावहीनता से उसका पति उस सन्देश

का जवाब लिखा रहा है ! मधुपर्क शास्त्री का हृदय भर आया और वे दुर्वासा की-सी उग्रता से सेठ की मेज की ओर देखने लगे।

मेज पर दृष्टि पड़ते ही उन्हें सेठजी की डायरी दिखायी दी। उससे सेठ अभी आयँगे, यह ध्यान आया। साथ ही डेढ़ सौ रुपया और खानागीना याद आया और कर्त्तव्य-परायणता से चूकने पर क्या कलंक लगेगा, उसका भी ध्यान आया। इससे वे तुरन्त हाथ में लिया हुआ सेठानीजी का पत्र पढ़ने लगे —

डुम्मस ता०.....

"प्यारे !

तुम्हारा पत्र पढ़ा। मेरी तबीअत अब सुधरती जा रही है। अब कब मिलूँगी ?

आपकी—

मनोरमा।"

कितना छोटा पर रसभरा पत्र है ! शब्द की लचक कैसी है ! लिखने के ढंग में संस्कारिता की छाया है ! नाम में कैसी सुकुमारता छिपी हुई है !

बम्बई के पाषाण-हृदय धनाढ्य, मनुष्यों की पर्वाह नहीं करते, वे उन्हें चाकर-मात्र जानते हैं, पर वे अपनी प्यारी पत्नियों के प्रति भी इसी तरह का व्यवहार करते हैं ! इस विचार से शास्त्रीजी को चक्कर आने लगा।

वे मेज के सामने बैठ गये और एक कोरा कागज लेकर जवाब लिखने लगे। अनेक बार लिखकर काट-छाँट और सुधार किया और कागज बदले। लेखनी भी दो बार बदली। उनके रसपूर्ण मस्तिष्क में विचार-तरंगें उठने लगीं। आखिर उनकी परमार्थ-बुद्धि जग पड़ी। यह उन्हें स्पष्ट मालूम हो गया कि यह स्थिति, यह नौकरी ईश्वर ने ही सर मोहनलाल की रसिकता का उद्धार करने के लिए उन्हें सौंपी है; और जिस विद्वन्मण्डली में उन्हें अग्रगण्य स्थान प्राप्त करना है उसकी

महत्ता के अनुकूल यह कार्य पूरा करने का उन्होंने संकल्प करके कागज पर कलम दौड़ायी—

"प्रिय मनोरमा,

तुम्हारा समाचार मिला और मेरा मुरझाया हृदय फिर से प्रफुल्लित हो उठा। देवी! मुझे यही विचार दिन-रात रहता है कि तुम रोग से कब पूर्णतः छुटकारा पाओगी। इसका ख्याल तुम्हें नहीं है कि मेरा हृदय तुमसे मिलने के लिए तरसता है। थोड़े दिनों में ही तुमसे मिलकर उसका प्रमाण दूँगा।

तुम्हारा

अधीर।"

मधुपर्क ने सौ बार पढ़ और सुधार कर यह प्रेमपत्र तैयार किया, पर शंका रह गयी। शुष्क हृदय सेठ इस पत्र का क्या मूल्य आँकेगा?

पर सेठजी आगये—तड़ाक-फड़ाक पाँच हुक्म दलाल को दिये, पाँच दूसरे को और फिर शास्त्रीजी की ओर फिरे—

"शास्त्रीजी!"

"जी।"

"डुम्मस के लिए पत्र लिख लिया?"

"जी, तैयार है।"

"ठीक, उसे गुजराती टाइपराइटर पर टाइप करके भेज दो। मेरे हस्ताक्षर भी टाइप में ही कर देना। मेरी मोटर आयेगी। उसमें अपना सामान लेकर वालकेश्वर आजाना।"

इन शब्दों का प्रकाश शास्त्री के मस्तिष्क पर पड़े, उसके पहले ही सेठ बाहर चले गये। जब शास्त्रीजी ने इस हुक्म का अर्थ समझा, और सेठजी के पत्र पढ़ने तक की पर्वाह न करने पर विचार किया तो उनके मन में अपने मालिक के प्रति तिरस्कार का पार नहीं रहा।

: ३ :

जहाँ सामने समुद्र की तरंगें उठ-उठकर अपना ईषत् गान सुनाया

करतीं, जहाँ अनोखी चाँदनी जगत् पर अपनी अमृत-किरणें छिटकाकर मधुपर्क शंकर के संस्कारी हृदय में रस की रेल-मेल कर देती थीं, ऐसे ही एक छोटे से प्रासाद-खण्ड में शास्त्रीजी को वास करने का सुयोग मिला।

मनोरमा की अवस्था बीस वर्ष की थी और वह सेठजी की दूसरी विवाहिता पत्नी थी और बीमारी के कारण वर्ष-भर से दुम्मस रहती थी। वह बीमारी कुछ रहस्यपूर्ण थी, क्योंकि उसके बारे में दूसरे नौकर खुले दिल से बात नहीं करते थे। और एक बात यह थी कि सेठजी की पहली स्त्री से पैदा हुआ लड़का वृन्दावन भी तो वहीं रहता था! शाम को आकर मधुपर्क शंकर ने इतनी जानकारी तो प्राप्त कर ली थी, और दीवानखाने में मनोरमा सेठानी का चित्र ध्यान से देखा था।

अपने खण्ड के मोहक एकांत में और इतनी सामग्रियों से उत्तेजित होकर मधुपर्क शंकर ने अपनी कल्पना के घोड़े को मार गिराया।

सेठानी सुन्दर और रसीली है, यह तो निश्चित मालूम हो गया। यह भी निर्विवाद था कि सेठजी शुष्क और रसहीन हैं। और इन दोनों के बीच क्या विरोध था? सेठजी मनोरमा को दूर क्यों रखते हैं? वे उसके साथ ऐसी क्रूर घातकी चाल क्यों चला रहे थे?

और कैसी सुन्दरी! उसका ख़याल आते ही शास्त्रीजी के ओठ पर महाकवि कालिदास कृत काव्य का गुर्जर महाकवि नानालाल का भाषान्तर याद आ गया:—

"कोमल यौवन, बिम्बाधर औ' नाभि गभीर;
दाड़िम दशना, चकित मृगी-सी कटि अति क्षीण,
उन्नत पीन पयोधर, भार नितम्ब,
ऐसी सुन्दरि नारि रची क्या विधि ने सचमुच

इस पद को बड़बड़ाते हुए शास्त्रीजी जो सोये तो कितने ही स्वप्न देखने लगे।

× × ×

क्या होगा; कैसा जवाब आयेगा, जवाब पढ़कर सेठजी क्या कहेंगे; हो सकता है नौकरी छोड़ने की नौबत आजाय, इस प्रकार के संकल्प-विकल्प करते तीसरे दिन डाक आने की राह देखने लगे।

आखिर डाक आयी और मोहनलाल ने एक बिना खोली चिट्ठी मधुपर्कशंकर की मेज पर डाल दी।

"शास्त्री, यह पढ़कर इसका जवाब लिख देना। आज ही भेज देना।"

शास्त्री का पारा फिर चढ़ा और उनके मन में सेठजी के प्रति और भी तिरस्कार बढ़ा। यह मनुष्य है या राक्षस? भगवान क्या इसके शरीर में हृदय लगाना ही भूल गये?

ज्योंही सेठजी बाहर गये कि मधुपर्क शंकर ने चिट्ठी खोली।

डुम्मस, ता०.....

"प्यारे,

पत्र मिला। आपके पत्रमें छायी हुई पीड़ा को यह अभागिनी बढ़ा न दे? इतने बड़े व्यवसाय में इतने वर्ष में भी दासी के प्रति इतनी लगन रखते हैं यह देखकर मैं मुग्ध हुई हूँ। आप मुझे दर्शन देकर कब कृतार्थ करेंगे?

विरहिणी,
मनोरमा"

मधुपर्क शंकर की छोटी-छोटी आँखों में विजय का तेज स्फुरित हुआ। उनकी धारणा सत्य सिद्ध हुई। मनोरमा रसिक थी;....चतुर थी, केवल इस भावशून्य भर्त्तार के पाले पड़कर वह सूखी जा रही थी, और भगवान् ने इस करामाती बेल को जीवित रखने के लिए बदली बनाकर उसे भेज दिया।

संसार का दुःख दूर करने के लिए ईसामसीह सूली पर चढ़ गये तभी उनके हृदय को सन्तोष हुआ, वही बात मधुपर्क शंकर के हृदय में

अब आर्या। शुद्ध और सात्विक हेतु से भी उन्होंने कैसी चाणक्य-नीति चला रखी थी।

उन्होंने गोवर्द्धनराम का स्मरण किया, नानालाल का मानसिक आवाहन किया और लेखनी उठाकर पत्र लिखना आरम्भ किया:—

"प्रिये!

तुम्हारा पत्र मिला। अहा! क्या पत्र था? व्यापार की व्यस्तता में कैसे रत्न को बिना परखे पड़ा रहने दिया! कैसे अनोखे सुख से वञ्चित रह गया। मैं अपने पछतावे को पत्र में कैसे व्यक्त करूँ! तुम्हारा क्षमाशील स्वभाव ही मेरी एक पूरी आशा है।

अब केवल थोड़े ही दिन रहे हैं, फिर मैं आऊँगा। हम एक साथ प्रेम का लाभ लेते हुए सुख-सरिता में प्रवाहित हो सकेंगे ऐसे रम्यस्थल में बसेंगे और—

विरह-व्यथा व्याकुल विविध विजना,
पुनर्मिलन पुनः सम्भव शरद की चन्द्रिका में।

तुम्हारा,
मोहन।"

यह पत्र भेजकर मधुपक शंकर बड़ी कठिनाई से अपने प्राण ठिकाने रख सके। उठते-बैठते, जागते-सोते वे केवल परमार्थ-बुद्धि से मनोरमा की रट लगाने लगे। तीसरे दिन फिर जवाब आया:—

डुम्मस, ता०...

"प्यारे,

पत्र मिला। मैं प्रसन्न हूँ। दो बार से आपके पत्र पढ़कर इस तृषार्त चातकी को स्वाति बुन्द का स्वाद मिला है। तुम्हारे शब्दों में जो रस, भावों में जो निर्मलता है उसने मुझे मुग्ध कर दिया है। शुद्ध और सात्विक प्रेम की प्यासी इस बाला को आज तक

क्यों तड़पाया ? जो हो, अब तो तड़पाना मारगिराना तुम्हारे हाथ में है।

रसिक शिरोमणि ! मिलन कब होगा। पत्र के शुष्क शब्दों की जगह तुम्हारे शब्द कब सुनूँगी।

धैर्यहीना
मनोरमा !"

यह पत्र पढ़कर मधुपर्कशंकर के हृदय में आह्लाद की आँधी आ गयी। कुछ देर में उनका अभिप्राय उखड़ गया; विचार का तेज मन्द पड़ गया; केवल आनन्दी की सुरसराहट रह गयी। वे पत्र को अपने सामने रख उसे देखते रहे और मनोरमा का नाम रटते रहे।

इस आँधी का ज़ोर घटने पर अनेक संकल्प-विकल्प उत्पन्न हुए। इस तरह का पत्र-व्यवहार सेठजी की जानकारी में आ जाय और नौकरी से हाथ धोना पड़े तो ?

फिर उनके मन में एक प्रश्न यह हुआ कि पराई स्त्री के साथ इस प्रकार का पत्र-व्यवहार क्या वास्तविक समझा जायगा। इस प्रश्न पर वे देर तक विचार करते रहे, पर जवाब लिखने का समय आ गया इसलिए उसका निरावरण शीघ्र करना आवश्यक हो गया। उन्हें इतना तो स्पष्ट लगा कि वे स्वयं निर्विकार थे इसीलिए तो एक शुष्क जीवन में इस प्रकार का पत्र-व्यवहार चालू रखना दुःखद प्रतीत हुआ; और सेठजी ने उन्हें वह काम सौंप रखा है तो उसे ठीक तौर से बजा लाना कर्तव्यपरायणता के सिवा और क्या है यह उनकी तीक्ष्ण बुद्धि को दिखायी न दिया।

मधुपर्कशंकर इन स्तुत्य विचारों से प्रेरणा प्राप्त कर उत्तर लिखने बैठ गये।

इस प्रकार डुम्मस और बम्बई के बीच रस-साहित्य की रेल-पेल मच गयी और मधुपर्कशंकर सातवें आसमान पर उड़ने लगे। सवेरे उठकर वे मनोरमा के पत्रों का पारायण करते। दोपहर को उन्हें अपने

निकट रखकर उसका स्मरण सतेज रखते। रात को फिर उनका पारायण कर स्वप्न में उन्हें फिर पढ़ते थे। उनका शेष समय यही सोचने में बीतता कि मनोरमा का पत्र आने पर उसका उत्तर किस भाव में लिखा जाय, किस कवि की पंक्ति उद्धृत की जाय, मनोरमा को सम्बोधन् किस शब्द में दिया जाय।

मधुपर्कशंकर में अपनी कर्तव्यपरायणता की भावना अडिग थी; और अपनी श्रद्धा सफल होती देख उनके अन्दर का साहित्यिक नाच उठा। जैसे पथरीली कगार टूटने से पानी चारों ओर जोश से उछल पड़ता है उसी प्रकार सेठ की शुष्कता दूर होते ही ऐसा प्रतीत हुआ कि मनोरमा का हृदय और लेखिकापन चारों ओर रस साकार करने लगा। एक साधारण गुजराती स्त्री को ऐसी छटा के साथ संस्कारपूर्ण प्रेमपत्र लिखती देखकर गुजरात-प्रेमी मधुपर्कशंकर के देश-प्रेमपूर्ण नेत्रों में गर्व की सनसनी आ गयी। इसमें भी मनोरमा के अन्तिम पत्र ने तो हद कर दी—

"मेरे प्यारे मोहन,

तुम्हारी विरहिणी मनोरमा का प्रेम स्मरण स्वीकार करना। अब तो मेरा रोम-रोम तुम्हारा नाम रट रहा है और साहित्य-शिरोमणि के शब्दों में हृदय रट रहा है कि—

गोपिकाएँ रो रही हैं आज सारे कुंज में,
छोड़कर सबको विलखतीं कृष्णचन्द्र कहाँ गये?
पद्ममाल जलाशयों में ऊर्ध्व होकर देखतीं,
आज रसिकों के शिरोमणि भ्रमर-वृन्द कहाँ गये?+

यह रट कब सफल होगी? इन तरंगों का तूफान कब दबेगा? अगले शनिवार को तुमने यहाँ आने का वचन दिया

+ 'सरस्वती चन्द्र से'।

था। क्या आओगे ? अब मुझसे धैर्य नहीं बन पड़ता। आप न आये तो मैं आऊँगी।

अधीर हृदया,
मनोरमा"

यह पत्र पढ़ते हुए मधुपर्कशंकर के हाथ में जो लिफाफा था उसमें से एक और कागज निकला। जिसमें लिखा था —

"मेरे हृदय की मुरझाती वाटिका के माली, तुम मेरे अनजाने मोहन कब तक रहोगे ? हृदय के परिचय के नेत्रों के परिचय की सिद्धि का अवसर भगवान अगले शनिवार को प्रदान करेंगे। मैं आधी रात को बारह बजे पहली मंजिल अपने खण्ड में तुम्हारे नाम की माला जपती हुई बैठी मिलूँगी।"

यह पत्र पढ़कर तो मधुपर्कशंकर का माथा घूमने लगा। पहले तो जैसे पैर के नीचे विषधर सांप दब गया हो इस प्रकार का मानसिक आघात लगा। दूसरे क्षण पुरानी झोंपड़ी को रत्नजटित प्रासाद बन जाते देखने की उनकी अलादीन की-सी स्थिति हो गयी। ये सब रसीलेपत्र सर मोहनलाल के लिए नहीं थे; उनमें स्पष्ट छलकती अधीरता सेठजी से मिलने के लिए नहीं थी। यह आतुर पद्ममाल तो पराग-प्रेमी भ्रमर के लिए तरस रही है। यह विश्वास आते ही उनका हृदय नाचने लगा।

किन्तु मधुपर्कशंकर चतुराई के भण्डार थे; और उनका तथा मनोरमा का सम्बन्ध नया और भयानक रूप न ग्रहण कर ले, यह बात उनके ध्यान के बाहर न थी। पहला प्रश्न तो यह था कि सेठानी जी से इस प्रकार गुप्त रूप से मिलना ठीक होगा या नहीं। दूसरा प्रश्न यह था कि नडियाद में कुएँ से गाँव को जाती हुई बेचारी निर्दोष सहधर्मिणी का जो चित्र उनके हृदय पर अंकित था उसके सामने क्या दूसरा चित्र खड़ा हो सकता है ?

एक ओर तो प्रणयी के बिना सूखती रसिका बम्बई की सुन्दरी थी और दूसरी ओर पतिपरायण गँवारिन। एक ओर काव्यमयता,

रसिकता और आत्मा का अनोखा आह्लाद और दूसरी ओर पत्नीव्रत, बुद्धिमत्ता और भावी लोगों के लिए अनुचित जँचनेवाला उदाहरण !

मधुपर्कशंकर ने अपने प्रिय लेखकों को याद किया। उनके कथनों के उदाहरण स्मरण किये; किन्तु कोई भी साहित्यिक या उसका प्रभूतनायक ऐसी विडम्बना में फँसा हो, ऐसा प्रसंग उन्हें याद नहीं आया। उन्होंने आँखें मींच लीं और लगे अपने जैसे साहित्यि के अनुरूप तैंतीस करोड़ देवताओं में ऐसे की विनती करने जिसे फुर्सत हो। उन्हें ऐसा लगा मानो सारा भावी जगत् उनके निश्चय पर निर्भर हो। ऐसा जान पड़ा कि ऐसी स्थिति तो महाभिनिष्क्रमण करते समय गौतमबुद्ध की भी न हुई होगी।

अन्ततः परमार्थ बुद्धि की विजय हुई। स्वर्ग-लोक में देवताओं की दुन्दुभी बज उठी। मधुपर्कशंकर के हृदय को सुन्दर मार्ग दिखाई दिया।

मनोरमा केवल दर्शनाभिलाषी और निष्कलंक थी। उसे तो केवल अपने रसिक-हृदय की सरिता को सूखने से बचाये रखने के लिए किसी रसेश्वर का दर्शन करना था। इसमें क्या बुराई थी? इसमें कौन-सा पाप समाया था ?

और मधुपर्क शास्त्री का निजी हृदय भी तो शुद्ध और सात्विक था। वे स्वयं निष्काम थे और जब वे मनोरमा से मिलकर दो बातें करेंगे तो उसका भी मन शान्त हो जायगा। इससे तो अपनी सह-धर्मिणी के प्रति कोई द्रोह न होगा, वे तो उसी सहधर्मिणी के ही थे, और उसी के रहेंगे।

इसके विपरीत, यदि वे किसी कायरतावश ऐसा न करेंगे तो फिर उसके क्या-क्या परिणाम होंगे ? या तो मनोरमा की उदीयमान रसिकता दब जायगी अथवा किसी अपात्र की ओर झुक जायगी, और वह स्वयं कर्त्तव्यपरायणता से भ्रष्ट हो जायगा, और सदा के लिए भावी

जीवनी-लेखकों के लिए निन्दा का पात्र बन जायगा, यही क्यों, साहित्यकता को सफल करने का अनोखा लाभ गँवा देगा।

किसी भी साहित्यिक को ऐसा भाग्यपूर्ण अवसर नहीं प्राप्त हुआ था। कम-से-कम उनको लिखे-छपे और बिना छपे जीवन-चरित्रों में से तो प्रमाण मिलता नहीं था, और ब्रह्मा ने ऐसा प्रसंग तो उन्हीं को दिया है जिसका अभिप्राय यह होना चाहिए कि उसका लाभ लेकर वह साहित्यिकता के अस्पृश्य शृंग पर चढ़ सकें।

इस विचार से उनका शिथिल मन दृढ़ हो गया। मन में भर्तृहरि का श्लोक याद आया—

"अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा—"

पर इसी समय सेठजी आगये और शास्त्रीजी की विचार-शृंखला टूटी।

"शास्त्री, परसों तुम्हें मेरे साथ डुम्मस चलना है।"

सेठजी यह कहकर चले गये और शास्त्रीजी का हृदय कुछ धुकड़-पुकड़ करने लगा।

"प्रेमी ने क्या परख प्रेमपथ को लिया—
आत्मा ने क्या देख आत्मा को लिया।"

पर तुरन्त ही उन्होंने भर्तृहरि की कड़ी पूरी कर दी:—

"न्याध्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।"

: ४ :

जैसे फ़रिश्ते के पंख पर उड़ रहे हों इस प्रकार की यात्रा कर मधुपर्क शनिवार शाम को डुम्मस पहुंच गये।

बँगले के द्वार पर ब्रह्मा की रची पहेली युवती के देखने की आशा की थी, उसके बदले मिला सेठजी का लड़का वृन्दावन। वह कुछ उद्धत, शरारती और असंस्कारी प्रतीत हुआ। उसकी बातें और हँसी कुछ अपमानजनक प्रतीत हुई, पर अपने मन में ही व्यस्त मधुपर्क शंकर को इससे क्या सरोकार था।

मधुपर्कशंकर को नीचे की मंजिल में ज़ीने के नीचे स्थान मिला। पहली मंजिल पर एक ओर मनोरमा का कक्ष था और दूसरी ओर नर्स का। सेठ और वृन्दावन उसके ऊपर दूसरी मंजिल में सोने वाले थे।

बातचीत से शास्त्रीजी को मालूम हुआ कि मनोरमा की तबीअत कुछ खराब हो गयी है जिससे वह अपने कक्ष से बाहर नहीं आयी, और नर्स किसी कार्यवश गत-रात सूरत जानेवाली थी। मधुपर्क को परिस्थिति बहुत अनुकूल लगी। वह आनन्द की तरंगों पर झूल रहा था और सेठजी तथा वृन्दावन क्या बातें कहते हैं यह भी वह अच्छी तरह नहीं सुनता था। उनके सौभाग्य से बनूं (वृन्दावन) इतना बातूनी था, कि दूसरे को बोलने का मौका ही न देता था। किसी तरह उन्होंने भोजन किया। थोड़ी देर बाद सेठजी मनोरमा के कक्ष में गये।

बनू ने मधुपर्क की साहित्यिकता की अप्रत्यक्ष रूप में प्रशंसा की। उसके कितने ही शब्दों से जो शास्त्रीजी का अनुकरण प्रतीत होता था। कहीं उनका पत्र-व्यवहार इस लड़के ने पढ़ तो नहीं लिया है ? पर मनोरमा जैसी चतुर रमणी ऐसा न होने देगी, यह समझकर मन से भ्रम दूर हुआ। अन्ततः शास्त्रीजी की समझ में न आने वाला मज़ाक करके बनूं सोने चला गया।

नौ बज गये और मधुपर्कशंकर घड़ियाँ गिनने बैठे। पर ज्यों-ज्यों समय बीतता गया उनके हृदय की गति मन्द पड़ने लगी और साहस बटोरना कठिन हो गया। जब सेठ अपने सोने के कक्ष में चले गये और नौकरों ने ज़ीने की रोशनी बुझा दी तो शास्त्रीजी को ऐसा लगा मानों उनके हृदय का दीपक बुझ गया हो। अन्त में शास्त्रीजी सोने की तैयारी करने लगे।

पर उनका रसिक-हृदय उन्हें सोने योग्य मनःस्थिति में आने दे तब न। मनोरमा को देखने उससे मिलने का अवसर, रसिक युवती से वार्तालाप करने का लाभ, अपनी साहित्यिकता और रसिकता दिखाने का अनोखा प्रसंग छोड़ने को वे तैयार न थे। केवल यही बात न थी

यह बात तो उन्हें अपनी भावना और भावी लोगों के प्रति विद्रोह करने के समान था। ऐसी रसिक महिला ने अपनी स्वाभाविक लज्जा छोड़कर उसे आमंत्रण दिया था, भारी नयनों और काँपते हृदय से वह उसकी बाट देख रही होगी, और उसका पत्र पढ़-पढ़कर एक-एक क्षण बिता रही होगी। वह न गया तो वह अवश्य ही रो-रोकर सारी रात बिता देगी और सुसंस्कृत आत्मा के अनोखे सम्बन्ध के बिना सूख-सूखकर मर जायगी। इस विचार से उन्होंने अपने संकल्प और भी दृढ़ कर लिये।

हॉल की घड़ी में साढ़े-ग्यारह का घण्टा बजा और मधुपर्कशंकर ऊबकर उठ खड़े हुए। वह 'हेमलेट' की तरह कबतक जायें या न जायें के विचार में पड़े रहे। यह निश्चय कर लिया कि वे किसी स्वार्थ-बुद्धि से ऐसा नहीं कर रहा है। उसने इस शंका का समाधान किया कि वह अपनी सुदूर अर्द्धांगिनी के प्रति द्रोह नहीं कर रहा है। फिर यह निर्णय किया कि ऊपर किस प्रकार जाकर किस ढंग से बातचीत की जाय।

उसने खड़े होकर देखा बरामदे में कोई नहीं था। ज़ीने की ओर देखा वहाँ भी कोई नहीं था। समय और स्थल दोनों ही अनुकूल थे। वह धीरे-धीरे ज़ीने पर चढ़ने लगे। सीढ़ियों का ठीक पता न होने के कारण रेलिंग के सहारे शास्त्रीजी ऊपर पहुँचे और ऊपर जाकर मनोरमा के शयन-कक्ष की ओर दृष्टि डालकर ठहर गये।

इसके बाद उनका कदम आगे नहीं बढ़ा। लज्जा का दीप प्रकाशित हो उठा। उनके अंग-अंग में पसीना आ गया। उनके माथे और खवे पर भी पसीना आया था या नहीं यह नहीं ज्ञात हो सका। मधुपर्क-शंकर की उस समय वही दशा हो रही थी जो अर्जुन की गीता-श्रवण करने के पूर्व थी।

उन्होंने अपने मन को ज्यों-ज्यों दबाने की कोशिश की त्यों-त्यों

लगा चित्त चारों ओर फैलने। उनकी दृष्टि अब नीचे की ओर गयी और वह ज़ीने से उतरने का विचार करने लगे।

परन्तु शास्त्रीजी के पैर न आगे की ओर उठते थे न पीछे हटते थे। सिर से पसीना चूने लगा—बड़े परिश्रम से वे अपने को उस दशा में सँभाल सके।

कुछ देर शास्त्रीजी इसी प्रकार मूर्ति बने खड़े रहे। चारों ओर शान्ति थी, इससे कुछ मन शान्त हुआ। ऐसे प्रसंग में क्या करना चाहिए यह बात उन्हें नहीं सूझ सकी। बीच में तो इतनी घबड़ाहट हो गयी कि एक बार चीख लगाने की इच्छा हुई।

इस प्रकार मरते समय भयानक क्षणमें मनुष्य जैसे देवता का स्मरण करता है—मरणासन्न योद्धा जैसे अपने देश का स्मरण करता है उसी प्रकार उन्होंने अपने जीवन के ज्योति-रूप साहित्यिकों का स्मरण किया—किन्तु दुर्भाग्यवश उन सबमें न्यूनता दिखायी दी।

किसीके जीवन में ऐसे अटपटे भव्य-स्थान का अनुभव नहीं हुआ था। किसी ने ऐसे प्रसंग की कल्पना नहीं की थी—उस पर विचार भी नहीं किया था। उस अन्धकार में अपने दयनीय मुखमण्डल से उन्होंने सभी महात्माओं की स्थापित मूर्तियों से मूक प्रार्थना की—उनपर मौन आरोप किये। भक्त को इस प्रकार निरुपाय कर देने के लिए उन्होंने उनके प्रति तिरस्कार प्रदर्शित किया। रस के कीचड़ में पड़े रसिक के जद्धारार्थ तुमने एक भी मोह-मन्त्र नहीं दिया। 'सरस्वतीचन्द्र' में ऐसे प्रसंग प्रियतमा से मिलन व्यवधान के आते हैं, इसका संकल्प-विकल्प उन्होंने किया; पर वह वीर तो अब इस कक्ष में अकेला था। ज़ीने की रेलिंग छोड़कर वे अपनी प्रियतमा को अपनी तरंगों का परिचय देना चाहते थे। वह मुरझाई बेल को सींचने के लिए हाथ में रस का कुप्पा लिये कर्त्तव्य-परायणता में लगे थे।

एकाएक दूर की आवाज ने शान्ति-भंग की—मधुपर्कशंकर की

विचारमाला टूटी और उनका अंग-अंग थरथरा उठा। परन्तु दूसरे ही क्षण उन्हें ध्यान आया, यह तो किसी भूले-भटके गधे के रेंकने की आवाज़ है।

किंतु तुच्छ जीव को भी प्रधानता देने में मधुपर्क शास्त्री गुरुदत्ता-त्रय से कम न थे, और यह नाद मानो रसयुद्ध में पीछे पड़ते प्रार्थना प्रोत्साहन के लिए हृषिकेश ने पांचजन्य के सदृश बजाया था, मधुपर्क शास्त्री के हृदय में कुछ ऐसे ही भाव उदय हुए। उनके पैदा होते ही मानो रसेश्वर भगवान् ने कान में मंत्रोच्चार करके सुनाया—

निराशीर्निर्ममो भूत्वा युद्धस्व विगतज्वरः।

साहसपूर्वक उन्होंने एक कदम बढ़ाया—किवाड़ को धक्का लगाया और उसके खुलते ही अन्दर जा दाखिल हुए। ऊपर-नीचे देखा, चारों ओर शान्ति थी। कक्ष में भीतर पहुँचे तो एक हल्का दीपक दिमटिमा रहा था—एक सुन्दर शय्या में कोई सो रहा था।

मधुपर्कशंकर को बड़ा तरस आया। बेचारी बाट देखती-देखती सो गयी। वह कैसा दयाहीन है!

वह आगे बढ़ा। कक्ष में पूरी शान्ति थी। केवल पलंग से सोने के श्वास-प्रश्वास की आवाज सुनायी दे रही थी।

वह पलंग के निकट पहुंचे। कुछ देर खड़े रहे। फिर ओढ़ने के वस्त्र का स्पर्श कर 'मनोरमे!' कहने जा रहे थे कि पलंग पर सोया हुआ व्यक्ति कूदा।

वह व्यक्ति—पिशाचिनी-सी दिखायी दे रही थी—रोग से काला पड़ा चमड़ा और दुबले शरीर की भयानक रेखा, बाहर निकले दाँत और पागलपन की प्रदर्शक विस्फरित आँखें। उस लालित्य की मूर्ति समझी जानेवाली भयंकर मनोरमा की सूखी अँगुलियों ने मधुपर्क को पकड़ा।

उसने बैठते हुए कठोर कण्ठ से कहा—"मुआ मुझे जहर देने आया है—तेरे प्राण लेलूंगी।"

मधुपर्क शास्त्री काँप उठे। शरीर पसीने से शराबोर हो गया। मनोरमा शेरनी की तरह उसे पंजे चुभाने लगी। ऐसी बेढंगी स्थिति में यह रस-युद्ध पर चढ़ा रसिक अब द्वन्द्व युद्ध का शिकार बन रहा था। मनोरमा का क्रोध बड़ा प्रबल था—अब शास्त्रीजी भी आत्म-रक्षा के लिए हाथापाई कर रहे थे।

कोई पाँच मिनट तक यह युद्ध चला। शास्त्रीजी को यह याद नहीं रहा कि जिस समय उनपर यह द्वन्द्व-युद्ध चल रहा था उस समय उनके प्रिय स्वर्गगत साहित्य-आकाश से उसकी झाँकी लेकर उनके दाक्षिण्य का बखान कर रहे थे या नहीं। इस महाभारत-प्रसंग को देखकर प्रणयी की ओर देखनेवाले देव अक्षरधाम में से कुछ वर्षा कर रहे थे या नहीं, इसका भी निर्णय नहीं हो सका।

आखिर मनोरमा थककर गिर पड़ी। मधुपर्क एक ही छलाँग में किवाड़ के पास पहुँचा और दूसरी छलाँग में ज़ीने की पहली सीढ़ी पर जा पहुंचा। फटे कुर्ते-धोती और नखचन्द्र से क्षत-विक्षत शरीर लिए जीवित-मृत की भाँति मधुपर्कशंकर ज़ीने के सामने पड़ रहे।

घर में शान्ति थी।

थोड़ी देर बाद दूसरी मंजिल से जैसे वृन्दावन की आवाज आयी—

थी अर्द्ध-निशा निस्तब्ध,
घोर अँधियारी।
जागृत है नयनों में मोर चकोर
निशा रस-प्यारी।

मनोरमा को कौन-सा गुप्त रोग हुआ था और किस हाथ से उसके पत्र लिखे गये थे, इस ज्ञान का तेज मधुपर्कशंकर के दिमाग में फैल रहा था—तो क्या कवि ने यह बात बिना विचार किये ही लिख दी कि "भगवति वसुन्धरे विवम्।"

बहुत तड़के सूरत स्टेशन पर एक थका-हारा आदमी चेहरे-से आलस्य दूर करने का प्रयत्न करता हुआ बम्बई का टिकट ले रहा था।

एक स्वप्न

एक पलमात्र मैं देखता रहा। सन्ध्या के शान्त वातावरण में जैसे पक्षी बसेरा लेते हैं वैसे मैं रैन-बसेरा ले रहा होऊँ ऐसा प्रतीत हुआ।...

वह मेरे सामने बैठी थी। ऐसा प्रतीत होता था कि स्थान मेरा है—वह बहुत ही परिचित और प्रिय लग रहा था।

प्रकाश न तो चन्द्रमा का था और न सन्ध्या का—पर था कुछ बिना रंग का। विश्वकर्मा ने सृष्टि-रचना के समय कुछ ऐसे स्वयम्भू तेज में नक्षत्रों का निर्माण किया था। उनमें आह्लाद माधुर्य और मद भरा था, पर चीजें एक-सरीखी और स्पष्ट नहीं दिखायी दे रही थीं।

पर इस प्रकाश में उसके आकर्षक काले केश मेरी आँखों के सामने तैर रहे थे। उषा के आभास में अस्पष्ट हुए चन्द्रमा के समान उसका मुख था। उसके सुकुमार अंगों का रेखा-लालित्य अद्भुत था, यह तो स्पष्ट प्रतीत हो रहा था।

उसका विवरण अंकित कर लेने की मुझे सुधि नहीं थी, किन्तु उसके लालित्य की मोहिनी ने मुझे मुग्ध कर रखा था। उसकी मधुरता के प्रसाद से परमानन्द का अनुभव हो रहा था। मेरी रगों में अभिनव-नृत्य चल रहा था, मेरे हृदय में बाढ़ आ गयी थी। आगे-पीछे का विचार किये बिना मैं सहवास की सनातन इच्छा के प्रबल प्रवाह में तैर रहा था। उसकी हँसी पर ही सारे जीवन की आशा रची गयी थी। उसके मधुर वचनामृत-पान पर ही प्राण टिके हुए थे।

ये आकर्षण किससे हुए, कब आरम्भ हुए और किस कारण हुए, यह सब समझ में नहीं आया। मेरी पत्नी थी या नहीं, दूसरे सम्बन्धी थे या नहीं, यह सब विचार करने का न मुझे अवकाश था और न इसकी इच्छा थी। जैसे कौमुदी में कमल का विकास होता है उसी तरह मैं विकसित हुआ। मेरी जिह्वा पर कोई अपरिचित सरस्वती आ बैठी। मेरे विचारों की तहें अप्रत्याशित रूप में खुलने लगीं। मेरी रसिकता का कोका उछल पड़ा। मुझमें कुछ ऐसा प्रभाव भर गया जो कभी देखने में नहीं आया था।

मैं हँसा। अपरिचित होने पर भी वार्तालाप में रस लेने लगा। मेरे हृदय में विजय की प्रबल लालसा प्रकट हुई। जहाँगीर और ऐण्टनी की सौन्दर्य-सेवा का तो मेरे मन में कोई हिसाब नहीं था। वह मेरी कौन थी, यह भी याद न रहा। वह कहाँ से आयी थी, यह भी स्मरण नहीं रहा था। वह किसी महान् कर्मवीर, धनवीर की सम्बन्धिनी थी, इस प्रकार की जानकारी मस्तिष्क में थी। मैं क्षण-क्षण के सौभाग्य का आनन्द ले रहा था। अगले क्षण की पर्वाह नहीं थी।....

मैं फूल रहा था। जीवन मधुरतामय हो रहा था मैं उसके साथ घूमा-फिरा—कुछ समय के लिए तो अनियंत्रित रूप में। वह देवांगना-सी प्रतीत होती। मैं तो दिशा और काल से व्यतिरिक्त-जैसा लगता था इसलिए मुझे न तो स्थल का ज्ञान रहा न समय का। एक निर्जन चौड़ा मार्ग था; क्षणभर में उसके चारों ओर विशाल भवन और दूसरे ही क्षण सघन वृक्ष दिखायी देने लगे; कुछ ही क्षण बाद बेरंगी सूर्य की रचना हो गयी और वह पहले का-सा प्रकाश,.....फिर ऐसा लगा कि यह तो बम्बई है।

कुछ ऐसा भी याद पड़ता था कि मेरे मित्र—नाम में बुद्धि और सत्ता के विघ्न—सन्तोषी मित्र मेरा भाग्य देखकर अनदेखे बन रहे थे। एक ने तो मज़ाक किया; मैंने उसे सुन तो लिया पर समझ नहीं सका, फिर भी मुझे उस पर क्लेश हुआ .....।

किसी दूर देश से वह अपने धनाढ्य सम्बन्धी से मिलने आयी थी। उससे मिले बिना तो वह रह नहीं सकती थी; वह उसे पिता के समान मानती थी। उसने मुझे साथ चलने को कहा, मैं साथ जाने को तैयार हुआ या नहीं, यह मेरी समझ में नहीं आ सका—पर मैं उसके साथ गया.....।

मेरी मित्र-मण्डली थी। वह अशक्य संयोग किसी स्वाभाविक रीति से हो गया था। जिस मंजिल पर मेरी चिड़िया जाकर बैठनेवाली थी वहाँ उड़ने का मुझे न जाने कैसे अधिकार हो गया। मेरे पंखों में गरुड़राज का गर्व समा गया था; और जादूभरे परमानन्दपूर्ण आकाश में मैं मस्त बनकर विहार करता रहा।.....

एक ऊँची दीवार के बन्द किवाड़ के सामने पहुंचकर हम रुके। दीवार की छत क्षितिज के समान आकाश के साथ मिल गयी। वह मेरे बगल में थी—यह मुझे याद न रहा। फाटक पर का नाम पढ़कर देखा। किवाड़ कुछ खुले—किसने खोला, यह नहीं मालूम हुआ और हम अन्दर घुसे।

मुझे ऐसा लगा कि मेरा हृदय एक अवसर चूक गया था। क्योंकि उस पर दुःख की क्षणिक छाया थी। उसकी आँखों में आतुरता थी, उसकी बातों में ललक थी—अपने सम्बन्धी से मिलनेके लिए वह जा रही थी, उसकी स्नेह-सृष्टि में—मैं उसमें बिना स्थान का एक खामखाह-सा।.....

मैं न जाने कैसे उस विशाल रंगभूमि के भव्य-भवन के सामने पड़े हुए सोफा पर बैठ गया। खिड़की में से बहुरंगी प्रकाश आ रहा था—भूमि पर हरीतिमा थी।.....उस अपार्थिव प्रकाश में मैंने धोती, चप्पल, कालेकोट और टोपी पहने निराश चेहरेवाले अपने निराश व्यक्तित्व को मैंने स्वयं देखा।

वह तो मेरी ओर देखे बिना उछली-कूदती अन्दर चली गयी। उसे गाते हुए मैंने ठीक तौर से नहीं देखा। केवल उसके मस्तक का

सौन्दर्य देखा—सफेद फूल भूमि पर पड़े देखे और कमर की मनोहर लचक देखी—और वह क्षण-भर में ही लुप्त हो गयी।.....

पारदर्शक पर्दे के रंग-बिरंगे चमक में मैंने उसे उड़ते, उछलते देखा; यूरोपियन पोशाक की काली और सरकारी भव्यता में सुशोभित एक ऊँचे और वृद्ध पुरुष गिरश्रृंग पर छायी बदली के समान दिखायी दे रहे थे। मैंने देखा दोनों अन्दर के कक्ष में चले गये।.....

एक दूर से अस्पष्ट दिखनेवाले बिलियर्ड टेबल के हरे छोर पर उसे कूदकरबैठते देखा.....फिर उसकी बिजली के समान हास्य से चमकती दन्तपंक्ति देखी—शेष सब पर्दे के रंग में विलीन हो गया।.....

मेरे पाँव के पास अब दो जने बैठे दिखायी दिये जो पहले नहीं थे, वे कब आ गये, यह मैंने नहीं देखा। एक तो दक्षिणी ब्राह्मण था और दूसरा काठियावाड़ी था। दोनों गरीब-जैसे लगते थे। दोनों के बीच एक खुली हुई पोटली पड़ी थी।

इन दोनों को इस पाश्चात्य विलास और वैभव भरे रंगमहल में देख मेरा हृदय कुछ दब गया, मैंने दृष्टि आगे फैंकी तो अंधेरा-सा छा गया।

"भाई! यह तुम्हारी माला गिर पड़ी।" जैसे उस काठियावाड़ ने कहा। मैंने चौंककर देखा तो मेरे पाँव के पास एक रुद्राक्ष की माला पड़ी थी। वह खुली पोटली रुद्राक्ष से भरी लगी।

"मेरी?" मैंने पूछा।

"हाँ," उन्होंने असम्बद्ध वाक्य में कहा—"हम रुद्राक्ष बेचते हैं।"

मैं वह माला कब लाया, उसे कब पहना, इन प्रश्नों का कोई जवाब नहीं जँचा। उत्कण्ठा-भरी आँखों से मैंने फिर अन्दर देखा; पर पर्दे की चमक और पारदर्शकता जाती रही थी। मुझे निराशा की ठण्डक लगी, मृत्यु से भी अधिक भयंकर भय से मैं काँप उठा।

मैंने माला ले ली और मुझे अपने निकृष्ट पहनावे का ध्यान आया। मैं तो बिजली के पंखे के नीचे फूलों से सजे टेबल पर छुरी-कांटे से

खाना खाने आया था। हृदय अकुलाहट के आवेश से दबने लगा।

उन दोनों पुरुषों की पोशाक कालीन-जैसा बनने लगी। वे तो केवल कालीन में चित्रित फूलों में से आँखें मटका रहे थे। पर मेरे पैरों के पास वह माला अब भी पड़ी थी।

एक मनुष्य ने मुझे ऊपर आने की सूचना दी, क्योंकि मेरे मित्र मेरी बाट देख रहे थे। मेरी जान-में-जान आयी। उस सुन्दरी के पुनर्दर्शन की आशा से मेरा अचेत बनता शरीर जैसे कुछ सचेत हो उठा।

वह व्यक्ति मुझे एक टूटे ज़ीने से होकर ऊपर ले गया। एक कक्ष में मेरे मित्र टेबल पर खाने के लिए बैठे थे। वे मेरी राह देख रहे थे। मेरी दृष्टि तो उस अपनी आँख की पुतली को देखने में लगी थी। उसके सम्बन्धी को वहाँ एक कोने में सफेद कपड़े पहने बैठे देखा। कुछ स्त्रियाँ भी वहाँ आने वाली थीं, ऐसा मुझे उनके मिलने से मालूम हो गया। मुझे कल पड़ी।

मुझे स्पष्ट लगा जैसे मुझे कोई अद्भुत प्रेरणा प्राप्त हुई है। किसीने मुझे कुछ नहीं कहा, न मैंने किसीसे कुछ कहा; पर उस विदेशी पोशाक पहने हुए व्यक्ति की भोजनशाला में जाते समय मुझे बूट उतार देने की इच्छा हुई। मैं वहाँ से एकदम बाहर निकला और पास ही बूट उतार आने चला गया। एक बूट तो निकाल दिया; पर दूसरा निकालने में देर लग गयी। अन्त में मैं नंगे पाँवों बाहर आया।

मैं जल्दी में भूलने लगा कि मुझे किस कमरे में दाखिल होना है। बिजली के प्रकाश और फूल की सुगन्ध के बदले पास के छप्पर से सूर्य की किरणें फर्श पर पड़ रही थीं। उस स्थान पर फर्श के ऊपर एक पीताम्बरधारी सज्जन भोजन करने को बैठे थे। मैं चौंका, होश खोजने लगा, ऐसा लगा कि वह सुन्दरी हाथ से गयी। मैं चकित-सा चारों ओर देखने लगा तो विप्रगण स्वस्थतापूर्वक भोजन ग्रहण कर रहे थे।

मैं पीछे लौटा। टेबल पर खानेवाले मेरे मित्रों ने मेरी खोज शुरू कर दी थी। दो-चार जाति-भाई हाथ में कमण्डल लिये भोजन परोसने आते दिखायी दिये। मैं काँप उठा। मैं ऐसे भागने लगा जैसे मेरे पीछे पिशाच लग गये हों, पर मैं भाग नहीं सका; मेरे हृदय की धड़कन बन्द हो गयी। मेरा गला रुंध गया, मैं खड़ा रह गया।

निराशा ने मुझे पछाड़ दिया। सौ कब्रों के भार से सृष्टि का संहार-काल आ गया। अगणित शंकरों के ताण्डवों से नक्षत्रों की धूल उड़ने लगी, अनन्त भविष्यकाल की भयानक रात धरती पर उतरी। मैं निराधार और निराश हो हाथ-में-हाथ पकड़े खड़ा रहा।

दोनों हाथों के बीच न जाने कहाँ से आयी पहुँची रुद्राक्ष-माला बज उठी। मेरे तो प्राण उड़ गये।

भय से काँपते हुए मैं बिस्तरे से उठ बैठा।

मेरी कामचलाऊ धर्मपत्नी

हे बीसवीं सदी के पत्नीपरायण रामचन्द्रो ! यह शीर्षक देखकर भड़कियेगा नहीं, और चौंककर आँखें न मींच लीजियेगा। उसमें क्या रहस्य छिपा है उसे खोजने की बेहयाई-भरी कल्पना से प्रयत्न भी न कीजियेगा। मैं भी पत्नीव्रत पालन में बहुत चुस्त हूँ और न भी होऊँ तो मेरे घर में रहनेवाली जगदम्बा इस तलवार की धार जैसे व्रत से मुझे छुटकने का अवकाश या अवसर दे ऐसी बात नहीं है। इसलिए आप बेधड़क आगे बढ़ियेगा।

यह तो सभी को याद होगा कि सम्वत् १९....के वैशाख मास में गुजरात में विवाह का संक्रामक रोग फूट निकला था और इससे जितने भी हो सके उतने लड़के-लड़कियों के विवाह का प्रयोग हुआ था।

उसके दो वर्ष पहले की बात है जब मैं रेवेन्यू विभाग में सर्किल इन्सपेक्टर के पद पर, तहसीलदारों से लड्डू-खीर खाने की बढ़िया नौकरी करता था। उस समय बारकुआ गाँव के दयालजी भाई के साथ मेरा घनिष्ट सम्बन्ध था। यह सम्बन्ध किस कारण से हुआ था, वह अब मैं वारलोन (युद्धत्राण) के प्रताप से मामलतदार (मजिस्ट्रेट) हो जाने के कारण नहीं कह सकता, किन्तु इतना कह देना बहुत होगा कि इस मौसम में उनके यहाँ तीन लड़कों का ब्याह होना था और मैं

जाता तो उनके गणपति भी सूँड सीधी करके नहीं बैठते थे। मेरा और उनका सम्बन्ध इसी प्रकार का था।

उस समय मैं अव्वल कारकुन के दर्जे तक पहुँच चुका था और पूना से सरकारी काम करके लौट रहा था, इससे भत्ते और भाड़े में भी ठीक बचत हो जाती, इसी कारण मैंने उस फ्लीग स्टेशन—जिसका नाम लेने की आवश्यकता नहीं—से बारकुआ जाने के लिए थर्ड-क्लास का टिकट लिया था। (सरकार मुझे सेकण्ड क्लास का भाड़ा देती थी।) और नौ बजे की गाड़ी में बैठ गया।

इस गाड़ी में एक आराम है। एक तो इसमें वही बैठते हैं जो नये यात्री होते हैं। जो लोग हाल ही में यात्रा करके उकताये हुए हैं वे तो इसमें पाँव भी न रखेंगे, इससे एक बड़ा लाभ यह है कि इसमें पाँव फैलाने को जगह मिल जाती है। दूसरे उच्च अधिकारी तो इसमें कदाचित् ही बैठते हैं, इसलिए इस तरह का सवाल करके दिमाग खराब करने वाला कोई नहीं मिलता कि थर्ड क्लास में क्यों बैठे हो, आज क्यों सफर कर रहे हो, हेडक्वार्टर पर क्यों नहीं हो ?

मैं तो चर्नीरोड से रेलगाड़ी में बैठा और जिस डिब्बे में चढ़ा वहाँ एक बीस वर्ष की शर्मीली, ठसकदार और हँसमुख युवती बैठी थी। उसके साथ उसका एक दो वर्ष का बच्चा भी बैठा था। दूसरी सीट पर एक युवक पैर स्त्री की ओर किए लेटा सोने के प्रयत्न कर रहा था। यह पुरुष उस स्त्री का स्वामी मालूम पड़ता था।

ग्राण्ट रोड से असली जमाने के एक वृद्ध देसाई लाल-पगड़ी और पान से शोभायमान मेरी बेंच पर आ बैठे।

हम तो जरा बातूनी ठहरे; फिर जिलों में घूम-घूमकर दोस्ती गाँठने में तो हम एक ही थे, इसलिए हमने देसाई को झट रंग पर चढ़ाया और इधर-उधर की बातें हाँककर उनसे दोस्ती कर ली।

पालघर आने पर मुझे भूख लगी। रात में तो हमें बारकुआ पहुंच कर खाने पर हाथ साफ करना था इसलिए फलाहार करके पेट की शक्ति

बढ़ाने के विचार से केवल आधा दर्जन केले ले लिए और उसमें से भी तीन-चार खाकर बाकी पैर के पास रख लिये।

अब तिल का ताड़, राई का पर्वत आदि कहावतों की बात याद करते हुए पाठकों से यह कहे बिना नहीं रहा जा सकता कि यदि मैं पालघर में केले न लेता और लेकर भी बची हुई फलियाँ अपने और उस जवान स्त्री के बीच में न रखकर खा गया होता तो मुझे यह कामचलाऊ धर्मपत्नी की कहानी लिखने की और आपको पढ़ने की नौबत न आती।

पर खैर, जो होना था सो हो गया और वह विचक्षण लड़का बेंच से फर्श पर कब उतरा इसकी मुझे खबर न रही। वह धीरे-धीरे पैर सरकाते और सिसकारी मारते हुए केले की ओर जाने लगा।

मैं एक तो बी० ए० डिग्रीधारी शिक्षित दूसरे कालेज-जीवन से ही स्त्री-सम्मान और सोशल गैदरिंग (सामाजिक सम्मेलन) में रस लेने वाला ठहरा, इसलिए मेरे हृदय में स्त्री-सम्मान की जो भावना थी वह फट पड़ी और उससे अंकुर उत्पन्न हो गया। मैंने केला तोड़ा और उसे झट छीलकर उसका टुकड़ाकर उस लड़के को दे दिया। वह आनन्द से हँसते मुँह देखता रहा।

बच्चे की माँ ने जरा नीचे दृष्टि डाली और जरा हँसकर बोली—"रहने दीजिए न, कपड़े बिगाड़ लेगा।"

मैंने भी ज़रा अधिकार के स्वर में कहा—"क्या हर्ज है।" इस प्रकार अनजान में निशाना ठीक लग गया। मेरे पास बैठे देसाई शरलक होम्स बन गये। उन्होंने अपने दिमाग में हिसाब बैठा लिया कि मैं बच्चे का बाप हूँ, वह स्त्री माँ और वह मेरी है!

पालघर गया और देसाई तो अपनी झोली खोलकर पान बनाने लगे—फिर बीड़े बनाये तो एक, दो, तीन, चार। [बातचीत करते, हँसते बुड्ढे ने एक तो अपनी स्त्री को दिया, दूसरा अपने मुँह में

डाला, तीसरा मुझे दिया और हाथ के इशारे से मुझे सूचित किया कि वह चौथा बीड़ा उसको दे दूँ !

मेरे दिल में तो घबराहट हुई। मैं विवाहित युवक, कारकुन का पद भोगने वाला, वह युवती, अपरिचिता युवती को, जिससे मेरी बात चीत तक का व्यवहार नहीं है, पान का बीड़ा दे दूँ ! मेरा तो सिर चक्कर खाने लगा मैंने हाथ से देसाई को सूचित किया कि उसे पान देने का सम्मान वे स्वयं ग्रहण करलें। मैंने हाथ के इशारे से देसाई को यह इशारा नाहक किया कि वह पान उस युवती को दे दे। पर देसाई ऐसा कैसे करता ! मैंने सोचा—"भले आदमी ! क्या करते हो ?" मैंने मन में यह भी सोचा— अरे मूर्ख, वह सोया पुरुष जग जाय और मुझे अपनी पत्नी को पान देते देख ले तब तो मेरी हड्डी का चूरा बन जाय, और मेरी इज्जत का क्या बने, इसका उत्तरदायित्व कौन ले सकता है ?

पर मेरी दृष्टि उस स्त्री पर पड़ी उसने भी यह रंग देखा और वह देसाई का किया हुआ गोलमाल समझ गयी। अब वह न ऊपर देख सकती थी न अपनी हँसी रोक सकती थी। उसने खिड़की से मुँह बाहर निकालकर बड़ी कठिनाई से हँसी को उड़ा देने का बहुतेरा प्रयत्न किया। और मैं तो निश्चय नहीं कर सका कि मुझे हँसना चाहिए या रोना।

"अरे तुम तो अजीब आदमी दीखते हो !" देसाई ने कहा। मैं 'अरे भाई हाँ' कहने का विचार कर रहा था; पर मुझे तो उसकी जबान से डर लगा। आधी आँख उस सोये आदमी पर और आधी उस स्त्री पर रखते हुए मैंने पान का बीड़ा देसाई से लेकर घबराते-घबराते उस स्त्री की ओर बढ़ा दिया।

उस स्त्री को भी इसमें मजा आया। धीरे से आँचल से हाथ निकालकर उसने पान का बीड़ा थाम लिया, फिर मुँह में डालकर इस गोलमाल से पैदा होनेवाली हँसी रोकने के लिए पान चबाने लगी।

पर हँसना किस बात का रह गया ? थोड़ी देर में हमारी नजर मिली, मन में विचार आया और फिर हँसी आने लगी।

इस तरह घण्टे-दो घण्टे बीत गये, और मेरे उतरने का स्टेशन आ गया। देसाई को भी वहीं उतरना था। वह पहलवान भी थोड़ी देर से नींद-से जग गया था और उसी स्टेशन पर उतरने की तैयारी करने लगा था। वह स्त्री भी अब उतरने की तैयारी करने लगी। पिछले दो घण्टों की घबराहट और हँसी रोकने के सहयोग से मुझे कुछ ऐसा आनन्द आया कि स्टेशन इतनी जल्दी आ गया इसका मुझे भान भी नहीं हुआ।

पर किया क्या जाय ? गाड़ी रुकी तो देसाई उतर पड़ा। फिर मैं उतरा। मुझे लेने के लिए आनेवाले यह देखें कि मैं किस क्लास में से उतर रहा हूँ, उसके पहले ही उतरकर सेकण्ड क्लास के सामने खड़े हो जाने का मेरा नियम था, इसलिए मैं अधिक समय थर्ड-क्लास के सामने रुकने वाला नहीं था; किन्तु जाते-जाते मैंने पीछे घूमकर देखा और उसे जरा-सा देख लिया ! उतरते-उतरते उस लम्बे गृहस्थ के नींद से दबे गले से मैंने यह बात सुनी कि—"तू उस कोठरी के सामने खड़ी रह, छगनियाँ की धोती रह गयी है, मैं देता आऊँ।"

इस छोटे-से स्टेशन पर काफी भीड़ और धमाचौकड़ी थी। एक-दो उतरने वाले यात्रियों को लेने के लिए चार-चार जने प्लेटफार्म पर आ गए थे। मैं तो झट सेकण्ड-क्लास के आगे जा खड़ा हुआ। मेरे मित्र का भतीजा हाँफता-हाँफता आ पहुँचा—"ओ हो राव साहब, राव साहब।"

"क्यों, मकनजी, अच्छे हो न ?" मैंने जवाब दिया और उसे अपनी बेग देदी। पर मेरी नजर उस लम्बे सहयात्री की ओर थी जो धोती हाथ में लिए इंजन की ओर दौड़ता जा रहा था। वह दो-चार बार 'छगनिया' नाम लेकर चिल्लाया और अन्त में वह मिल गया। वह आदमी उससे बात करने के लिए उसके डिब्बे में चढ़ गया।

उसकी बातचीत पूरी भी न हो पायी थी कि इंजन ने सीटी देदी। गार्ड ने आकर 'धड़' से उस डिब्बे को बन्द कर दिया। "भीतर बैठ, जम्बू, घरवाली से पूछ आया है ? मर जायगा।" पारसी गार्ड ने उसे सचेत करते हुए कहा। गाड़ी चल दी और वह बेचारा बेबस हो उतरने से रह गया।

उस स्त्री और बच्चे का क्या होगा ? उन्हें लेने के लिये कोई स्टेशन पर आया होगा क्या ? वह जम्बू तो कहाँ खोजेगा ? इस प्रकार के अनेक पारमार्थिक विचार मेरे मन में आए। किन्तु मकनजी ने मुझे कहा—

"रावसाहब, आप यहाँ रुक जायँ, मैं दूसरे यात्री को साथ लेता आऊँ।"

मैंने रोब में कहा—"हाँ, हाँ।"

मकनजी ने जाते-जाते कहा—"साहब, आप उस गाड़ी में बैठ जायँ— मैं अभी आया।" कहकर मकनजी दूसरे मुसाफिर के लिए गया।

दयालजी भाई के यहाँ इस रेलगाड़ी से दस गाड़ियाँ भर-भरकर लोग आने वाले थे। उनमें पुरुष और स्त्रियाँ दोनों। गाड़ी भरने के लिए मकनजी इधर-उधर चक्कर काट रहा था। मेरे रेलगाड़ी के साथी देसाई भी कुछ व्यस्त दिखायी दिये।

आखिर दूर से मकनजी ने चिल्लाकर कहा—"रावसाहब, आपके साथ ये मास्टर और ये सेठ जायेंगे। आप अब चल पड़ें।"

एक अहमदाबादी बनिया और दूसरा सूरती पगड़ी वाला मास्टर मेरी ओर आए। हम तीनों एक गाड़ी में बैठ चले। उस स्त्री का क्या हुआ होगा, इसी चिन्ता में पड़ा रहा—वह गाड़ी तेजी से आगे बढ़ रही थी।

थोड़ी देर बाद हमारे आगे दूसरी गाड़ी निकली। उसमें देसाई सपत्नीक बैठा था। देसाई ने अपनी दौड़ती गाड़ी में से मुझे कहा—

"रामराम भाई साहब ! और सबको ठीक बिठा दिया है।" कुछ इस प्रकार की बात मुझे सुनायी दी। मुझे उसकी बात का जवाब देने की आवश्यकता नहीं प्रतीत हुई।

इस प्रकार उन बैलगाड़ियों के पहियों से उठती धूल खाते-खाते पाँच मील दूर स्थित बाराकुआ आ पहुँचा। मेरे मित्र ने कहा कि मेरे मजिस्ट्रेट साहब ने कई बार कैसा रोब दिया था और मुझे वह पद कितने दिनों में मिलेगा, ऐसे अनेक प्रश्न किये, और उस हँसती-शर्माती स्त्री का मुख-मण्डल मेरी नजर से दूर करने का प्रयास किया; पर सब व्यर्थ हुआ।

जब हम अपने मित्र के यहाँ पहुँचे तो उन्होंने मुझे अपने प्रेम-पाश में बाँध लिया। मैं उनके सभी मेहमानों का सिरमौर-सा बन गया। ब्याह की धूमधाम में भी उन्होंने मेरे लिए चायपानी तैयार रखा था। और तीन-चार जनों के यहाँ मुझे साथ चाय-पानी के लिए जाने का निमन्त्रण वे ले चुके थे और मुझे अपने घर के सामनेवाले घर में खासतौर पर ठहराने का इन्तजाम कर रखा था। इन सब समादरों से से मैं तो प्रसन्न हो गया, और यह दृढ़ संकल्प किया कि यदि इस तहसील में मजिस्ट्रेट बन सकूं तो अपने मित्र को अवश्य ही इसका अच्छा बदला चुकाऊँ।

दयालजी भाई मेरे साथ खुद सामने के ठहरने के स्थान तक आये। मेरी बेग वहाँ रखी। उस बेग से अलपका का नया कोट, नई धोती, नई खेस और नया फेंटा निकालकर दुकान की शोभा बढ़ाने के लिए तैयार हो गया। मेरे मित्र ने धीरे से पूछा—"रावसाहब ! हुक्म मिल गया ?"

"किस बात का ?" मैंने आश्चर्यपूर्वक पूछा।

"क्यों आप तो हमारे कलक्टर साहब के पेशकार होने वाले हैं न ?" उसने मिठास के साथ पूछा।

अच्छा ! इस असाधारण मान-सम्मान का कारण अब समझा

वैसे मेरा चुनाव तो थोड़े दिनों में होने ही वाला था, पर मेरे मित्र की आशा का दुर्ग टूट जाय और मैं किसी दूसरे जिले में अव्वल कारकुन-पद पर नियुक्त हो जाऊँ यह बात मुझे नहीं रुची। पर मैंने वह भ्रम कायम रखा—"इसीलिए तो मैं पूना गया था, पर किसी को यह बात न कहियेगा।"

"अरे, क्या कहते हैं साहब ?" कहकर दयालजी मुझे अपने मकान में चाय-पानी के लिए लिवा ले गये।

"रावसाहब, मैं इस जीने का दरवाजा बन्द किए देता हूँ जिससे सवेरे आपको कोई जगा न सके।" मकनजी ने कहा।

"अच्छी बात है" कहकर मैं जीने से ऊपर चढ़कर खिड़की से थूकने गया। इस बीच मकनजी ने नीचे का किवाड़ बन्द कर दिया। मैं सोने के लिए उस कोठरी में गया तो मेरी आँखों के सामने अँधेरा था। मैं जागता हूँ या नहीं, मुझे यही नहीं समझ पड़ा। वहाँ उसी कोठरी में फर्श पर ऊँघती हुई वही स्टेशन वाली स्त्री बैठी थी।

"हैं" मेरे मुँह से अकस्मात निकल पड़ा। मेरी आवाज सुनकर वह स्त्री उठ खड़ी हुई और बोली—"अरे! आप कहाँ से ?"

दोनों घबराहट से एक दूसरे को देखते रहे। अँधेरी रात में एक-दूसरे के इतने निकट—दीये की टिमटिमाहट, बाहर का किवाड़ बन्द और उस अनजान बच्चे के अतिरिक्त, हम दोनों का एकान्त मिलन !

"आप यहाँ कैसे आगयीं ?" थोड़ी देर बाद जैसे चेतनता प्राप्त करते हुए मैंने पूछा।

"क्यों, हम यहाँ विवाह में आए हैं।"

"तो तुम्हें भी बारकुआ आना था ?" और कुछ न सूझने पर मैंने कहा।

"नहीं, नहीं यह तो बावकोठी है।" स्त्री-सुलभ निश्चिन्तता के साथ उसने कहा।

"नहीं, यह तो बारकुआ के दयालजी भाई का घर है।"

"हाय, हाय, तो फिर मुझे यहाँ क्यों लाया गया।"

"पर तुम्हारे पति तो रेलगाड़ी में ही रह गये ?" मैंने कहा।

"हाँ !" उसने घबराकर पूछा।

"और क्या—तुम्हारे उस छगनिया की धोती देने जो डिब्बे में चढ़े तो इतने में ही रेलगाड़ी छूट गयी। मैंने उन्हें जाते देखा है।"

"अरे आप क्या कहते हैं ? मुझे तो वह देसाई कह गया था कि बच्चे का बाप अगली बैलगाड़ी में बैठा है, और कोई मकनजी भाई मुझे दूसरी बैलगाड़ी में बिठा गया।" उसने फीके पड़ते मुँह से कहा।

मेरी समझ में बात आगयी। मैं माथे पर हाथ रखकर बैठ गया। इस विडम्बना में पड़कर भी मैं हँसे बगैर न रहा—"धन्य भगवान !"

"पर यह क्या ? मुझे तो कुछ भी नहीं समझ पड़ता ?"

"अरे उस बुड्ढे ने यह गोलमाल कर दिया है। वह मुझे आकर कह गया कि सबको बैठा दिया है। वह बात मेरी समझ में अब आयी। उस समय तो मेरे मन में यह बात आयी कि न जाने किसे बैठा आया।"

"तब तो मुझे तुम..." कहकर वह शर्म से फीके मुँह से रसीली हँसी हँसकर बोली—"हाय रे, क्या गोलमाल हो गया !"

"हाँ, ऐसा ही गोलमाल होता है। वह पान लिया तब नहीं जान सकीं ?"

"हाय, हाय, पर उनका क्या होगा ?"

"होगा क्या, दूसरी गाड़ी से वापस आजायँगे।"

"और हमारा ?"

"तो मुझे तुम्हारे कारण ही यह सब मान-सम्मान और चाय-पानी मिला है—इस गोलमाल के कारण ही ?"

"हाँ।"

हम दोनों चुप रहे। स्त्री की स्वाभाविक अशक्ति के कारण वह प्रस्तुत विषय पर नहीं आ सकती थी।

मैंने फिर सुना। "पर अब क्या होगा?" कहकर वह मुझे देखने लगी।

बेचारी घबराहट में पड़ गयी थी। "हाय हाय, अब क्या करूँ?" घबराते हुए भी वह हँस पड़ी। मुझसे भी न रहा गया। इसलिए मैं भी एकदम हँस पड़ा। फिर इस कठिनाई में से कैसे त्राण मिले, यह देखने के लिए हम खिड़की की ओर गये।

"भाई! किसी को कहना....." वह कह रही थी।

"सभी सो गये हैं," मैं निराश होकर पीछे लौटकर बोला—"अब किससे कहूँ? इज़्ज़त नहीं जायगी?" मैं पीछे लौटकर फर्श पर बैठ गया।

"सच है! इस समय किसी को भी कहा क्या जाय? इस बच्चे का बाप जानेगा तो प्राण ले लेगा।"

"और ये सब जानेंगे तो मेरा फज़ीता होगा। मैं तो रावसाहब हूँ।" मैंने चिन्ता करते हुए अपनी घबराहट प्रकट की।

"तो फिर रात किसी तरह दुःख-सुख से काट देंगे।" स्त्री ने कहा।

"मैं सोने के लिए नीचे अलग चला जाऊँ?" उसको पूछा।

"नीचे किवाड़ खोलने का प्रयत्न करेंगे तो सारा मुहल्ला जागेगा।" मैंने फिर कहा।

"और ब्याह का घर ठहरा।" उसने कहा।

मैं चुप रहा।

"पर सबेरे क्या कहूँगी?" उसने नई कठिनाई की ओर इशारा करते हुए कहा।

"सो तो कुछ हो ही जायगा। तुम्हें बावकोठी छोड़ आऊँगा?"

"हाँ, यही ठीक होगा।"

पर इस कठिनाई का समाधान होने के बाद उसने उस कोठरी की लम्बाई-चौड़ाई नज़र से ही नापी, दीए के धीमे प्रकाश का मूल्य आँका और मेरी ओर देखकर रह गयी। मैंने भी उस समय वही किया और उसकी ओर देखा। मेरा मुँह देखकर वह ज़रा हँसी; नीचे देखा और मैंने बगल की ओर दृष्टि डाली और हम दोनों ने अदम्य हँसी से कोठरी गुँजा दी।

मैंने देखा, हमारी हँसी की आवाज़ सुनकर सामने के मकान में एक ने खिड़की का कुछ भाग खोला और वह हमारे 'दम्पति-विनोद' का दृश्य देखने लगा।

मेरी ज़बान निकली की निकली रह गयी। वह बोली—"मुआ, कहीं का।"

मैं धीरे से उठा और अपने सामने की खिड़की बन्द कर आया। हम कहाँ और कैसे सोयें, यह प्रश्न तो बिना निर्णय के ही रह गया।

मैं फिर आकर बैठा। फिर हम दोनों की दृष्टि इस छोटे-से कमरे में घूमी। हमने दीपक देखा और उस समय तो एक ही समय सो जाने का विचार दोनों में हुआ।

मेहमानों की भर्त्ती के कारण दयालजी भाई हमें एक ही कमरा दे सके थे। उसमें कोई जाजिम आदि भी न बिछा था।

हम दोनों के मस्तिष्क में सोने का सवाल एक साथ ही चक्कर लगाने लगा।

"मकनजी को उठाकर दूसरा बिछौना माग़ूँ तो?"

"हाँ, पर बहुत-से लोग जाग उठेंगे।" उसने वही कठिनाई बतायी।

"और दूसरा न हो तो?" मैंने कहा।

"हाय हाय," कहकर उसने अपने हाथ में हाथ मिलाकर मोहक रीति से कहा।

इस पर हँसने के सिवा और कोई उपाय न होने के कारण हम हँस पड़े।

"कोई जान लेगा तो ?" उस स्त्री ने फिर प्रश्न किया।

"यही तो मैं भी सोच रहा हूँ।" मैंने कहा, और फिर हँस पड़ा।

थोड़ी देर बाद मुझे एक उपाय सूझा।

"एक काम किया जाय तो ?"

"क्या ?" उसने पूछा।

"इस.....का एक हिस्सा मैं सिर के नीचे रख लूँ और एक तुम। मुझे तो सिर के नीचे कुछ रखने पर नींद आ जाती है।"

"और मुझे भी ऐसे ही नींद आती है।" उसने कहा।

"और यह बच्चा बीच में सोये।" उस समय मैं बच्चे को एक दीवार का-सा प्रतिबन्ध बना रहा था। यह कहकर मैंने कपड़े—कोट, जाकेट, पगड़ी आदि उतारे।

"मुझे भी उन्होंने ज़बर्दस्ती चाय पिला-पिलाकर मार डाला।" उसने कहा।

हम.....का आधा-आधा हिस्सा सिर के नीचे रखकर सोने का प्रयत्न करने लगे।

पर यह प्रयत्न सफल होने के पहले ही वह लड़का "पें—पें" करने बैठ गया। इससे उसकी माँ भी उठ बैठी और उसे चुप कराने का प्रयत्न करने लगी।

"क्या है ?" मैंने भी सोने का प्रयत्न छोड़कर कहा।

उस स्त्री ने अपने बच्चे को फुसलाने की बहुत मेहनत की; पर वह लड़का कब चुप होनेवाला था।

आखिर मुझसे न रहा गया। "पर इसे चाहिए क्या ?"

उत्तर में उस टेहेवाली स्त्री के मुख पर लज्जा आ गयी और वह हँसने लगी।

"पर बात क्या है?" मैंने जैसे उसमें कुछ भेद-सा अनुभव करके कहा।

"इसे तो इसका बाप रोज़ थपकी लगाकर सुलाता है, इसीलिए रोता है।" उसने धीरे-से नीचे मुँह करके कहा।

धत्तेरे की।

"लाइये मैं थपकी लगा देखूँ—देखें सोता है।" कहकर मैंने लड़के को अपनी ओर खींच लिया और उसे थपकी लगाने उठ बैठा।

लड़का भी एक ही निकला। मेरा हाथ फिरते ही वह झट सोने लगा। मैंने उस स्त्री की ओर देखा—और उसे ऐसी हँसी आयी जैसे उसका कोई बन्धन ही न हो।

फिर हम एक सिरहाने पर सिर रखकर आमने-सामने लेट गये, और नींद बुलाने का प्रयत्न करने लगे। साधारण तौर पर तो मैं सोने में एक ही हूँ और आज की जैसी मेहमानदारी का काम दूसरे दिन मिला होता तो अवश्य ही आँख मींचते ही नींद आ जाती; पर एक तो अनजानी जगह, दूसरे खूब डटकर पी गयी चाय और सबसे बड़ी बात अपरिचिता शय्या-संगिनी, फिर नींद आये तो कहाँ से। सिर में दर्द हुआ, नाक में गर्मी बढ़ी, पैर अकड़ने लगे—गिनती गिनी, रामनाम जपा, ताज़ीरात हिन्द की दफ़ाएँ याद कीं पर आँखें ज्यों-की-त्यों खुली-की-खुली रहीं। पर साथ ही ऐसा लगा कि उस स्त्री ने भी सोना आरम्भ नहीं किया।

जब किसी तरह नींद न आयी और तबीयत घबराहट से थक गयी तो वह लड़का सगम गया और मैंने अपने एक हाथ से उसे थपकी देनी शुरू की।

उस स्त्री ने भी थककर करवट बदली और लड़के सगमगाता जान उसकी ओर स्वाभाविकतया हाथ बढ़ाया।

मैं उठ बैठा "हे भगवान्!" मेरे मुँह से बरबस आवाज़ निकल पड़ी।

वह स्त्री भी उठ बैठी। "ओ मेरी माँ!" उसके मुँह से निकला।

हमने एक-दूसरे की ओर देखा और जागरण से परेशान होते हुए भी दोनों ही हँस पड़े।

"भला सवेरा कब होगा?" उसने पूछा।

"मैं भी इसी विचार में हूँ।"

जैसे हमारे सवाल का ही जवाब दे रहा हो इस प्रकार दीपक की लौ सहसा तेज़ हो उठी, हमने डर से एक-दूसरे की ओर और फिर दीये की ओर देखा; अब वह बिचारा बुझ चुका था।

× × ×

सवेरे पाँच बजे मैंने ज़ीने की खिड़की खोलने की हिम्मत की। मैं दयालजी को बुलाने गया था।

"दयालजी भाई! मुझे तो अभी जाना होगा।"

"क्यों साहब?" उन्होंने बड़े विनम्रभाव से कहा। उन्हें ऐसा लगा कि मैं नाराज़ हो गया हूँ।"

"अरे यहाँ आने की जल्दी में मैं यह तो भूल ही गया कि आज मुझे कमिश्नर साहब से मिलना है।"

"अरे रे रे! तो फिर अब?"

"कोई बात नहीं। एक गाड़ी जो सवेरे आती है चार बजे बम्बई पहुँच जाती है!"

"अरे राम राम! पर भाभी तो रहेंगी न?"

"नहीं; यह भी न हो सकेगा। बच्चे को डाक्टर को दिखाना रह गया है।"

बेचारा बुड्ढा बहुत खिन्न हुआ; पर काम का महत्त्व समझकर फौरन बैल जुड़वाकर गाड़ी तैयार करा दी। मकनजी को हमारे साथ स्टेशन तक पहुँचा आने को कहा। मैं यह नहीं चाहता था। मैंने बड़ी कठिनाई से उससे पिण्ड छुड़ाया। आखिर चाय पी और मैं तथा

मेरी कामचलाऊ धर्मपत्नी हँसते-हँसते सबको 'नमस्ते' कर स्टेशन के लिए चल पड़े।

रास्ते में हम एकान्त में बात करते चले, क्योंकि अन्धकार के साथ हमारा क्षोभ और लज्जा का भाव दूर हो गया था। आखिर स्टेशन आया इसलिए गाड़ीवाले को भी रोकना ठीक न था। एक रुपया इनाम देकर उसे बिदा किया। अब हम बिलकुल निश्चिन्त हो गये, क्योंकि एक बार रेलगाड़ी में बैठ गये तो फिर कौन पूछनेवाला है?

मैं तो पोर्टर की कोठरी की ओर जा खड़ा हुआ और गाड़ी के बारे में बात करने लगा कि इतने में गाड़ी आती दिखायी दी कि पोर्टर ने अपनी कोठरी की खिड़की खोली और अन्दर से कोई ऊँची आवाज़ में पुकार उठा—

"अरे, तू कहाँ मर गयी थी?"

मेरे हृदय में जैसे बोझ आ पड़ा। मैंने देखा उस लम्बू ने मुझ पर काले नाग की तरह फुफकार की दृष्टि डाली।

मैंने सोचा कि इस समय अगर रायसाहबी रोब से काम न लूँगा तो बात न बनेगी। मैंने अकड़कर लम्बू से कहा—"अरे मिस्टर! कल तो तुम गाड़ी में ही रह गये? तुम्हारी यह बेचारी औरत।"

"अरे मिस्टर की माँ", लम्बू ने मेरे रोब को नगण्य करते हुए कहा—"मैं तो तुरन्त रेलगाड़ी रुकवाकर कर आगया था; पर तुम मेरी औरत को कहाँ ले गये थे। कल सारी रात खोजता फिरा। कहाँ ले गया था—बोल?"

मेरे रोब का तो कोई असर ही न हुआ; साथ में कोई सिपाही या चपरासी भी न था कि उसे मेरी पोज़ीशन का पता लगता। इस बीच में यह कहने ही जा रहा था कि मैं तहसील का मजिस्ट्रेट हूँ। पर मैं कुछ कहूँ इसके पहले ही लम्बू घूँसा तानकर मेरे पास आ गया और उसके पीछे से आया दूसरा एक मित्र जो खादी की टोपी पहने

हुए था। यह तो मजिस्ट्रेट तो क्या कलक्टर कहने पर भी रोब न मानेगा।

उस मनुष्य की दृष्टि स्त्री से मेरी ओर उठती उसके पहले ही रेलगाड़ी प्लेटफार्म पर आ लगी और मेरे पास का डिब्बा पोर्टर ने खोल दिया। अधिक समय गँवाकर जान जोखम में न डाल मैं कूदकर गाड़ी में जा बैठा और खिड़की बन्द कर ली और कलक्टरी की आकांक्षा के साथ जो दुर्बल हृदय मुझमें था उससे अदृष्ट देवता का सम्बोधन किया।

"देखो तो सही ! उपकार के बदले अपकार। बेचारी बिछुड़ गयी थी उसे मिला दिया, यह तो कहता नहीं," गाड़ी चल पड़ने पर मैंने कहा—"हत्तेरे की !" जाते-जाते मैंने उस स्त्री पर अन्तिम दृष्टि डालकर कहा।

और मेरी पन्द्रह घण्टे की पत्नी पीछे गयी।

स्त्री-संशोधक मण्डल का वार्षिक समारोह

मुझे पुरानी—सेकण्डहैण्ड हस्तलिखित पुस्तकें संग्रह करने का बड़ा शौक है। ऐसी चीजों में से अभिनव साहित्य मिल जाता है और उससे पुराने प्रश्नों पर नया प्रकाश पड़ता है। अनेक बार उनके हाशिये में किसी अज्ञात हृदय की चाह उभरती दिखायी देती है। किसी के पृष्ठों में सूखे गुलाब की पंखड़ियाँ, काले केश या पृष्ठों पर बड़े अश्रुबिन्दु, कुंकुम के छींटे, बीड़ी की राख, रसिक पाठकों के जीवन का प्रसंग आँखों के सामने ला खड़ा करते हैं। ऐसे अवशेष चिह्नों से मेरी कल्पना में उत्तेजना आती है। मैं किसी पुरातत्व शास्त्री की तरह उनपर जीवित इतिहास का भवन-निर्माण करता हूँ। बहुत बार इस इतिहास के पात्र मेरी कल्पना-सृष्टि में मित्र के समान बन जाते हैं।

एक बार ऐसी पुस्तकों का संकलन खरीदते समय मुझे एक ताजी हस्तलिखित नोटबुक मिल गयी। मुझे ताजी हस्तलिखित नोटबुकों से प्रेम नहीं है, इसलिए मैं उन्हें पानी गर्म करने के काम में लाने जा रहा था, इतने में मेरा ध्यान उस नोटबुक की ओर गया। "गुर्जर स्त्री-मण्डल की रिपोर्टबुक"। पहले तो मुझे ऐसा लगा कि "गुजराती हिन्दू स्त्री-मण्डल की उत्साही मंत्रिणियों ने सम्मान का नया ढंग निकालकर तो यह नोटबुक मुझे नहीं भेजी है? पर मैंने नाम फिर से पढ़ा—"गुर्जर स्त्री संशोधक मण्डल की रिपोर्टबुक।"

मैंने आँखें घुमायीं। संशोधक! स्त्रियों का संशोधन कैसे होता है?

एक मण्डल वह काम—उसकी समस्त प्रवृत्तियाँ कैसे करता है ? मुझे यह नाम विचित्र-सा लगा। मैं वह पुस्तक पढ़ने बैठ गया और उसे समाप्त करके ही उठा।

ये पुस्तक पढ़कर ऐसा लगा कि इस मण्डल....के सभ्य को मिले तभी दूसरे सभ्य भर्ती हो सकते है, ऐसा उसका कठोर नियम है। मण्डल का उद्देश्य नीचे लिखे अनुसार था—

चूँकि हमारे संस्थापक सदस्यों को इस बात का विश्वास हो गया है कि गुर्जरस्त्रीत्व के संशोधन, विकास और पोषण के लिए यथेष्ट प्रयत्न नहीं किया जाता, और चूँकि हमें ऐसा भी लगता है कि जब तक ऐसी प्रवृत्ति न अपनायी जायगी तब तक गुजरात के अर्द्ध भाग में पक्षपात का आरम्भ हुए बिना न रहेगा, इसलिए हम नीचे हस्ताक्षर करने वाले स्थापक सदस्य आज से इस मण्डल की स्थापना इस उद्देश्य से करते हैं कि प्रत्येक स्थापक सदस्य गुर्जर स्त्रियों के गुण-दोष का निरीक्षण करके वैज्ञानिक ढँग से उसकी चर्चा करे और उनके विकास के लिए योग्य कार्यवाही करे।"

अंग्रेज़ी दस्तावेज़ में से लिये गये वाक्य में उत्साह भी कुछ विचित्र लगा। एक नियम यह था कि मण्डल की सभा में स्त्रियों को नहीं आने दिया जायगा। एक और नियम भी जानने योग्य था—

"जो कोई सदस्य एक स्त्री के प्रति पक्षपात या द्वेष के कारण उसके गुण-दोष के बारे में चर्चा करेगा या करायेगा उसे मण्डल के बाहर कर दिया जायगा।"

कैसा असामान्य नियम है ! कौन-सा ऐसा मनुष्य है जो पक्षपात या उद्देश्य विशेष से स्त्री के गुणदोष पर चर्चा किये बिना रहे ? इस मण्डल के सभी सदस्य योगी पद तो नहीं प्राप्त कर चुके हैं। हुए भी हों तो मुझे उसमें संशय है।

सदस्यों की सूची भी इस पुस्तक में थी, किन्तु वह देखते हुए ऐसा लगा कि नियमानुसार प्रत्येक सदस्य को कोई न कोई उपाधि स्वीकार

करनी पड़ती थी। इससे उस सूची में मुझे नीचे के रंग-बिरंगे नाम जड़े दीखे—पुरुरवा, हेमलेट, फूल्सहेड, डानजुआन....!

इसके बाद अनेक चर्चाओं और सभाओं का उल्लेख था। पर वह चर्चा ऐसी रसिक थी कि प्रत्येक विषय पर एक पूरा लेख लिखे बिना काम नहीं चल सकता। किन्तु सबसे आकर्षक तो वार्षिक समारोह की रिपोर्ट थी। अधिक टीका-टिप्पणी किये बिना मैं पाठक के सामने वह पेश करता हूँ और यदि पाठक को उसे पढ़ते समय समय व्यर्थ जाता प्रतीत हो तो उसकी क्या योग्यता है, यह लिखकर मैं अपनी लेखनी अपवित्र न करूँगा।

रिपोर्ट

"गत श्रावण वदी अष्टमी सम्वत् १९७८ के दिन अध्यक्ष के यहाँ रात के ११ बजे मण्डल की एक विशेष सभा हुई। उस समय सभी सदस्य उपस्थित थे। प्रमुख महाशय ने सभा का कार्यक्रम चण्डीपाठ में से एक स्तोत्र गाकर आरम्भ किया, फिर नीचे लिखा भाषण दिया—

"स्त्री-संशोधक मण्डल के सभ्य महाशयो,

आज हमारी सभा का वार्षिक समारोह है। गोपी जन वल्लभ की गत जन्मतिथि पर स्थापित की हुई हमारी सभा को आज एक वर्ष पूरा हो गया है। अब स्त्री संशोधन में कुशल परमात्मा श्रीकृष्ण का जन्म समय भली भाँति मनाने के लिए हम सबको इस कठिन प्रश्न पर विचार प्रकट करके अभिप्राय देकर करना चाहिए कि "आप कैसी स्त्री को अर्घ्यदान करेंगे।" आशा है कि आप यह कार्य करने को तैयार होंगे। अधिक समय नष्ट किये बिना मैं भाई पुरुरवा को निमंत्रण देता हूँ।"

तालियों की गड़गड़ाहट के बीच भाई पुरुरवा खड़े हुए, ज़रा खाँसे, सिर पर पगड़ी ज़रा दबाकर लगायी और निम्नलिखित लेख पढ़ने लगे—

"अध्यक्ष महोदय और माननीय सदस्यो,

अपना अर्घ्य मैं कैसी स्त्री को दूँ यह प्रश्न मुझे बड़ा अजीब-सा लगता है। मैं इसपर कल दिन और रात भर विचार करता रहा हूँ, पर अन्ततः मुझे ऐसा लगता है कि मैं दृढ़ निर्णय पर आ गया हूँ। इसीलिए अपना अभिप्राय व्यक्त करने में मुझे बिलकुल संकोच नहीं हो रहा है।

"जिस स्त्री को मैं अपना अर्घ्य दे रहा हूँ वह सत्तर वर्ष की है, (हँसी) बाल-विधवा है, उसका शरीर सशक्त है और स्वभाव चंचल है (तालियाँ), उससे सगे-सम्बन्धी काँपते हैं, पड़ोसी दहल जाते हैं, जाति और गाँव में वह भय का संचार करती है। उसे किसी की पर्वाह नहीं, किसी का भय नहीं, किसी से वास्ता नहीं, किसी से शर्म नहीं। वह किसी को सुखी नहीं करती, किसी को सन्तुष्ट नहीं करती, किसीकी कीर्ति पर उसकी आँख नहीं है। उसे अपने सुख की पर्वाह नहीं है, दुःख का उसे स्पर्श नहीं होता। उसके जीवन का एकमात्र उद्देश्य सब को दुखी करना है।

"वह स्त्री एक कला की अधिकारिणी है। वह अनेक प्रकार से रोने का प्रदर्शन कर सकती है। वह कल के जन्मे बालक से वृद्ध तक सब के लिए अनुकूल बन सकती है, प्रसंगानुसार गा सकती है, गालियाँ दे सकती है और अनेक प्रकार के खाने पका सकती है और प्रत्येक भोज —खासकर जातिभोज पर सर्वांग सुन्दर टीका कर सकती है। वह हर तरह के गहने और कपड़े पहचानने में पटु है और उनकी बारीक से बारीक पहचान करके गुण-दोष का विवेचन कर सकती है।

"वह स्वयं तो विधवा है, फिर भी प्रत्येक विधवा में दोष देखती है। प्रत्येक गृहस्थाश्रम की स्त्री को कुलटा मानती है और प्रत्येक बालिका को पत्थर के बदले पैदा हुई समझती है।

"कोई दुःखी हो तो उस पर और भी दुःख बरसाने में ही वह शोभा समझती है, और किसी को सुखी देखती है तो उसे दुःखी करना ही अपना कर्त्तव्य समझती है। अकर्मण्य को वह बढ़ावा दे सकती है।

जो लड़े उसे सदा के लिए बेकार कर दे सकती है। उसने कितने ही लोगों को रुलाया है, उनके घर नष्ट किये हैं; उनका खाना खराब किया है; उनके शुभ विवाह में आग लगा दी है। कोई स्त्री पढ़े, टेढ़ी माँग निकाले, अच्छे कपड़े पहने, गाना गाये, पति को चिट्ठी लिखे या सास को सुख पहुँचाये, घर-गृहस्थी को ठीक जँचा कर चलाये या किसी पुरुष से बातचीत करे तो वह उसे अपराधिनी करार दे देती है। जो पुरुष अकड़े, चौथी बार शादी करने से इन्कार कर दे, जामा, पगड़ी पहनने से इन्कार कर दे, स्त्रियों के साथ बाहर जाय या माँ के साथ भी शान्तिपूर्वक व्यवहार करे तो उसका क्रोध उभर आता है, और वह अपराधी को दण्ड देना शुरू कर देती है और यह सब करने में उसे अड़चन नहीं पड़ती। जिस प्रकार आर्द्रता जल का गुण है, अमृत-वर्षा करना चन्द्रिका का गुण है उसी प्रकार स्वाभाविकता से यह नारीपन में सभी प्रयोग चारों ओर कर सकती है। उसके लिए उसे केवल एक शस्त्र की आवश्यकता होती है और वह है उसकी ज़बान। उसमें स्विफ्ट के समान विष, सर सुरेन्द्रनाथ के समान शक्ति और एनीबीसेण्ट के समान चपलता है; उसकी विविधता घटती नहीं, उसका विष मन्द नहीं पड़ता (करतल-ध्वनि)। जो व्यवस्था करने में सरकार करोड़ों रुपये खर्च करती है, वह यह चतुर स्त्री अकेली जीभ से ही पूरा कर लेती है।

"मैं उसे अर्घ्य देता हूँ।" वह हमारे पुराण के पुनीत संसार की धारक है; पवित्र और प्राचीन प्रणालियों की रक्षक है। वह न हो तो समाज की व्यवस्था टूट जाय, स्वच्छन्दता फैल जाय, नाता टूट जाय, स्त्रियाँ बिगड़ जायँ, मर्द बह जायँ, उसके बिना हम आज नष्ट हो जाते या ईसाई हो गये होते, उसके बिना समाज का नाम मिट जाता, धर्म का लोप हो जाता, संस्कृति का किसी को स्मरण भी न रहा होता (तालियाँ)।

"हमारे सौभाग्य से संसार में ऐसी एक नहीं अनेक स्त्रियाँ हैं।

ऐसी साध्वी स्त्री किस कुटुम्ब के पाले नहीं पड़ी है ? किस जाति को अलंकृत नहीं किया और किस गाँव की शोभा नहीं बढ़ायी है ?

"ऐसी शेषनाग समाजधारिणी, जगज्जननी, परोपकारिणी, कालिका, प्रतापरूपिणी और कृष्ण के निष्काम कर्मयोग को साधनेवाली स्त्री को मैं अपना हार्दिक अर्घ्य प्रदान करता हूँ। आशा है, आप सब भी ऐसा ही करेंगे। (तालियाँ)

सभा में शान्ति छा गयी, और थोड़ी देर सभी भाई पुरुरवा द्वारा वर्णित स्त्री का वर्णन हृदय में धारण करने का प्रयत्न करते रहे। अध्यक्षजी उठे और उन्होंने सूचना दी कि अब भाई हेमलेट अपना अभिप्राय आपको सुनावेंगे। भाई हेमलेट ने अपना लेख पढ़ना आरम्भ किया—

"सभापति महाशय और सदस्यो,

मैंने तो इस प्रश्न पर कि कैसी स्त्री को मैं अपना अर्घ्य दूँ सारे वर्ष विचार किया है। मैं अनेक गाँवों में फिरा हूँ और बहुत-सी स्त्रियाँ देखी हैं; पर ऐसा कठिन काम मुझे कोई और नहीं लगा। अर्घ्य-योग्य स्त्री खोज निकालने-जैसा भगीरथ-प्रयत्न बालू में से तेल या खरगोश में सींग निकालने-जैसा है। मैंने जो खोज की है उसका विवरण आपको किस प्रकार दूँ ? मैंने गरीबों की झोंपड़ियाँ भी देखी और अमीर के महल भी देखे; मैंने नगरों में भी तलाश की और गाँवों में भी खोज की; शिक्षित परिवारों में घूमा और अशिक्षितों के कुटुम्ब में भी फिरा और देखा तो कोई स्त्री छिछोरी मिली तो कोई ढोंग करनेवाली, कोई हरामख़ोर तो कोई भलाई से वंचित; किसी के मिजाज का पार नहीं तो किसी के अभिमान की सीमा नहीं; कोई घर बिकवा देनेवाली तो कोई बाज़ार बिकवानेवाली; कृतघ्नी तो कोई कदरूपी; कोई परीक्षण करनेवाली तो कोई बिना दिल की;—जहाँ जवानी वहाँ रस नहीं और जहाँ रसज्ञता वहाँ मोहिनी नहीं; जहाँ चमक वहाँ कोमलता नहीं, जहाँ आर्द्रता वहाँ अक्ल नहीं। ऐसी दशा में मेरे-जैसे खरे स्वभाव के मनुष्य के लिए

अर्घ्य देने-योग्य स्त्री कहाँ से मिले ? पर आख़िर मैं अपनी खोज में सफल हुआ। मुझे एक अर्घ्य देने-योग्य स्त्री मिली।

"वह फूल की कली के समान सुकुमार है। उसके गाल पर गुलाब के फूल की कोमलता है। उसकी आँखों की निर्दोष उड़ान में आकाश का गाम्भीर्य है। उसके हास्य में पक्षियों का-सा उल्लास-गान है। वह चलती नहीं, बाल-हिरणी के समान उछलती है। वह बोलती नहीं, कूकती है।

"सज्जनो ! वह केवल आठ वर्ष की है। जब मैंने देखा तो वह एक दस वर्ष के लड़के के साथ खेल रही थी। उन दोनों की आत्माएँ विवाह-बन्धन से आबद्ध प्रतीत होती थीं। उनके सम्बन्ध में स्थूल शरीर के विलासियों की-सी लिप्सा नहीं थी, स्वार्थ-साधन की इच्छा नहीं थी। वे दोनों पास-पास खड़े दो फूलों के समान एक-दूसरे पर झुके थे।

उस लड़के की आँख में उसकी आँख हँस रही थी। उस हास्य में किसी के लुभाने का उद्देश्य नहीं था; प्राणि-शास्त्र के सिद्धान्तों की शिक्षा नहीं थी। सामने की आँखें क्या कहती हैं उसकी पर्वाह न थी। वे नेत्र स्वच्छन्द वायु की लहरों के समान थे; उनका उल्लास उड़ते पक्षी के समान था; उनकी चमक पानी की लहर पर तैरती चन्द्रिका के समान थी। उन्हें उस क्षण के जीवन में रस था। उन्हें क्षण की ही मौज में युक्ति प्रतीत होती थी। उनकी शर्म भी अद्भुत थी। उसमें किसीको वश में करने का उद्देश्य नहीं था, क्षोभ दबाने का हेतु नहीं था। जैसे वह हँसती वैसे वह शर्माती थी।

"जवानी के आडम्बर, सुग्धा के ढोंग, प्रौढ़ा की हरामखोरी और वृद्धा की नीरसता ने उसका स्पर्श नहीं किया था, वधूपन के विलास का शौक भी उसने नहीं जाना था; माता-पद के विचार का उसने अनुभव नहीं किया था। संसार में पुरुष को बाँधने के लिए उसने शृंखला का रूप नहीं धारण किया था। चारों ओर के पाप और दुःख उसे दिखायी

नहीं दिये थे। पुरुषों की नीचता और स्त्रियों की अधमता को उसने समझा नहीं था। वह संसार में कल्लोल करती उड़ती थी। जहाँ वह उड़ती वहाँ पुरुषों का पराग प्रसारित होता।

"मुझे उस बालिका की निर्दोषता में सारी सृष्टि का सत्व समाया प्रतीत हुआ। उसकी कुहुक में अमर भूमि की आशा के सदृश मिठास सुनायी दी।

"मैं स्तब्ध हो उसे देखता रहा—और उस अपूर्व और बिना खिली आत्मा के अनियंत्रित आनन्द की अनुभविका को मैंने अपने अन्तर का अर्घ्य दिया।"

भाई हेमलेट के भाषण में सदस्यगण ऐसे तल्लीन हुए कि उन्हें ताली बजाने की भी याद न रही। भाषा का जादू जब टूटा तो सदस्यों ने तालियों की गड़गड़ाहट के साथ उसकी वृद्धि कर दी।

उसके पश्चात भाई डानजुआन खड़े हुए—

"अध्यक्ष महोदय और स्त्री-सम्बद्ध सुसभ्यो, मैं अर्घ्य योग्य एक सत्युग की स्त्री का वर्णन आपके सम्मुख उपस्थित करने की आज्ञा चाहता हूँ।

"वह स्त्री वृद्धा हैं। वह ऊँचे कुटुम्ब की विख्यात महिला है और अनेक परिवारों को सहायता और परमार्श देती है। वह गौरव का साक्षात् अवतार है। गौरव—थोथे अभिमान और अस्पृश्यता का नहीं, पर चातुरता, विवेक, स्नेह की कोमलता का एक-एक शब्द में एक-एक कार्य में स्वमान को शोभा दे ऐसा गौरव। उस महिला का स्नेहभाव अनुपम है। उसमें अविचार की उछाल नहीं; विवेक की शांति और शुद्धता है। मिलनेवाले अनजान को भी वह अपने परिवार में घर का आभास करा सकती है, पर प्यार में बिगड़े लड़के भी उसका लाभ नहीं उठा सकते।

उसका जीवनक्रम प्रभावशाली, व्यवहारपूर्ण और प्रमाणबुद्धि पर आधारभूत है। वह अपनी व्यवहारिक-बुद्धि और विशाल अनुभव से

केवल उड़ती नजर से ही सारी व्यवस्था प्रसन्नतापूर्वक कर लेती है। हिन्दू-जीवन में एक प्रसंग भी ऐसा नहीं है जिसकी जानकारी उसे न हो। घर की एक-एक चीज पर उसकी नजर रहती है। भविष्य में किस समय किस वस्तु की आवश्यकता होगी, किस लड़की को किस वस्तु की आवश्यता होगी, और किस सम्बन्धी को क्या चीज देना शोभा-जनक होगा—ये सब बातें उसे तुरन्त सूझ जाती हैं और वह दूसरे को सुझा सकती है।

"गरीबी के दिनों से लेकर पैसे की आमदनी बढ़ने तक सभी समय का उसने पक्का हिसाब रखा है। वह प्रतिदिन डाक लिखती है; प्रतिमास खाता बही खतियाती है, प्रतिवर्ष पिछले वर्ष के हिसाब से तुलना करती है। जिस तरह वह १५ रुपये मासिक में घर चलाती थी उसी प्रकार ५०००) मासिक में भी चलाती है। उसके प्रताप से प्रत्येक योजना का समुचित उपयोग होता है। कट-कसर मिटती है, विवेकहीन खर्च पर अंकुश लगता है। उसकी व्यावहारिक बुद्धि अटपटे काम से नहीं डरती। मिलकियत का इन्तज़ाम, जमीन का बन्दोबस्त, व्यापारियों का हिसाब समझने आदि का काम वह बिना किसीकी मदद के कर सकती है। परिवार में अदालती या दरबारी मामले आने पर उसके लिए आवश्यक दस्तावेज़ लड़ने के लिए वह एकत्रित कर लेती है; गवाहियाँ तैयार करती है, और वकीलों के विवरण तैयार करती है।

हिन्दू-स्त्री के उदात्त जीवन का एक भी क्षण उसने व्यर्थ नहीं जाने दिया। कागजों की तैयारी और उनके रखने की पूरी व्यवस्था है—खुद बैठकर गहने तैयार कराती है, अपनी देख-रेख में ही मकान बनवाती है।

"इसके साथ ही उसने नवयुग की स्त्रियों की कला का भी वर्षों से ज्ञान प्राप्त कर लिया है। उसे कसीदे-बूटे के अतिरिक्त गानविद्या का भी अभ्यास है और वह स्वयं भी भजनों की रचना कर सकती है। तीस वर्ष पहले उसने थोड़ी अंग्रेज़ी सीखी थी और

स्वाभाविक बुद्धि से चित्र बना सकती है। गुजराती कवियों, पुराणों और कथाओं, योगवशिष्ठ, गीता और आजकल की कहानियाँ तथा चालूक्रमिक-साहित्य का अध्ययन वह रस लेकर कर सकती है। उसने पारमार्थिक जीवन स्वीकार नहीं किया; पर ऐसा शायद ही कोई होगा जिसकी उसने मदद न की हो। कितनों ही का परिवार उसके परामर्श से चलता है; कितनों ही के गृहस्थ जीवन का तन्त्र उसकी देख रेख में चलता है। उन्हें देशी दवादारू और साधारण विलायती उपचारों का भी ज्ञान है, और उसकी सेवा-शुश्रूषा से कितने ही लोग यम-सदन का आतिथ्य स्वीकार करने से रह गये हैं।

"वह बचपन से ही बालक-बालिकाओं में सुंदर संस्कार डाल सकती है और बड़े बच्चों के जीवन-विकास में भी सहायता दे सकती है। आगन्तुक कष्टों को उसने सहन किया है, विडम्बनाओं को झेला है और इस अवस्था में भी वह जीवन में रस लेकर बात कर सकती है—नवयुवतियों को रसिकता का मार्ग और दुखियों को वैराग्य-जीवन का पाठ सिखा सकती है। यह अवस्था गौरव-गम्भीरता की है, फिर भी उसका माधुर्य ज्यों-का-त्यों है; और शुद्ध अन्तःकरण की ऊर्मियों का अनुभव करके वह आँसुओं को सुखा सकती है।"

"सज्जनो, इस वर्णन में अतिशयोक्ति नहीं है। आजकल के ज़माने के ढोंगी जीवन पर ही जिनका स्त्री-सम्बन्धी ज्ञान है, उन्हें यह चित्र काल्पनिक प्रतीत होगा, और ज्यों-ज्यों अज्ञान और छिछोरपन की वृद्धि होती जा रही है और मौज-शौक में ही स्त्री-जीवन समाप्त हो रहा है त्यों-त्यों इस नमूने की स्त्री कल्पना-सृष्टि के भी बाहर की वस्तु होती जाय तो इसमें कोई नई बात न होगी।

"गये ज़माने के अवशेष रूप यह अप्रतिम स्त्री आजकल की अपनी बहनों को फीका बना देती है और इसीलिए मैं इसे हार्दिक अर्घ्य देता हूँ।"

इसके पश्चात् श्रीयुत दुष्यन्त भाई उठे और उन्होंने सभा के सम्मुख अपना यह विचार उपस्थित किया—

"अध्यक्ष महोदय और सज्जनो,

"इस कलियुग में, इस स्वच्छन्द ज़माने में अर्घ्य प्रदान करने-योग्य स्त्री मुझे तो एक ही लगती है।

"वह पतिपरायणता की मूर्ति है। बाल्यावस्था व्यतीत करने के बाद पति के अतिरिक्त उसने और किसीकी पर्वाह नहीं की। दूसरे किसीमें उसे रस ही नहीं आया। दूसरे का दृष्टिबिन्दु वह देख ही नहीं सकी। किन्तु उसका पति उसकी पर्वाह नहीं करता था, फिर भी उसने निःश्वास नहीं छोड़ा। पति उस पर नाराज रहता; पर उसने स्वयं तो कभी नाराज होने का कारण ही नहीं दिया। वह बहुत बार पति का विचार भी न जान पाती, फिर भी उसे परेशान होने का अवसर न आने देती। वह केवल पति-भक्ति में ही लीन रहती और पति-सेवा में लग्न रहती। पति को आज्ञा देने का भी अवकाश न होता, क्योंकि वह अपनी इच्छा प्रकट करता उसके पहले ही वह उसकी इच्छा के अनुसार अपना आचरण बना लेती। उसके और उसके पति के बीच कभी मत-भेद, विरोध या तकरार किसीके सुनने तक में नहीं आया। लोगों को, घरवालों को उसके व्यक्तित्व की प्रबलता दीखती थी; पर पति के सामने उसकी वह शक्ति विलीन हो जाती। पति अनेक बार यह चाहता कि एक बार वह स्त्री उसकी आज्ञा न माने, एक बार अवज्ञा करे, एक बार सामने सिर उठाकर खड़ी हो; पर बेचारे पति की आशा बेकार गयी। उचित समय पर वह उपस्थित रहती, योग्य काम करती। पति के विरुद्ध उसने कभी अपना स्वतन्त्र अभिप्राय नहीं प्रकट किया। पति के साथ मनस्वी आचरण उसने कभी नहीं किया। वह पति की कभी कोई शिकायत नहीं करती थी, और उसकी सेवा से कभी विलग नहीं होती थी।

"पतिदेव जब उस पर रीझे तो भी वह दर्प से फूली नहीं। पति

की स्थिति सुधरी तो भी उसने बहुत आदर की आशा नहीं की। बच्चे होने पर भी उसने उन्हें पति से अधिक प्यारा नहीं गिना। यदि पति बीमार हो तो नर्मदा की भांति वह उसे मस्तक पर लिये निकले बिना न रहती। यदि वह वैराग्य धारण करले तो वह भी अंग पर विभूत रमा संसार छोड़ने को तैयार हो जाती और यदि पुरुरवा की भाँति पति किसी उर्वशी के पीछे लग जाते तो चन्द्रायण व्रत करके पति की विजय-कामना करने से भी पीछे न हटती।

"इस लालसा, असन्तोष, स्वच्छन्दता एवं स्वातन्त्र्य के युग में इस स्त्री ने आर्य सतियों के शोभारूप तादात्म्य का साधन कर लिया है। वह इस युग की नहीं है, पर भव्य भूतकाल से आयी हो, ऐसी प्रतीत होती है। मैं उसे ही अर्घ्य के योग्य समझता हूँ।"

इसके बाद भाई जयन्त खड़े हुए और उन्होंने अपना भाषण पढ़ना आरम्भ किया;—

"प्रेसीडेण्ट साहब और भाइयो,

"अब तक मैंने कई भाषण सुने। उनमें आपने जिन-जिन स्त्रियों को अर्घ्य दिया है वह देखकर मुझे आप लोगों की मनोदशा पर तरस आता है। मैं यह कहे बिना नहीं रह सकता कि आप सब सच्चे दृष्टि-कोण से वंचित हो गये हैं।

जीवन को गम्भीर दृष्टि से देखने से अधिक खेद की कोई बात न दिखायी देगी। गम्भीरता का प्रसार होने पर संसार की क्या दशा हो जायगी? इसका प्रसार होते देख मेरे मन में अनेक बार जनता के प्रति तिरस्कार के भाव उत्पन्न होते हैं। सज्जनो, यह जगत् मिथ्या और संसार मायाजाल है। ईश्वर है या नहीं, इसका निर्णय नहीं हो सका है। आत्मा के अस्तित्व में भी मृगजल-जितना ही सत्य है। पुरुष और स्त्री केवल परिपूरक हैं।

"ऐसी परिस्थिति में इस परिपूरक के कार्य की जितनी ही वृद्धि हो उतना ही हमें आनन्द मनाना चाहिए। जो मनुष्य झूठ में झूठ मिला

दे वही माया के रहस्य का ज्ञाता समझा जाना चाहिए। आप सत्य, संस्कार या सहनशीलता खोजते फिरते हैं। मायावी जगत् के परिपूरक-स्वरूप मेरे मित्रो, असत्य में सत्य देखकर तुम्हें कँपकँपी नहीं छूटती न? मायावी जगत् में सनातन की खोज स्वीकार कर फिर कुतर्क की बातें क्यों पेश करते हो? ज़रा विचार तो करो। यदि स्त्रियाँ ऐसी ही हों जैसी कि आप कहते हैं तो इस भूतल पर रहना भारी पड़ जाय।

"अर्घ्य-योग्य स्त्री तो वही है जो इस जगत् के साथ एकतानता साध रही हो। वह झूठ की अवतार है। उसकी अवस्था पचास और पैंतालीस के बीच में है पर निश्चित रूप से कितनी है, यह नहीं बताया जा सकता। सिर के केश-कलाप से पैर की तीन इंच ऊँची एड़ी के बूट तक वह ढोंगी है। उसके केश, उसके नेत्रों का तेज़ और सुरमे की छटा का क्या कहना! उसके दाँत की रेखाएँ अपनी ही हैं या दूसरे की यह नहीं मालूम होता। उसके चर्म का मोहक रंग उसीका है या पाउडर का यह भी नहीं प्रतीत होता। सज्जनो, इस विषय में संशय करने का कारण नहीं है। यह सभी तो दूसरे के भाड़े की चीज़ें हैं।

"अपने और पराये के बीच उसने कोई भेद नहीं माना है। हरेक के पैसे को उसने अपना माना है। प्रत्येक के मौज-शौक में भाग लेने के बारे में उसे कोई संशय नहीं है। शर्म, मर्यादा जैसी चीज़ें तो उसने जन्म से ही नहीं जानीं।

"उस स्त्री के कितने ही लक्षण बड़े ही आकर्षक हैं। वह बड़ी शोभा के साथ झूठ बोल सकती है। वह वचन देती है तो उसका भंग करने के लिए ही? नमकहलाली का नाम सुनकर उसे हँसी आती है। एक-न-एक सम्बन्ध का घबराहट-भरा भार उससे पलभर भी सहन नहीं होता। उसके जीवन में तितली के विविध रंग समाये हुए हैं, पर एक रंग एक से अधिक बार नज़र नहीं चढ़ता।

"उसकी मोह-भरी बात कैसी है! वह बादलों के बारे में, चाय तेज़ होने के सम्बन्ध में, अपने आभूषणों के सिलसिले में दो-चार खट्टी-

तीखी सुना सकती है। पर किसी भी बात पर वह एक मिनट से अधिक नहीं टिक सकती। वह गम्भीर बातों से घबराती है। कविता के भावों को वह तिरस्कार की दृष्टि से देखती है। बुद्धिमत्ता के प्रति वह अरुचि रखती है। उसकी आवाज़ में कृत्रिमतापूर्ण विविधता है। उसमें जो भावनादर्शकता दिखाई देती हैं वह भी पोली है। भावोंका अनुभव करने के लिए उसके मन में अक्षम्य निर्बलता है। उत्साह और प्रेम को वह अधोगति का चिह्न समझती है। उसके विचार से पुरुष खिलौने हैं और अपने को तो वह बिल्कुल खिलौना मानने की ही इच्छा रखती है। उसकी उपस्थिति में हमें जगत् का मोहक मिथ्यापन दिखाई देता है, और जीवन में गम्भीर रहने की निरर्थकता स्पष्ट समझायी पड़ती है।

यह रसभरी सुन्दरी कला विद्यायक है। जीवन में असत्य उतारने की उसकी कला गाँधीजी के सत्य उतारने की कला से भी बढ़-चढ़कर है। उसका असत्य भी गाँधीजी के सत्य की भाँति ही निकलता है। सत्य के पीछे संसार-रण में ठोकर खानेवाली मैंने यही एक हरी बेल देखी है और उसे मैं अर्घ्य देता हूँ।

उसके बाद भाई चन्द्रपीड़ ने प्रमुख की सूचना के बाद अपना विचार इस प्रकार व्यक्त किया —

"सज्जनो, ऐसा लगता है कि स्त्रियों का परिचय प्राप्त करते और उनके चरित्र का निरीक्षण करते हुए बहुत-सा समय व्यर्थ खो दिया गया है। उनके स्वभाव की चंचलता, चरित्र की कच्चाई, उनके अन्तर के अनघड़पन मुझे ऐसे खटकते हैं कि मैं उनकी संगति का दुर्भाग्य नहीं सहन कर सकता। किन्तु आखिर इन सबमें से मुझे एक अपवाद-रूप जँची और मैं उसे अर्घ्य देने लगा हूँ।

"वह देवी के समान सुन्दरी और तेजस्विनी भी है। वह बड़े सज-धज से रहती है। अपने शोभामय शरीर को कुछ-कुछ डुलाती और अपने नेत्रों के तेज से संसार को उज्जवल करती हुई। उसका तेजपूर्ण

रूप सभी की नज़रों को आकर्षित करता है; उसका लजीला रंग-ढंग सभी के मन में मान उत्पन्न करता है।

"वह मानों सभी विषयों पर आकर्षित होती है; इस प्रकार बात करती है, प्रश्न करती है जैसे ज्ञान-दान कर रही हो। और उसकी धीमी मीठी आवाज मोहिनी छिटकाती है। दस मिनट की बातचीत में ही मिलने के लिए आनेवाला उसकी बुद्धिमत्ता, गौरव, छटा और नम्रता देखकर इस विचार में पड़ जाता है कि उसकी प्रशंसा करे, उसके प्रति आदर प्रदर्शित करे या आशीर्वाद माँगे?

पर मिलनेवाले की समझ में यह बात नहीं आती कि यह नम्रता, यह शर्मीलापन और यह जिज्ञासा-भाव केवल साधनरूप है। उसके पीछे भयंकर और तीक्ष्ण-बुद्धि आगन्तुक का मूल्य आँकती है। निश्चल स्वास्थ्य उसके अन्दर की अवशिष्ट दुर्बलता को ढूँढता है और प्रचण्ड इच्छा-शक्ति इस बात का निर्णय कर रही होती है कि अपनी जीवन-घटना में उसे कहाँ डाले कि वह अधिक उपयोगी हो सके।

"बेचारी किसी आगन्तुक को वह कुछ कहती नहीं। उसकी सुशीलता उसे मोहित कर लेती है, मिठास उसकी शान भुला देती है। आतिथ्य में आकर वह असावधान हो जाता है। यदि इन सबसे भी वह भाग्य-विधाता के जाल में न पड़ा तो भी अन्त में तो वह बहुत बचने-वाला नहीं है। उसके चरित्र, उसकी शक्ति, उसकी बुद्धि के एक-एक विभाग को सुन्दर न्याय मिलने लगता है, आसपास के सगे-सम्बन्धी और इस बाजीगरनी की इच्छा के अनुसार वातावरण उसके आसपास चारों ओर प्रसारित हो जायगा। अन्यथा उस व्यक्ति की स्त्री-संरक्षक वृत्तियों को उत्तेजित कर देगी पर अन्त में शरण आये बिना उसे छुटकारा न मिलेगा।

"इन सबका ध्येय ऐसा गहन है कि उसे समझने में दो वर्ष तो सहज ही निकल जाते हैं। वह दृढ़ पतिपरायणा है; वह पैसे-टके से सुखी है। उसे मौज-शौक अधिक प्रिय नहीं है। उसे केवल सत्ता का

शौक है। उसी के लिए वह जीवित है। उसका हेतु अपने अनुचरों की सेना बढ़ाना-मात्र है।

"इस हेतु की पूर्ति के लिए वह भगीरथ प्रयत्न कर सकती है, और वह ऐसे स्वास्थ्य, दूरदर्शिता और दृढ़ता के साथ परिश्रम करती है कि उसे क्षणिक विजय मिलने में देरी नहीं लगती। उसका मन शायद ही कभी अशान्त होता है, उसके हृदय में क्रोध कदाचित् ही उदय होता है। प्रयत्न निष्फल होने पर भी उसके शान्त स्वरूप के अन्दर धधकती हुई विनाशक अग्निज्वाला का दर्शन भी क्षणभर के लिए ही होता है। दूसरे ही क्षणस्वरूप बदल जाता है—वह शान्त और सौम्य बन जाती है।

"उसके स्वजनों और मित्रों का ग्रहमण्डल जहाँ तक कहा जा सकता है वहाँ तक वह उसी के आसपास घूमता है और उस मण्डल की ओर वह अद्भुत ममता दिखा सकती है। पर जिस तरह बादल का रंग क्षण में दूर हो जाता है उसी प्रकार उसके मुँह पर से भाव बदलते हैं, और कभी बुद्धि का प्रकाश भी चमचमाहट के साथ प्रकट हो जाता है। उसकी परिपक्वता और चातुरी या अन्त कोई देख नहीं पाता। आवश्यकता पड़ने पर ईश्वरीयदूत की प्रेरणा के समान प्राप्त वाक्पटुता से वह बोल सकती है। प्रसंग आने पर वह विष भी फैला सकती है। ईसा से एक सदी पहले वह मिश्र में पैदा हुई होती तो दादा ऐण्ट के पास से त्रिभुवन का साम्राज्य गँवा देती; जहाँगीर के दरबार में होती तो बेचारी नूरजहाँ के भाग्य से सम्राज्ञी-पद छीन लेती। विलायत में होती तो भ्रूभंगी द्वारा पार्लीमेण्ट का विसर्जन करा देती। बीसवीं सदी में गुजरात में वह सुशील और प्रतिष्ठित गृहिणी रहकर अमर इतिहास में नाम लिखाने की आकांक्षा त्याग बैठी है।

"मैं उसे ही अपना आन्तरिक अर्घ्य प्रदान करता हूँ।"

इसके पश्चात् भाई चारुदत्त अपना भाषण पढ़ सुनाने के लिए खड़े हुए —

"अध्यक्ष महोदय,

"मुझे यह देखकर खेद होता है कि मेरे मित्र सर्वसामान्य स्त्रियों को अर्घ्य प्रदान कर रहे हैं। इस दुःखमय संसार में जहाँ सहन करना ही महानता है वहाँ जिसने आँसू बहा-बहाकर सारा जीवन व्यतीत किया हो उसी ईसामसीह की भाँति सूली पर चढ़नेवाली स्त्री को अर्घ्य देना उचित है।

"ऐसी एक स्त्री मैंने देखी थी। वह थोड़ी अवस्था में ही विधवा हो गयी। तभी से सेवा और सहनशीलता का व्रत धारण करने का अधिकार उसे प्राप्त हुआ। वह निराधार थी। वह सारे घर के लिए कूटती-पीसती, कपड़े धोती, रसोई बनाती और सगे-सम्बन्धियों के बच्चों की देख-रेख करती। फिर भी उसे पेट-भर खाने को न मिलता, और ऐसी बातें सहनी पड़तीं, जिनसे कलेजा सुलग उठता। किसी के सुख में सौभाग्य अथवा आनन्द में उसे भाग नहीं मिलता। बहुत बार तो ऐसा मालूम होता कि सारे गाँव के दुःख के लिए वही गुनहगार है।

इस प्रकार दुःख की परिसीमा का अनुभव करते-करते वर्षों बीत चुके हैं। ऐसे-ऐसे प्रसंग उसे प्राप्त हो चुके हैं, कि देवताओं का हृदय भी राक्षसी बन जाय, फिर भी उसकी शान्ति अडिग बनी रही, उसका धैर्य नहीं टूटा, उसकी मिठास नहीं बदली, उसके आनन्दी स्वभाव में कर्कशता का संचार नहीं हुआ। वह हसते-मुखड़े जीवन व्यतीत करती रही।

"उसकी मृदु, म्लान और गम्भीर हँसी सबके हृदय को पिघला देती है। जिन्होंने पूज्य भाव को कभी नहीं जाना था वे भी उसके साथ आदर का बर्त्ताव करने लगे; उसे दुःख देनेवाले उसके पास कृतज्ञता का अनजाना-पाठ सीखने लगे।

"उसका एक धर्म-पुत्र था। अन्य बच्चों और उसके बीच उसने कभी भेद-भाव नहीं किया। अपनी सन्तान के प्रति अनेक बार होने-

वाले अन्याय को देखकर उसकी आँख में अदृश्य क्रोध आ गया हो, यह भी कभी किसीने नहीं सुना।

उस लड़के की बहू आयी; पर उससे सासु को सन्तोष नहीं मिला। फिर भी आजन्मसमर्पिणी की अद्भुत कला से वह हँसती ही रही। मृत्यु-पर्यन्त उसकी मिठास ज्यों-को-त्यों अमृत-भरी रही। उसने तब तक किसी से समादर की आशा नहीं रखी।

"सहनशीलता की सिद्धि उसके जीवन में अन्त तक महामंत्र बनी रही। सेवा-धर्म के अस्खलित आचरण में ही उसने अपनी मुक्ति मान रखी थी। दुःख से गम्भीर बनी हुई इस तड़फड़ाती दुनिया को उपदेश और शान्ति देने के लिए वह ईश्वरीय दूत के समान अवतरित हुई थी और वह मेरे स्मरण-मन्दिर में शोभायमान है। मैं उसे ही अपना अर्घ्य समर्पित करता हूँ।"

इसके बाद भाई फाँकड़ा किस्तूरी ने अपना अभिप्राय पढ़ सुनाया—"सभापति महोदय,

"स्त्री की भावना पुरुषों ने बिगाड़ दी है। स्त्री, पुरुष की साथिन, सहचरी और मित्र बनने के लिए बनायी गयी है तो फिर उसे शर्माना किसलिए चाहिए? पुरुष से अधिक मर्यादावाली या संस्कारी उसे किसलिए होना चाहिए? पुरुष जाति के रचे हुए स्वार्थमय नियमों ने स्त्री के स्वभाव को ऐसा विकृत कर डाला है कि चाहे जो उपाय करे यह स्वभाव बदलना असम्भव है। ऐसे विकार में से बची हुई एक ही स्त्री मुझे मिली है। मुझे तो वही अर्घ्य देने योग्य लगती है।

"वह शिक्षिता है। वह विवाह करके सुखी है। उसके लड़का है। सगे-सम्बन्धियों का स्नेह उसे मिला है। फिर भी उससे आपको शरारती लड़कों का आभास मिल सकता है। उसे इस बात की पर्वाह नहीं है कि पुरुषों को रिझाने के लिए कैसे वस्त्र-परिधान होने चाहिए। वह आकर्षक साड़ियाँ नहीं पहनती। गहनों का साज-सिंगार नहीं

करती। उसने इस शिष्टाचार की सदा अवगणना की है कि साड़ी का पल्ला सिर पर डालना ही चाहिए।

"पुरुषों के साथ बात करने में वह कृत्रिम लज्जालुता का ढोंग नहीं करती। पुरुषों से स्नेहभरी मैत्री रखने में वह दूषण नहीं देखती।

"वह गृहिणीपद के आडम्बर को धारण करने में खुश नहीं होती। उसका घर संस्कार उगावे का उष्मागृह नहीं है, वह तो कालेज के लड़कों का बोर्डिङ्ग-सा लगता है। एक कोने में बूट रखे हैं। एक खूँटी पर स्त्री-पुरुषों के पोशाक का संग्रह एक ही स्थल पर, लिखने की टेबल पर चाय बनाने का स्टोव और रोटी पकाते-पकाते पढ़ने के लिए खुली पड़ी हुई गुजराती पुस्तक। उसके सिवा अन्य घरों में ये चीज़ें इस रूप में नहीं दिखायी देतीं। कालेज छोड़ने के बाद ऐसी निर्दोष साधुता मैंने और कहीं नहीं देखी। पति के साथ उसका सम्बन्ध भक्तिपूर्ण है; संस्कारी स्नेहार्द्रता का नहीं; जैसे दोनों समवयस्क शरारती मित्र हों। स्वामी के घर आने पर वह उसका शिष्टाचारपूर्वक समाचार भी नहीं पूछती; सवेरे पति के जाते समय जो बात जहाँ अधूरी रह जाती है वहीं से शुरू होती है। आवश्यकता पड़ने पर वह पति को बच्चे को चुप कराने का काम दे देती है। फिर भी इस युगल जोड़ी में अभेद्य मैत्री है। पति को चाहे कभी शान्ति न भी मिले पर सहचार तो मिलता ही है।

"इस स्त्री से अधिक शुद्ध, प्रामाणिक सच्चा मित्र मिलना असम्भव है। मित्रों के साथ जातीय भिन्नता पर बना हुआ स्त्री-पुरुष के बीच का अस्वाभाविक अन्तर वह नहीं आने देती। उसकी उपस्थिति से ऐसा नहीं लगता कि स्त्रियों के आचार-विचार को पुरुषों के आचार-विचार से पृथक् नियम लागू करने का सदियों से प्रयत्न हुआ है; वह सजातीय मित्र की तरह परामर्श दे सकती है। आश्वासन खोजनेवाले मित्र को नम्रता, मिठास और प्रेरणा नहीं मिलती; पर अनुभव-संसारी की प्रभावपूर्ण परिपक्वता और सूक्ष्म दृष्टि का लाभ उससे मिलता है।

उसकी व्यावहारिक शक्ति अद्भुत है, इसीलिए वह शान्त और कृत्रिम चतुराई को सहन नहीं कर सकती। वह उठकर तुरन्त काम में लग जाती है, कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं, रास्ता साफ नज़र आता है।

"आप उसकी ओर स्त्री सम्मान-वृत्ति नहीं रख सकते; क्योंकि वह निर्बलता या सुकुमारता नहीं दिखाती। आपसे वह कृत्रिम सम्मान की आशा नहीं रखती; पर अपने साथी को जितना मान देना चाहिए उतने की आशा वह आपसे रखती है।

"साधारणतः पुरुष स्त्रियों से शान्ति या प्रेरणा माँगता है, और जो स्त्रियाँ वह प्रदान कर सकती हैं उन्हें अर्घ्य प्रदान करते हैं। किन्तु स्त्री से यह सब माँगना मेरे ख़याल में निर्बलता का लक्षण है। खरे पुरुष को मित्र की आवश्यकता होती है, वह पद ऐसी ही स्त्री को मिल सकता है। इसलिए मैं अपना अर्घ्य उसे ही देता हूँ।"

इसके पश्चात् सभापति के आमन्त्रण पर भाई फूलसहेड खड़े हुए और उन्होंने अपना भाषण देना आरम्भ किया—

"जिस स्त्री को मैं अपना अर्घ्य देता हूँ वह नवीन गुजरात का अनोखा पुष्प है। कमल के समान वह परिस्थिति को छोड़कर ऊँची उगी हुई है। उसके आह्लादजनक संचालन में नवयुग का संस्कार और स्वातन्त्र्य दोनों दिखायी देते हैं।"

"यह युवती सुन्दर नहीं पर स्वरूपवान है। उसकी आँखें प्रत्येक भाव से चमक सकती हैं। उसकी मीठी आवाज़ प्रत्येक भाव व्यक्त कर सकती है। उसकी हँसी में मोहकता अधिक है या शरारत, इसका निर्णय नहीं हो सकता; पर वह हँसती है तो आन्तरिक स्वाधीनता खो बैठती है, यह निःसंशय बात है। उसके मन में सभी कलाओं को हस्तगत करने का उत्साह है। तैरने, मोटर चलाने, घुड़सवारी करने, टेनिस खेलने, चित्र खींचने, गाने, लेख लिखने या भाषण करने की लालसा उसे दिन-रात बनी रहती है, और उन्हें बढ़ाने का वह अभ्यास करती रहती है।

"मोटे-मोटे लेखों और पुरुषों को समझने का वह प्रयत्न करती है; और उस पर किसी ने विवेचन किया हो तो समझ सकता है, और कुछ-कुछ स्वयं भी कर सकता है। राजनीतिक विषयों में भी उसमें दिल-चस्पी पैदा करने की चाह है, और किसी भी विषय पर दूसरों के साथ भी बातचीत चला सकती है और वह खुद भी विचार कर सकती है ऐसा प्रभाव दूसरों पर डाल सकती है।

"वह बड़ी साहसिक युवती है। पुरानी परम्पराओं को तोड़ने में उसे मज़ा आता है। पुरुषों की प्रवृत्ति और जीवन का निरीक्षण करने में उसे मज़ा आता है, और उनके साथ वह समानता का व्यवहार करना चाहती है, कोई पुरुष स्त्री-जाति पर पुरानी हकूमत चला दे इस भय से वह एक-एक शब्द बोलने में स्वतन्त्रता दर्शाती है।

"वह एक मोहक क्रान्तिकारिणी है। वह अपने सुकुमार स्वभाव में क्रान्ति करने का अस्पष्ट उत्साह रखती है। उस क्रान्ति में द्रौपदी का गौरव और शर्ली की रसज्ञता समा सकती है। अधिकांश लोग इस उत्साह की ओर तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं। मुझे वह उसकी मोहकता का प्रथम लक्षण प्रतीत होता है।"

"उसकी आत्मा परम संस्कारी है। उसका पराग चारों ओर प्रसारित होता है और अशान्त को शान्ति प्रदान करता है, अनघड़ों को सुडौल बनाता है और उसका संस्कार-सृष्टि में एकतानता प्रसारित करता है। उसके सम्मुख आने पर कोई भी व्यक्ति संस्कृति के सोपान पर चढ़ा हुआ समझता है।

"सामान्य लोगों को यह स्वतन्त्रता और संस्कारिता का विलक्षण मिश्रण समझ में नहीं आता। जो चीज़ समझ में न आये उसमें दूषण मान लेना यह अन्धकारग्रस्त मस्तिष्क का पहला सिद्धान्त है। इस स्त्री की संस्कारिता ही उसकी विशुद्धता की द्योतक और संरक्षक है। उसे देखनेवाले को ऐसा लगता है कि वह संस्कारिता तो उसके अन्तिम श्वास के साथ ही जायगी।

"उसके साहस, बुद्धि, स्वतन्त्रता और संस्कार से आकर्षित होकर संस्कारी पुरुष उसके पास सहानुभूति और प्रेरणा की याचना करते हैं। उनकी एक दृष्टि,एक हास्य और एक अभिनन्दन प्रयत्न की प्रेरणा करते हैं, पुरुषत्व को कसौटी पर चढ़ाते हैं। उसकी प्रेरणा प्राप्त किये हुए पुरुषों के मस्तिष्क की स्थिति राजकुमारियों के स्मित से प्रेरित योद्धाओं की मनोदशा की याद दिलाती है।

"प्रेरणा का धरना वह नहीं रोक सकती, फिर भी वह किसीको प्रेरणा देने की इच्छा नहीं रखती। स्वातंत्र्य कम न हो इसका कुछ भय उसे रहता है। प्रेरणा चाहनेवाले पुरुषों की ओर वह मदारी की दृष्टि से देखती है। यह नये ढंग का सिंह,नये ढब का बाघ; नयी शक्ति का बन्दर, ये सभी मेरी डुगडुगी की आवाज़ से नाचते हैं, ऐसा उसे लगता है। पर डुगडुगी की आवाज़ सुनकर स्वमान-भंग हुए पुरुष भाग जाते हैं और उनकी अनभ्यस्त आत्मा दुःख पाती है। उन बेचारों की आत्मा को यह भान नहीं है कि प्रेरणा के याचकों को प्रेरणामूर्ति की आराधना करनी चाहिए, मदारी की नहीं; उन्हें उत्साह मंत्र की आवश्यकता है, दासता की नहीं।

"यह नवयुग की प्रतिमा ऐसी अद्‌भुत प्रेरक शक्ति है। जैसा अनुपम संस्कार है वैसी ही उसकी व्योमविहारी आत्मा है। यदि वह किसी को हृदय से प्रेरणा देने का संकल्प करे तो उसमें अनन्य प्रभाव और वीरता उत्पन्न कर दे। यदि वह साहित्य या राजनीति प्रवृत्ति को अपना धर्म बनाले तो नये ही सम्प्रदाय की स्थापना कर सकती है। यदि उसकी संस्कारी आत्मा किसी दूसरी आत्मा के साथ निर्मल और अभेद्य सहचार का साधन करे तो धरती पर अमरपुरी उतर आये।

"सज्जनो, इस चित्र में त्रुटियाँ बहुत हैं। त्रुटि न हो तो मनुष्य-जात प्यारी क्यों लगे? फिर भी मैं तो इस नवयुग की मनोहारी स्त्री को अपना अर्घ्य समर्पित करता हूँ।"

इसके बाद भाई रसनिधि अपना चश्मा पोंछकर अपना लेख पढ़ने के लिए खड़े हो गये:—

"श्रीमान् सभापतिजी तथा सज्जनो,

"मेरे जैसा एक विज्ञान-विलासी अभ्यासी सभापतिजी के पूछे प्रश्न का निर्णय शीघ्रतापूर्वक देने के लिए तैयार नहीं है। स्त्री सृष्टि-विकास का परम साधन है, और ऐसी अत्युपयोगी शक्ति का निरीक्षण प्रत्येक दृष्टि से अटपटी वस्तु है।

"पहले प्रकृति अमर होने के लिए स्त्री को साधन बनाकर सम्मोहन और आकर्षण का शस्त्र उसके हाथ में देती है और उस शस्त्र से अपनी जोड़ी खोजकर वे जाति को अमर करना आरम्भ कर देती है। मनुष्य-विकास में स्त्री रक्षक-बल है, पुरुष संवर्द्धक-बल है। जाति की जनसंख्या स्त्री-जाति पर अवलम्बन करती है।

"जाति-जाति के बीच भयंकर रस्साकशी चल रही है। जो जातियाँ सशक्त और प्रभावशाली होती हैं वे जीवित रहती हैं। पृथ्वी को प्रतापयुक्त और सुखी करने के लिए यह साधन-भूत बनती है। जबतक पृथ्वी पर निर्बलता और दुःख व्याप रहा है तबतक सशक्त जातियों को ऐसी योजना बनानी चाहिए और इस प्रकार अशक्त जातियों का पृथ्वी पर से उन्मूलन करना चाहिए। जबतक दुर्बल, रोगी, अविकसित या अल्पजीवी जातियाँ पृथ्वी को बोझों मार रहे हैं तबतक सुख, शक्ति या सच्चा आनन्द दुनिया में दिखायी नहीं दे सकता।

"मैं पहले कह चुका हूँ कि जाति की रक्षा या विनाश का प्रथम साधन स्त्री है। स्त्री जितने अंशों में सशक्त जाति को अमर बनाती है, या अशक्त जाति का विध्वंस करती है। उतने ही अंश में वैज्ञानिक दृष्टि में दिखायी नहीं दे सकती।

"अब ऐसी पूजनीय या अर्घ्य योग्य स्त्री का निर्णय किया जाय।

"गुजरात-जैसी निर्बल या अशक्त जाति पृथ्वी पर शायद ही मिलेगी। हमारी औसत आयु पच्चीस वर्ष भी नहीं है। हमारी औसत ऊँचाई

५ फुट भी नहीं है। हमारे यहाँ बाल-मृत्यु का औसत २५ प्रतिशत है। हमारे यहाँ सभी देशों की अपेक्षा अधिक रोग प्रसारित होते हैं। हमारे युवक-वर्ग में ८६ प्रतिशत दुर्बल, रोगग्रस्त और निर्जीव होते हैं। हमारी कार्य करने की शक्ति सब जगहों की जनता की अपेक्षा कम है। यह बातें मैं अपने एक प्रसिद्ध लेख में प्रकाशित कर चुका हूँ और यह बात उन लोगों को मालूम है जिन्होंने गुजराती और अन्य जाति के लोगों को नौकर रखा है। ऐसी शारीरिक हीनता के परिणामस्वरूप हमारे देश में बुद्धि और चारित्र्य का विकास सम्भव नहीं है। द्वेष, क्रोध, लोभ और धन-संचय की इच्छा का प्राबल्य चारों ओर बढ़ रहा है, और अपूर्व पशु (Blonde Beast) उस जाति में परिपक्व हो यह बात अशक्य हो गयी है।

"इससे आप मेरे साथ सहमत होंगे कि अपनी अशक्त या हीन जाति पृथ्वी पर से जल्द उखड़ जाय इसी में जाति-विकास और उत्क्रान्ति का लाभ सन्निहित है। जब तक ऐसी जाति की वृद्धि होने देंगे तबतक मनुष्य-जाति की उन्नति होनेवाली नहीं है, और रोग तथा दुःख निर्मूल करने के सभी उपाय निष्फल होकर रहेंगे।

"मनुष्य-जाति के सौभाग्य से गुजराती जाति का उन्मूलन शीघ्रता के साथ होता जा रहा है, और भावी अपूर्वता का अरुणोदय निकट आता जा रहा है। तब गुजरात की इस विशाल भूमि में बेचारे मनुष्य-जन्तु की हीनजाति वास नहीं करेगी, पर किसी प्रतापी-जाति की सशक्त, विजयी और स्वतन्त्र सन्तान बसेगी। जो साधन वह अरुणोदय उत्पन्न करेगा, उत्क्रान्ति-क्रम का नियम-साधन करेगा उसका मूल्यांकन नहीं हो सकता।

"इस प्रकार की स्त्री मिलनी कठिन नहीं है। प्रत्येक नगर में, विशेषकर शिक्षित-वर्ग में, घूमने-फिरने की जगहों में और स्टेशन आदि स्थलों में वे तुरन्त दिखायी दे जायँगी उनके लक्षण इस प्रकार हैं—

"वे रंग में फीकी होती हैं। उनकी कमर में सीधी रहने की शक्ति

नहीं होती। उनके मुख-मण्डल पर तेज नहीं होता। उनकी आँखें बड़ी दिखती हैं और उनमें अस्वाभाविक तेज दिखायी देता है। उनके शरीर का घाट दो सीधी रेखाओं का ही बना होता है। स्तन या नितम्ब से उस सीधी रेखा में विकार नहीं होता।

"सप्ताह में तीन दिन उनके सिर में दर्द रहता है। पन्द्रहवें दिन उन्हें हिस्टीरिया (बेहोशी) का दौरा होता है। उत्क्रान्ति-क्रम के परम साधन-रूप स्त्री के अस्तित्व का हेतु सन्तान उत्पन्न करना होता है। यह स्वाभाविक से स्वाभाविक कार्य वे साधारण रीति से नहीं कर सकतीं।

"वे दुःख नहीं सहन कर सकतीं। वे खाना नहीं खा सकतीं। न चल-फिर सकती हैं। वे दूसरों को दुखी किया करती हैं। कृत्रिम भावमयता का अनुभव कर सकती हैं। पति के वियोग में क्षणभर भी बैठ नहीं सकतीं। वे जीवन में रस दिखाती हैं, पर एक भी काम रस लेकर—दिलचस्पी के साथ नहीं कर सकतीं। निर्दोष उत्साह और तूफान से वे घबराती है। यह सब मानस रोग के लक्षण हैं।

"ऐसी स्त्री बच्चों को नहीं सँभाल सकती, न उन्हे पढ़ा-लिखा सकती हैं। उन्हें बच्चे अच्छे ही नहीं लगते, वे दैव के घर के लिए तैयार बैठी रहती हैं।

"वे शारीरिक व्यायाम नहीं करतीं और न उसकी ओर आकर्षित होती हैं।

"सज्जनों वैज्ञानिक-दृष्टि से ऐसी स्त्री ही सच्ची सेवा बजाती है। वे अपनी निर्जीव जाति को तेजी के साथ विनाश के निकट पहुँचाती जा रही है—और उतने ही अंश में वह मनुष्य-जाति की विजय-साधना करती जा रही है। यह किस प्रकार, सो भी सुनिये—

"वे सन्तान नहीं पैदा करतीं, और अगर पैदा कर ही दें तो उसी क्रिया में मर भी जाती हैं। यदि भूले-भटके उनकी सन्तान जीवित भी

रही तो वह अल्पजीवी और रोगी होती है, और जननी पाँच वर्ष तक खुद भी स्प्रूरोग से पीड़ित रहती है। अधिकांश रूप में तो वह और उसकी सन्तान दोनों थोड़े ही वर्षों में काल के गाल में पहुँच जाती हैं और इस प्रकार एक निर्जीव जाति के कुटुम्ब का विनाश होता है।

"इस प्रकार प्रतिवर्ष अनेक स्त्रियाँ इस सृष्टिक्रम का अपूर्व कार्य पूरा कर रही हैं और वे दिन-दिन ऐसी शीघ्रता के साथ चलती जा रही हैं कि मुझे लगता है कि गुजराती जनता का अन्त कुछ ही वर्षों में हो जायगा।

"एक निर्जीव-जाति का उन्मूलन साधने और मानव-विकास की विजय साधने में तत्पर बनी इस गुजराती को ही अर्घ्य मिलनी चाहिए इसलिए इस प्रसंग में इतिहास-विख्यात् पर जीवित रहने के अयोग्य जनता के विनाश की कार्य-साधक संहारिणी को मैं अर्घ्य देता हूँ, और अनेकानेक बार प्रार्थना करता हूँ कि अपने खप्पर में सभी को लेकर इस भूमि को योग्य जनता के बसने योग्य शीघ्र बनाने दे।"

सभा में प्रकम्प छा गया। एकाग्रचित्त से सुनने वाले श्रोताजनों के कानों में प्रलयकाल की विनाशक ध्वनि सुनायी दी। किसी को बोलने के लिए होश भी नहीं रहा।

किन्तु अध्यक्ष महाशय ने फिर स्वस्थता का संचार कर दिया और भय से श्रोताओं को जो पसीना हो चला था वह सूख चला।

उन्होंने कुर्सी सरकायी और डा० रसनिधि के भाषण का जादू उतर गया। सभी ने निःश्वास छोड़ा, गुजरात जीवित है, इसका प्रमाण देखने के लिए लोगों ने चारों ओर देखा और अध्यक्ष को खड़ा होते देख सब ने तालियों की गड़गड़ाहट के साथ उनका स्वागत किय।

इसके पश्चात् सभापति महोदय—भाई एडी पोलो ने अपना भाषण सार रूप में दिया—

"सज्जनो,

"इस समय बोलने के लिए उठते समय मुझे आनन्द हो रहा है। ऐसे विद्वानों की सभा में अध्यक्ष-पद ग्रहण करने के योग्य मैं कभी होऊँगा इस बात का मुझे अबतक ख़याल नहीं था। (तालियाँ) मैंने सबके भाषण ध्यानपूर्वक सुने हैं, और मुझे इस मण्डल के लिए एक प्रकार से खेद होता है। मुझे कहना पड़ता है कि आप सब आज मण्डल से बरतरफ़ हो गये हो! (विचित्रतापूर्ण ध्वनि) कानूनी शब्दों में कहूँ तो आपने व्यक्तिगत पक्षपात का द्वेष से विवेचन किया है। (नहीं, नहीं की पुकार।)

"आप 'नहीं' कहते हैं पर मैं 'हाँ' कहता हूँ। आपके जीवन के पन्ने खोलकर आपकी अर्घ्याह स्त्री कौन है, इसका निर्णय मैं नहीं करना चाहता। इसलिए आप बरतरफ होने लायक हैं, पर ऐसा करने वाले के अभाव में आप सभ्य के रूप में कायम हैं और आपका मण्डल जीवित है। (करतलध्वनि)

"हमारे मण्डल के सौभाग्य से एक सदस्य कानून नहीं तोड़ सकता। वह मैं हूँ और मेरे ही भाग्य में उपसंहार करने का काम आया है, यह देखकर मुझे यह निश्चित-सा लगता है कि गुर्जर-स्त्रियों का भाग्य सोने में जड़ा हुआ है। (तालियाँ) सज्जनो, मैं आप जैसा एकदेशीय नहीं हूँ। भाई पुरुरवा की भाँति मैं पुराने विचारों का भी नहीं हूँ। उसी प्रकार मैं भाई रसनिधि जैसा प्राणिशास्त्री भी नहीं हूँ। मेरा दृष्टिविन्दु पुरुष का है—स्त्रदेशीय है। (करतल-ध्वनि)

"सज्जनो, किसे अर्घ्य प्रदान किया जाय, इस विषय में मेरा मन —खरे पुरुष का मन अधूरा नहीं है। मेरा हृदय विशाल है।(तालियाँ) मेरा काम स्त्री-पूजा बिना नहीं चल सकता। जहाँ स्त्री है वहाँ मैं अर्घ्य देने के लिए उत्सुक हो जाता हूँ। जहाँ स्त्री की पदध्वनि सुनायी देती है, वहाँ पूरा हृदय पूजा की भावना से भर जाता है। (करतल-ध्वनि)

"मैं गुणदोष देखने के लिए नहीं हूँ। (तालियाँ) मैं चरित्र का पृथक्करण नहीं करता (तालियाँ) मैं रूप में बुराई नहीं देख सकता। जहाँ उत्क्रान्ति-क्रम के परम साधन-रूप जगज्जननी, जगद्विलासिनी, जगन्मोहिनी का दर्शन होता है कि मैं प्रणिपात करता हूँ, अर्घ्य समर्पण करता हूँ और उच्चारण करता हूं—

नमामि कमलाम्
अमलाम् सुस्मिताम्
धरणीम् भरणीम्
मातरम्

(देर तक करतलध्वनि)

कण्डु आख्यान

टीकाकार का विवरण

जिस प्रकार अन्य धर्मों के पवित्र ग्रन्थों में पुरुष और स्त्री के सर्जन का इतिहास मिलता आया है उसी प्रकार हमारे ग्रन्थों में भी मिलता है। किंतु हमारा धर्म सनातन है, और हमारे ग्रन्थ चिरकालज्ञ महापुरुषों के रचे हुए हैं अतः यह निर्विवाद बात है कि उनसे हमें जो इतिहास मिलता है वह ठीक और सप्रमाण है। सभी धर्म मानते हैं कि सृष्टि का सम्राट् पहले पुरुष ही बना है। किंतु स्त्रियों को ईश्वर ने बाद में बनाया, ऐसी ही दूसरे धर्म-ग्रन्थों की मान्यता है जो अपने धर्म-ग्रन्थों के आधार को देखते मिथ्या निकलती है। हमारा इतिहास कहता है कि स्त्रियाँ कण्डु मुनि की भूल से प्रकट हुईं। यह इतिहास संक्षिप्त रूप में विष्णु-पुराण के प्रथम भाग और पंचदश अध्याय में मिल जाता है।

एक दिन एक विद्वान के प्राचीन पुस्तकालय में मैं पुराणों की विभिन्न प्रतियाँ देख रहा था और वहाँ 'विष्णु-पुराण' की एक जर्जरित प्रति हाथ लगी। उसमें कण्डु मुनि के आख्यान और स्त्री-सर्जन का अध्याय कुछ भिन्न ही ढंग से लिखा हुआ प्रतीत हुआ। यह आख्यान हमारे धर्म का—बल्कि सभी धर्मों का और कितने ही अंशों में हमारे समाज की स्त्रियों के प्रति दृष्टि-बिन्दु पेश करता है। इस आख्यान का संशोधन

कर उसे सटीक प्रकाशित करने का मुझे तुरन्त लोभ हो आया, और मैंने यह कार्य आरम्भ कर दिया। आशा है कि इसमें जो कुछ रहस्य है उसे पाठक समझेंगे। अनुवाद करने की मेरी शक्ति दुर्बल है; फिर दोष जितने हों वह मेरे, और गुण मूल के, इस सिद्धान्त पर पाठक चलेंगे, तो इसमें जो आख्यान कहा गया है उसके अनुसार यह 'श्रोतव्य और वक्तव्य' दोनों हीं लगेगा। हमारे युग के साक्षरवर्ग ने, पिता पुत्री के सामने पढ़ सके, ऐसा ही साहित्य प्रकाशित करने की व्यवस्था की है। यह उत्तम व्यवस्था संस्कृत-साहित्य की रचना करनेवाले के समझ में या तो मान्य न रहा होगा, या फिर पिता और पुत्री के सिवा अन्य सम्बन्धियों के बीच साहित्य के आनन्द की प्राप्ति उस काल में होती होगी, यह बात इस आख्यान से प्रतीत होती है।

इस आख्यान में जो श्लोक पर टिप्पणी लगी है अधिकाँशतः प्रचलित प्रतियों में मिलती है। इति शिवम्।

—संशोधक और टीकाकार

मैत्रेय उवाच—मुनियों में श्रेष्ठ! स्त्री सर्जन किसने किया और उसकी सृष्टि करने का हेतु क्या था? वह पुरुष को अधम कैसे बनाती है, और उसे छोड़ने से ही मोक्ष किस प्रकार मिल सकता है? १

हे पराशर! जीवन में और धर्म में स्त्री का स्थान क्या है? ब्रह्मचर्य से ही तप की सिद्धि क्यों होती है? और स्त्री के त्याग से ही तप की सिद्धि है तो स्त्री पैदा कैसे हुई? और पैदा हुई तो उसे अनधिकारी क्यों माना गया है। २

हे वेदविदों में श्रेष्ठ! हमने सुना है कि श्रुति स्त्री के त्याग से ही मोक्ष मिलने की बात कही गयी है। तो फिर ऐसे त्यागियों में प्रथम कौन था? और उसने क्या सचमुच स्त्री का परित्याग किया था? इन सब प्रश्नों का इतिहास और निराकरण हम ध्यानपूर्वक सुनना चाहते हैं। ३

पराशर उवाच—स्त्री ही सृष्टि में कलंक रूप है, और उसे त्यागने

से ही मोक्ष मिलता है। उसकी रचना करके सृष्टि की सम्पूर्णता भी दोषावत दीखती है, यह बातें, हे मैत्रेय, परापूर्व से विबुध रह गयी हैं। ४

स्त्रियों को त्याज्य समझने की यह अनादि-काल से चली आती चेतावनी है। इसे पुरुष भूल जाते हैं, यही उनकी निर्बलता और अधः-पतन के साधन की सफलता प्रदर्शित करता है। ५

सभी ऊर्ध्वगामी प्रेरणाओं की शत्रु, तप की विनाशक, मोक्षमार्ग में बाधक—इस प्रकार की राक्षसी होती है स्त्री, ज्ञानियों के ऐसे वचन सप्रमाण हैं। ६

दर्शन से वह चित्त हरती है, स्पर्श से बल हरती है,.....† नारी प्रत्यक्ष राक्षसी है। ७

यह ज्ञान आत्मत्यागी कण्डु मुनि के आख्यान से मिलता है। ब्रह्मचर्य के रहस्य की प्रतीति हो ऐसा यह आख्यान पूर्वकाल में ब्रह्मा ने सनकादि ऋषियों को कह सुनाया था। ८

यह कण्डु मुनि प्रजापति दक्ष की माता आद्य स्त्री मारिषा के पिता थे। उन्हीं से स्त्रियों की उत्पत्ति हुई और ब्रह्मचर्य की भी। उन्हीं से सारी सृष्टि उत्पन्न हुई। ९

यह श्रोतव्य और वक्तव्य हैं, इसका श्रवण करने से मोक्ष प्राप्त होता है; यह त्रिकाल में स्मरण रखने योग्य है और इससे संसार-सागर सरलता से पार किया जा सकता है। १०

मैत्रेय उवाच—हे पराशर! तुमने हमारी उत्कण्ठा बहुत बढ़ायी है। मोक्ष के मार्ग का साधन करनेवाला यह आख्यान हमें श्रवण कराओ। हम एकाग्र चित्त से वह सुनने के लिए उत्सुक हुए हैं। ११

पराशर उवाच—हे मैत्रेय! सृष्टि के प्रारम्भ में गोमती के रम्य-तट पर स्वच्छ और नन्हीं-सी पर्णकुटी में शान्त और अकेले मुनियों में मोर अडिग रूप से तप का आचरण करता था। १२

---

† इस स्थल पर प्रति फटी हुई है।

प्राणों का अवरोध करके, इन्द्रियों का दमन करके, नासिकाग्र में नेत्र केन्द्रित करके पृथ्वी के विशाल एकान्त में अपूर्व निर्लेपता का वे अनुभव कर रहे थे। १३

स्त्री या संसार, उनके अनुगामी पाप और दुःख का उद्भव अभी नहीं हुआ था; और इस पर भी जैसे भविष्य के भार को वहन करता हो, इस प्रकार मुनिवर्य सदोष सृष्टि को पहले ही से दोष-रहित करने का कार्य कर रहे थे। १४

उन महात्मा के साथियों में सूर्य, चन्द्र और तारागण थे,[1] गोमती के नीर का संसगीत उनकी आत्मा में ऊर्मियाँ—लहरें ला देने के लिए उमड़ता था। १५

सूर्योदय की ही नवीनता उनके हृदय में लोक का संचार करती थी। मन में जिस वस्तु की इच्छा होती वही खाते, जहाँ इच्छा होती वहीं विचरते। दुःख का अवसर उनके जीवन में कभी आता ही न था। १६

सभी पापों की जड़ स्त्री है; उसके संचार के बिना जो सृष्टि थी उसके वे भोक्ता थे।....[2] १७

किसी-किसी समय निर्जन सृष्टि का एकांकीपन उन्हें अखरता था; किन्तु इसे मानवीय निर्बलता का एक परिणाम मानकर शम, दम, जप और तप की वृद्धि उनके स्वभाव को प्रभावित कर रहा था। १८

एक दिन सवेरे भगवान कण्डु मुनि ने निद्रा त्यागकर पर्णकुटी के बाहर देखा तो पौ फटने को आ गयी थी।

"यह रोज़-रोज़ उठना एक बला है?" मुनि ने इधर-उधर मुखकर

---

१ दक्ष प्रजापति से सभी प्राणी उत्पन्न हुए इसलिए कण्डु मुनि के समय में वृक्ष—झाड़-झंखाड़ और पृथ्वी के सिवा और कोई वस्तु उत्पन्न होने की सम्भावना नथी। —टीकाकार।

२ यहाँ एक चरण ठीक से पढ़ा नहीं जाता।

दाहिने-बायें नासिका-रन्ध्रों से श्वास-माप ली, और प्रश्न में रही निर्बलता उनके प्रौढ़ हृदय में कैसी आयी, इस पर तर्क किया। २०

आखिर वे उठे। विधि का विधान कभी मिथ्या नहीं होता। हाथ में कमण्डल ले वे गोमती की ओर प्रातर्संध्या करने चले। २१

शुद्ध जल से स्नान कर उन्होंने प्राणायाम द्वारा प्राणावरोध किया। उगते सूर्य को अर्घ्य देते हुए उन्होंने अपने अनिमेष नेत्र सूर्यबिम्ब पर डाले। २२

सविता के बिम्ब का ध्यान करते बीच में बाधा आयी। मुनि की एकाग्रता गयी। नरों में श्रेष्ठ और तपस्या में प्रथम मुनि के शान्त हृदय में घबराहट पैदा हो गयी। २३

उस समय उन्होंने सूर्य के नीचे एक छोटा-सा बादल उतरते देखा और स्त्री से अपरिचित मुनि के आश्चर्य का पार नहीं रहा। २४

यह अभ्र चाहे जिस रूप में सही; सुरम्य था। ऐसा लगा कि उसके दो हाथ और दो पैर थे। फिर भी वह आच्छादित न था। २५

उसका रंग साँझ के सुवर्णरंगी बादल-जैसा रमणीय था और तिस पर भी उस बादल में पूर्णचन्द्र का बिम्ब दिखायी दिया। २६

ऐसा रमणीय और अपरिचित दृश्य देखकर मुनि का रोम-रोम खड़ा हो गया। वे विद्ध हुए; उन्हें ज़रा रस आया और कुछ उत्साह बढ़ा। २७

मुनि को ऐसा लगा कि यह दृश्य क्षणभर में अदृश्य हो जानेवाला है, इसलिए जिस प्रकार तरसा मनुष्य न अघाय उसी प्रकार मुनि के नेत्र उसे देखकर तृप्त नहीं हो रहे थे। २८

वह अपार्थिव और तेजस्वी बादल चन्द्र-बिम्ब के साथ गोमती के तट पर उतरा और सरिता के नीर से भी अधिक हृदयवेधक संगीत मुनि के हृदय में आरम्भ हुआ। २९

इस बादल में दिखायी देनेवाले चन्द्र-बिम्ब के आसपास काले

और लम्बे केश पवन के प्रवाह में स्वच्छन्द रूप से बिखर रहे थे और वे बादल की सुरम्य रेखाओं का आवरण ढँक रहे थे। ३०

चन्द्र-बिम्ब से मीठी हँसी छिटक रही थी। उसकी सुमधुर मोहकता न देख सकने के कारण मुनि ने बादल की रेखाओं की ओर दृष्टि कर ली, और उनके रग-रग में एक अपूर्व आनन्द-भरा उत्साह उछलने लगा। ३१

यह उत्साह अपरिचित था; फिर भी इन योगीन्द्र को ऐसा लगा कि इस आनन्द के अनुभव से उनके तप की परम सिद्धि के रूप में वे ब्रह्म की प्राप्ति कर रहे हैं। ३२

मुनि ने सूर्य की ओर देखा तो वह मन्द लगे। पृथ्वी की ओर देखा तो वह भी निस्तेज लगीं। इस अँधेरी बनती सृष्टि में कोई चीज़ निस्तेज दिखायी दी तो वह बादल ही था, और तप से तपस्वी बनी हुई मुनि की दृष्टि इस तेज के सिवा और दूसरी किसी वस्तु पर नहीं ठहरी। ३३

"क्या कर रहे हैं?" इस प्रकार के सुमधुर सुर में उस बादल ने पूछा, और चारों दिशाओं में आनन्द की तरंगों ने सृष्टि को भर दिया। ३४

मुनि ने अन्तर्नाद, प्रकृतिनाद और ब्रह्मनाद—इस प्रकार त्रिविध नाद सुना था, और अपनी आवाज़ वृक्षों की घटा में और गुफा के अन्धकार में प्रतिध्वनि करती हुई सुना करते थे; किन्तु ऐसी मीठी आवाज़ उन्होंने कभी नहीं सुनी थी। ३५

उन्हें वह कण्ठ-स्वर ब्रह्मनाद के समान लगा। उनकी नस-नस में अद्भुत संगीत प्रसारित हो गया। उसके अन्तर में अद्भुत प्रेरणा हुई। हँसकर वे पानी से बाहर निकलकर उस बादल की ओर आये। ३६

परन्तु पास जाते ही मुनि स्तब्ध बनकर खड़े हुए। रमणीय बादल के आकर्षण की प्रबलता बढ़ने से हिल भी नहीं सके—उस चन्द्र-

बिम्ब से स्तन, स्तन से....*पैर तक की रमणीयता देखते ही रहे। ३७

बादल हँसा। उसके हास्य से उन स्थितप्रज्ञ का रोमांच हो गया। उन्होंने बादल में मुख-जैसे चन्द्र-बिम्ब पर नज़र डाली तो उसके ओठ में कुछ नवीनता प्रतीत हुई। स्पर्श में यह ओठ कैसे लगेंगे ऐसा स्वाभाविक विचार उन यम, नियम, अहिंसादि के साधन में सिद्ध तपस्वी के चिन्तनशील मस्तिष्क में स्फूर्तिमान हुआ। ३८

मुनि भी हँस दिये। वे इस प्रकार हँसते गये, जैसे हँसने से ही कुछ लाभ प्राप्त हो रहा हो। वे पास आये तो देखा कि बादल पार-दर्शक नहीं था; वह तो उनके ही जैसा कोई स्थूलदेही था। उनके आश्चर्य का पार नहीं रहा। ३९

बादल का स्वभाव वायु-जैसा सूक्ष्म है, ऐसा जानते हुए उन ज्ञानवान महातपस्वी को इस रमणीय बादल की स्थूलता का दोनों हाथों से स्पर्श करके अनुभव करने की बड़ी उत्कण्ठा हुई। ४०

"आप यहाँ अकेले ही हैं?" मधुर कण्ठ से ऐसा प्रश्न करते हुए वह बादल आश्चर्यचकित नेत्रों से मुनि को देखता रहा। ४१

मुनि अकेले ही रहते थे और अकेले ही मरने की आशा रखी थी। उनके-जैसे आजन्म आत्मनिष्ठ को साथी की आकांक्षा थी ही नहीं। ४२

अपने अतिरिक्त दूसरे सभी के स्वर से अपरिचित मुनि बादल का सुन्दर स्वर सुनकर ब्रह्मानन्द की सिद्धि अनुभव करने लगा। ४३

फिर भी मुनि को यह प्रश्न दुःखद लगा। इस प्रश्न से जैसे हृदय की उड़ान में एकाकीपन का त्रास पैठ गया हो, उन्हें ऐसा ही लगा। ४४

उन्होंने उस बादल की ओर दयाजनक दृष्टि डाली और खिन्न स्वर में बोले—"मैं क्या करूँ?" ४५

"क्यों, आपके कोई और नहीं हैं?" रमणीय बादल ने इस प्रकार

---

* यहाँ प्रति फट जाने के कारण कई शब्द रह गये हैं

का प्रश्न विस्मयजनक स्वर में किया जिसके उत्तर में मुनि ने कहा—"और कौन होता ?" ४६

यह प्रश्न सुनकर उस बादल के हास्य का पार नहीं रहा, और मानो अधःपतन की भविष्यवाणी करते हुए उसने पूछा—"आपके स्त्री नहीं है ? ४७

स्त्री क्या वस्तु है, इस बात से अनजान शुद्धहृदयी कण्डु मुनि न तो यही पूछ सके कि स्त्री क्या वस्तु है, और न यही तर्क कर सके कि उनके स्त्री क्यों होनी चाहिए। वे बेचारे उस आकर्षक बादल की ओर देखते ही रहे। ४८

मुनि को इस प्रकार अवाक् देख बादल खिलखिलाकर हँस पड़ा। किसी के साथ बात करने के अनुभव से हीन तपस्वी ने बड़े परिश्रम से पूछा—"आप कौन हैं ?" ४९

"मैं अप्सरा हूँ। देवलोक में मुझे प्रम्लोचा कहते हैं ?" ऐसे सुन्दर शब्दों से बादल ने अपना परिचय दिया। ५०

"प्र-म्-लो-चा" बड़े परिश्रम से इस शब्द का उच्चारण करते हुए मुनि ने कहा—"देवलोक क्या है ?" ५१

उत्तर में प्रम्लोचा की तिरस्कारपूर्ण हँसी सुनायी दी। मुनि स्तब्ध होकर मुस्करा गये; बोलने का उन्हें भान ही नहीं रहा। ५२

मुनिश्रेष्ठ ! इस आकाश के उस पार देवताओं की भूमि है। वहाँ देव, देवी और अप्सरा सदा आनन्द से विहार करते हैं।" अप्सरा ने कहा। ५३

"आप-जैसी ?" अपनी एकाकी स्थिति से खिन्न होकर मुनि ने गद्गद कण्ठ से पूछा—"और मैं तो यहाँ अकेला हो हूँ।" ५४

इस प्रकार आत्मनिष्ठ मुनि सप्रेम पाप के आरम्भ से होनेवाली वेदना से अपने एकाकीपन के दुःख का अनुभव करने लगे। ५५

"प्रम्लोचा," नामोच्चारण से ही माधुर्य टपकता हो इस प्रकार के रस से मुनि ने उसको सम्बोधित कर और जन या प्राणीहीन सृष्टि के

इन स्वामी आर्य-हृदय में अतिथि-यज्ञ की भावना का संचार हुआ। ५६

और "उस आश्रम में आओगी ? मैं थोड़ा फल भेंट करूँ।" कहकर महात्माजी ने आदर से अप्सरा को निमन्त्रण दिया। ५७

"नहीं, मुझे देवलोक लौटना है"। कहकर उस सुन्दर अप्सरा ने वहाँ रहने में अपनी नाराज़गी दिखायी। ५८

यह शब्द सुनकर स्थितप्रज्ञ का शरीर घुल गया और मुँह सूख गया। शरीर काँपने लगा और रोमांच हो आया। * ५९

उन्हें लगा कि प्रम्लोचा से ही शरीर में प्राण है और आकाश में सूर्य है। उसीकी बदौलत वे जीते हैं और उसके जाते वे निश्चय मृत्यु प्राप्त करेंगे। ६०

इस ज्ञान की प्राप्ति होते ही मुनि की आँखों से आँसू बह चले, और प्रणिपातकर उन्होंने अप्सरा से गद्‌गद् कण्ठ हो वापस न जाने की प्रार्थना की। ६१

मुनि की प्रार्थना से जिसके हृदय पर कुछ प्रभाव पड़ा ऐसी उस अप्सरा ने आखिर पूछा—"मैं यहाँ रहूँ तो सही पर रहकर करूँ क्या ?" ६२

"मैं फल दूँगा, फूल लाऊँगा, पंखा करूँगा।" ऋषि ने कहा; पर ऐसे वचनों से भी वह अप्सरा नहीं रीझी। ऐसा देखकर मुनि के खेद का पार नहीं रहा। ६३

"मैं तुम्हारे चरणों की रज बनकर रहूँगा। मैं तुम्हें निरन्तर प्रसन्न रखूँगा, और तुम चली जाओगी तो शरीर त्याग दूँगा।" ये शब्द मुनि ने हाथ जोड़कर प्रार्थनापूर्वक कहे। ६४

---

* इसमें गीताजी के अध्याय प्रथम श्लोक २८-२९ की ध्वनि निकलती है। इस आख्यान का काल-निर्णय न होने के कारण कौन-सा शब्द असल है और कौन-सा प्रतिरूप यह निर्णय करने में टीकाकार अशक्ति प्रदर्शित करता है।

और अप्सरा के चले जाने की कठिन हृदयपूर्ण धमकी के भय से व्याकुल मुनि ने उसके चरणों में मस्तक टेक दिया और बार-बार उससे विनय करने लगे। ६५

कोमल-हृदय से आर्द्र बनी अप्सरा छटापूर्ण कटि को झुकाकर पैरों में झुके ऋषि से बोली—"यह क्या करते हो?" और मुनि को अपने चरणों में-से उठाने का प्रयत्न करने लगी। ६६

अप्सरा का स्पर्श होते ही जैसे महात्मा के रोम-रोम में आग लग गयी। वह उछलकर खड़े हो गये और याचक की नम्रता भूलकर वह अप्सरा को लिपट गये। ६७

देवांशी अप्सरा का देह आकाश-तत्त्व का है या पार्थिव-तत्त्व का, दबाने पर इस शरीर का अस्तित्व रहता है या वह पिघल जाता है, जैसे इसका निर्णय करने के लिए मुनि ने उस अप्सरा का शरीर ज़ोर से दबा रखा हो। ६८

इस अप्सरा के मुखचन्द्र में-से सुधा-प्रवाह होता है या नहीं, जैसे इस परम गहन विषय का एकाग्रतापूर्वक निर्णय करने के लिए मुनि ने उसके अधर का पान आरम्भ कर दिया। ६९

इस उत्साह और गम्भीरता को देखकर कोमलांगी अप्सरा ने हँसते नेत्रों से और "मैं रहूँगी—रहूँगी" शब्दों से मुनि को आश्वासन दिया। ७०

फिर मुनि और अप्सरा निर्जन सृष्टि की फैली कुञ्जों में विहार करने लगे, और पुष्प-हार से वे एक-दूसरे को सजाने लगे। ७१

पर्वत-शृंगों और नदी-तट पर उन दोनों के मधुर और भावपूर्ण संगीत दशों दिशाओं में गूँजकर प्रतिध्वनि करने लगे। ७२

हँस-हँसकर बुलाने और एक-दूसरे के पीछे खेल-खेल में दौड़ने से, परस्पर लिये हुए चुम्बनों की आवाज़ से सभी कोने गुंजायमान हो उठे। ७३

दिन को वृक्षों की शीतल छाया के नीचे और रात को गोमती-तट

की बालुका पर एक-दूसरे की कर-लता में, अप्सरा के केश से आच्छादित हो हृदय-पर-हृदय और अधर-पर-अधर रख वे समय व्यतीत करने लगे। ७४

गोमती के नीर से छुपके मार-मारकर वे एक-दूसरे को भिगोने लगे, और पानी में डुबकी लगाकर वे एक-दूसरे को विह्वल बनाते—इस प्रकार मध्याह्नकाल तेज़ी से बीतने लगा। ७५

स्वप्न के समान जागृत अवस्था में, और जागृतसम स्वप्नावस्था में अभिन्नता का अनुभव करते हुए इस प्रकार रात्रि व्यतीत होने लगी जैसे वह हुई ही न हो। ७६

हे मैत्रेय! इस प्रकार एक-दूसरे से न पकड़े जाकर वे निर्जन सृष्टि को एक-दूसरे के कल्लोल से भरने लगे और इस प्रकार अनदेखे निरन्तर आनन्द में निमग्न रहकर वे कालक्षेप करने लगे। ७७

मैत्रेय उवाचः—हे पराशर! इस प्रकार उन महामुनि और अप्सरा ने कब तक विहार किया और अन्त में क्या हुआ इसकी कथा मुझसे विस्तारपूर्वक कहो। ७९

इस प्रकार साथ रहते हुए उन्होंने शत शरदकाल व्यतीत कर दिये और देवलोक जाने की इच्छा रखनेवाली प्रमूलोचा ने मुनि से आज्ञा माँगी। ८०

इस याचना से ऐसा प्रतीत हुआ कि उनके प्राण ही निकल जायँगे। अकेले रहने के भय से वे थर-थर काँपने लगे और उन्होंने आँखों में आँसू भरकर अप्सरा से कहा। ८१

कण्डु उवाचः—चन्द्र-किरण की शान्ति और सूर्य-किरण का उल्लास प्रदान करनेवाली! तुम्हारे जाने के शब्दों से मेरा हृदय काँपता है, और मेरा जीवन खाली-सा लगता है। ८२

मेरे तप की परम सिद्धिरूप प्रम्लोचे! अनेक शताब्दियों तक तुम्हारी बाट देखने के बाद तुम्हें प्राप्त किया था, यह बात क्या तुम भूल गयीं? ८३

मैं तुम्हारे जीवित रहने से ही जीवित हूँ। तुम्हारे साहचर्य के बिना मैं पलभर भी प्राण धारण नहीं कर सकता। तू मुझे छोड़ जाने के क्रूर वचन का उच्चारण किस प्रकार करती है? तुम्हारे बिना यह जीवन व्यर्थ है। ८४

चन्द्रमुखी! मेरा सर्वस्व तो तू ही है। तू चली जायगी तो सृष्टि पर मेरा सूर्य तो सदा के लिए अस्त हो जायगा। मेरे प्राणों की अधार! तू मत जा; मेरे ऊपर दया करके यहीं रह। ८५

पराशर उवाच:—मुनि को इस प्रकार विनय करते सुन प्रम्लोचा की आँखें सजल हुईं। उसने कण्डु मुनि के आँसू पोंछे और अपनी कर-लताओं से उन्हें आवद्ध करके आश्वासन दिया। ८६

प्रम्लोचा उवाच:—मुनिश्रेष्ठ! मुझे अपने प्रिय देवलोक की याद आती है। सौ वर्ष व्यतीत हो गये इसलिए अब मुझे स्वप्न में भी पितृगृह दिखायी देता है। ८७

तुम्हारा साथ और सृष्टि-कार्य का निरंकुश स्वामित्व रुचिकर है; पर अपने सगे-सम्बन्धियों से दूर रहने का दुःख मुझे किसी तरह नहीं भूलता। ८८

मैं जितना भी सुख आपको दे सकी उतना मैंने दिया; पर हे स्वामी! मुझे अब जाने की छुट्टी दो और आप अपने नित्य-कर्म में लगो। ८९

कण्डु उवाच:—हे प्रम्लोचे! मैं तुम्हें कैसे जाने दूँ? जैसे आँख चले जाने से अन्धा निराधार हो जाता है उसी प्रकार मैं तुम्हारे चले जाने से हो जाऊँगा। इसलिए हे सुभगे! तुम यहीं रहो। ९०

हे सुकेशी! मैं तपस्वी हूँ। यदि तू मेरी याचना नहीं स्वीकार करती तो मैं तुझे आज्ञा देता हूँ, और तू वह भी न मानेगी तो मैं तुझे शाप दूँगा। इसलिए तू मत जा। ९१

पराशर उवाच:—इस बार पुनः पुनः प्रार्थना सुनकर प्रम्लोचा ने

याचक पर दया खायी और शाप का भी भय हो गया इसलिए उसने मुनि के साथ रहना स्वीकार कर लिया। ९२

हे मैत्रेय ! इसी प्रकार एक-दूसरे के साथ रहते और विहार करते मुनि और अप्सरा ने सौ वर्ष और व्यतीत कर दिये। ९३

उस सौ वर्ष में भी दिन और रात, ऋतु और स्थल की पर्वाह किये बिना वे निरन्तर आनन्द का अनुभव करते रहे। ९४

दो शरीरों में एक ही प्राण हो, दो दीपकों में एक ही ज्योति जल रही हो, दो भुवनों में एक ही सूर्य शोभायमान हो—ऐसा साहचर्य देवताओं को भी दुर्लभ था। ९५

प्रत्येक प्रभात प्रम्लोचा को देख-देखकर प्रतिदिन अर्घ्य देने से जैसे सविता के प्रति भक्ति बढ़ रही हो इस प्रकार मुनि की प्रीति बढ़ चली। ९६

और भी सौ वर्ष पूरे हो गये, तब अपने पितृगृह जाने के लिए उत्सुक अप्सरा ने फिर छुट्टी माँगी; पर आसक्ति के बल और शाप के भय से मुनि ने उसे नहीं जाने दिया। ९७

इस प्रकार जब जब वह स्त्री स्वर्ग जाने की इच्छा करती थी तब तब ऋषि उसे रह जा, मत जा करके रोकते रहे। ९८

भय से सदा दूसरे की इच्छा के अनुसार चलनेवाली, और पुरुष याचना करे तो उसे 'न' न कहनेवाली ऐसी स्त्री ने ऋषि का त्याग नहीं किया। ९९

ऋषिवर और अप्सरा के अन्तःकरण परस्पर के आकर्षण से मिलकर एक-से होने लगे, और दिन-रात स्मरण करते-करते उन्हें नूतन प्रेम उत्पन्न होने लगा। १००

हे मैत्रेय ! एक-दूसरे के हाथ-में-हाथ रख, मूक भाव से वार्तालाप करना और आँखों के इंगित से ही वार्तालाप का सन्तोष प्राप्त कर लेना। १०१

एक-दूसरे के शरीर के स्पर्शमात्र से परम आनन्द प्राप्त करना

और एक-दूसरे का स्वर सुनकर अवर्णनीय उल्लास का अनुभव करना। १०२

एक-दूसरे की गोद में सो जाना, एक-दूसरे के नयनों को अर्घ्य देते हुए सूर्य देवता को भूल जाना, और एक-दूसरे के बाहु में आलिंगित हो भिन्न होते हुए भी अभिन्नता अनुभव करना। १०३

एक-दूसरे के अधर-पर-अधर रख सुधा की सरिता का संगम करना। ❀ १०४

हे मैत्रेय! इन सब विलासों को खोज कण्डु मुनि ने की, और यह सब प्रथाएँ उन्हीं सर्वशास्त्रज्ञ की बुद्धि द्वारा स्थापित हुईं। हे तपस्वी, आप इस विषय को निश्चय मानिये। १०५

अस्तप्राय अर्द्धचन्द्र की शोभा संध्या-समय गिरि-शृंग पर अप्सरा को गोद में लेकर बैठते हुए मुनि गिरिजा को रिझानेवाले शंकर के सदृश लगते थे। १०६

चाँदनी से धुली हुई आधी रात में वेणु-निर्मित शय्या में क्रीड़ा से थककर लेटे मुनि के पास बैठ उनके पैर दाबती तो ज्ञानी मुनि की शोभा शेषशायी विष्णु की शोभा को भी भुलाने लगी। १०७

प्रभाते लज्जिता अप्सरा को पकड़ने के लिए दौड़ते ऋषि सरस्वती के पीछे दौड़नेवाले ब्रह्मा के पराक्रमी उत्साह की अद्वितीयता को छीनने लगा। १०८

इस प्रकार जब चार शताब्दियाँ व्यतीत हो गयीं तो उस अप्सरा की लम्बी अनुपस्थिति से क्रुद्ध इन्द्र ने दूत भेजकर प्रम्लोचा को देवलोक लौटने की आज्ञा दी। १०९

❀ इस स्थल पर प्रति फट गयी है पर ऐसा लगता है कि यदि सुरक्षित रूप में होती तो यहाँ जो कुछ होता उसका अस्थलित अनुवाद करनेवाले को तलवार की धार पर चलने और आधुनिक युग के प्रकाशक को शिष्टाचार की भावना से दारुण युद्ध करना पड़ता।

दूत उवाच:—हे प्रम्लोचे ! तेरे विरह से दुःखी और तेरे लौटने की राह देखते-देखते शतक्रतुका शरीर सूख गया है और मुख मलीन हो गया है। ११०

पर हे अप्सराओं में श्रेष्ठ ! जब से देवराज इन्द्र को मनुष्य के साथ तुम्हारे साहचर्य का समाचार मिला है तब से खिन्नता के साथ ही उनका क्रोध भी बढ़ गया है। १११

तब से शचीपति के नेत्र लाल हो गये हैं, भवें तन गयी हैं, हृदय ज़ोर से धड़कने लगा है और हाथ काँप रहा है। ११२

और अमरावती के नाथ ने आज्ञा दी है कि तुम देवलोक लौट चलो और इस आज्ञा का उल्लंघन करने से तो उनके भयंकर क्रोध का फल भोगोगी। ११३

पराशर उवाच:—इस प्रकार इन्द्र के क्रोध का विवरण दूत के मुख से सुनकर प्रम्लोचा थर-थर काँपने लगी और डर से मुनि को भी न छोड़ सकनेवाली वह स्त्री बोली। ११४

प्रम्लोचा उवाच:—हे देवदूत ! तू जाकर शचीपति को प्रसन्न करते हुए कहना कि प्रम्लोचा अप्सरा अभी-अभी आपकी सेवा में उपस्थित होती है। ११५

पराशर उवाच:—अप्सरा के ये शब्द सुनकर क्रोध से मुनि के रोयें खड़े हो गये और वे इस प्रकार ज़ोर से बोल उठे। ११६

कण्डु उवाच:—हे निर्लज्ज ! तू देवलोक को लौट जाना चाहती है, यह सुनकर मेरे क्रोध को आहुति मिली है। मैंने तेरे लिए अपना सर्वस्व तज दिया; तो भी तू मुझे छोड़ जाना चाहती है। इसलिए हे प्रम्लोचे ! मैं तुझे शाप देने के लिए तैयार हो गया हूँ। ११७

तू इस विचार से प्रसन्न हो रही होगी कि तू मुझे छोड़कर इन्द्र के पास चली जायगी; पर यहाँ से जाने से पहले तुझ जैसी कृतघ्नी को मैं जलाकर भस्म कर दूँगा। ११८

पराशर उवाच:—इस प्रकार सम्बोधित होने पर उस अप्सरा

स्त्री का स्वार्थी स्वभाव इस विचार में पड़ गया कि अब दो में-से किसके क्रोध का भाजन बने और कुछ भी निर्णय न कर सकने के कारण आँसू बहाकर रोने लगी। ११६

मुनि के डर से दुखी अप्सरा को इस प्रकार रोते देख तपस्वी मुनि के अन्तःकरण में दया उपजी। १२०

कण्डु उवाच:—हे अप्सरे! हमने रात-दिन आनन्द करते हुए कालक्षेप किया है। हे सुन्दरी! देवलोक में तो इन्द्र के अनेक साथी हैं—तू तो मेरी एकमात्र सहचरी है इसलिए मत जा। १२१

पराशर उवाच:—निर्णय करने में अशक्त अस्थिर मन की अप्सरा ने अन्ततः कण्डु मुनि के साथ ही रहने और इन्द्र के क्रोध की अवगणना करने का निश्चय किया। १२२

हे मैत्रेय! इस से स्त्री जाति के चारित्र्य की आपको पूरी जानकारी हो जायगी। हे तपोधन! इन्द्र के पास जाने को तैयार वह अप्सरा मुनि का अधःपतन साधने के लिए उन्हींके पास रही। १२३

उसके पश्चात् पहले की तरह ऋषि और अप्सरा एक-दूसरे के जीवन में समाये हुए स्वेच्छापूर्वक विहार करने लगे। १२४

मैत्रेय उवाच:—हे मुनिश्रेष्ठ! उसके पश्चात् उन दोनों का क्या हुआ वह मुझे कहो। यह वृत्तान्त सुनने के लिए हम आतुर हुए हैं। हे पराशर प्रसन्न हो। १२५

पराशर उवाच:—बहुत दिन बीतने के पश्चात् एक दिन मुनि अपनी झोंपड़ी से बड़ी शीघ्रता के साथ बाहर निकले। इस समय प्रम्लोचा ने पूछा "आप कहाँ जा रहे हैं?" १२६

कण्डु उवाच:—हे प्रिये! सूर्य अस्त होने जा रहे हैं इसलिए मुझे सन्ध्योपासना करनी चाहिए; तपस्वी अपना नित्यकर्म नहीं करता तो उसके कर्म का सदैव लोप हो जाता है, ऐसा शास्त्र का वचन है। १२७

पराशर उवाच :—कण्डु मुनि के यह वचन सुननेवाली उस

अप्सरा प्रम्लोचा के आलस-मदभरे नयन वैसे विकसित हो उठे जैसे सूर्य से कमल। वह हँसकर ऋषि से बोली।

प्रम्लोचा उवाच :—हे सर्वशास्त्रज्ञ ! क्या तुम्हें आज ही यह दिखायी दिया है कि सन्ध्या-काल निकट आगया है ? सच है भगवन् ! कितने वर्ष बीत जाने पर भी आपको ऐसा लगता है जैसे अभी एक ही दिन व्यतीत हुआ है। यह देखकर तो मुझे आश्चर्य होता है। १२९

कण्डु उवाच:—हे भद्रे ! आज प्रातःकाल ही तो तू नदी के तट पर आयी थी, और उसके पश्चात् तू मेरे आश्रम में आयी है और अब सन्ध्या हो रही है। फिर तू असत्य कहकर मेरा मज़ाक क्यों उड़ा रही है ? १३०

प्रम्लोचा उवाच:—हे ब्रह्मन् ! प्रातःकाल आयी, आपका यह वचन यथार्थ है, पर उस प्रातःकाल को आज सैकड़ों वर्ष बीत गये हैं। हे मुनि ! प्रेम के उल्लास में सैकड़ों वर्ष क्षणभर के समान लगते हैं। १३१

पराशर उवाच:—उस अप्सरा को इस प्रकार बोलते सुनकर तपोधन मुनि के हृदय में भय उत्पन्न हुआ और नारी के पापपूर्ण विषम-सुख में वर्षों व्यतीत करके उन्होंने अपने कर्म का लोप कर दिया, ऐसा ज्ञान उन्हें होने लगा। १३२

कण्डु उवाच :—असत्य बोलना जिनका स्वभाव है ऐसी हे स्त्री ! क्या तू सच कहती है ? कितने वर्षों से मैं कर्म-लोपी हो गया हूँ ? मुझे तो लगता है कि मैं केवल एक ही दिन रहा हूँ। १३३

पराशर उवाच:—मुनि के ऐसे वचन सुनकर मुनि के पास रहे या उन्हें छोड़ जाय ऐसे भय से व्यथित और झूठ बोलने पर मुनि शाप देंगे इस भय से सत्यवक्ता अप्सरा हाथ जोड़कर इस प्रकार बोली। १३४

प्रम्लोचा उवाच:—भगवन् ! नौ सौ सत्तासी वर्ष, छः मास, तीन दिन आपने मेरे साथ विहार करते हुए व्यतीत किये हैं। अन्त में मुझ

पर-से प्रेम कम होने के कारण आपको समय का भान हुआ है। प्रेमियों को समय का भान नहीं होता। १३५

पराशर उवाचः—जिनकी कर्त्तव्यपरायणता सतेज हुई है और जिन्हें स्त्री-जाति की अधमता का ज्ञान हुआ है ऐसे तपस्वी "मुझे धिक्कार है—धिक्कार है" कहकर अपनी निन्दा करने लगे।

कण्डु उवाचः—हे कपटी! क्या मुझे समय का भान नहीं रहा? क्या मैंने सैंकड़ों वर्ष तक कर्म का लोप कर दिया? मैंने यह सब तेरे लिए किया इसलिए तुझे भी धिक्कार है। १३७

मेरी तपश्चर्या नष्ट हुई। ब्रह्मवादी का धन और विवेक नष्ट हुआ। मुझमें मोह उपजाने के लिए तुझे किसने पैदा किया होगा? १३८

क्षुधा, तृष्णा, शोक, मोह, जरा और मृत्यु ये छः ऊर्मियों का अतिक्रमण करनेवाला मैं अपने मन को वश में कर परब्रह्म का मार्ग ले रहा था, परन्तु धिक्कार है तुझे कि मेरे-जैसे शुद्ध-हृदयवाले तपस्वी को इस मार्ग से विमुख किया। १३९

पराशर उवाचः—इस प्रकार मुनि के वचन सुनकर भय से किन्तु अपने कपट को कभी न छोड़नेवाली अप्सरा ने काँपते हुए आँखों में आँसू भरकर कहा। १४०

प्रम्लोचा उवाचः—हे भगवन्! मैंने क्या अपराध किया कि आप ऐसा क्रोध कर रहे हैं? आपके आग्रह से और आपका दुःख भुलाने के लिए ही तो मैंने आपके साथ विचरण किया है, आपको इस एकाकीपन में दुःख न हो इसलिए मैंने अपने घर और स्वजनों का त्याग किया, और आपको प्रसन्न करने के लिए क्रुद्ध देवराज इन्द्र की भी अवगणना कर दी। १४१

हे ब्रह्मन्! इन्द्रियों के दमन से या ब्रह्ममार्ग के आचरण से जैसा आनन्द नहीं मिला उससे अनेक गुना अधिक मेरे सहचार से आपको प्राप्त हुआ है। १४२

आपके लिए मैंने अपना सर्वस्व त्याग दिया, पर तुम तो मेरे लिए

नहीं पर मेरे संग से होनेवाले आनन्द के लिए दुखमय तपश्चर्या का परित्याग किया। हे मुनि ! उसमें मेरा क्या दोष है ?१४३

अपने स्वजनों से बिछुड़ी पड़ी हुई और इन्द्र द्वारा बहिष्कृत मैं निराधार और सगर्भा हूँ, सो अब कहाँ जाऊँ ? १४४

पराशर उवाचः—अमृतभाषिणी अप्सरा ने इस प्रकार का कपट-वचन इसलिए कहा कि मुनि किसी भी प्रकार उसे रख लें। १४५

कण्डु उवाचः—हे दुष्ट ! नरक-ग्राम के मार्ग जैसे तुम्हारे साथ से वेद-विद्या की प्राप्ति में साधनभूत मेरा ब्रह्मचर्यादि व्रत नष्ट हुआ है, फिर भी तू इस प्रकार का धृष्ट सम्भाषण करती है। १४६

तूने मेरे सारे तप का नाश कर डाला है, इससे तू केवल अकल्याण रूपी भयंकर मोह-मंजूषा है। तुझे अनेकानेक धिक्कार है। १४७

स्त्री से अज्ञात मन को यह क्या पता है कि नारी इतनी कपटी और दुष्ट है ? और उसकी संगत से मेरे-जैसे तपोनिधि भी इतनी अधमता को प्राप्त होते हैं ? १४८

हे स्त्री ! मेरे जैसे तपस्वी के साथ प्रगाढ़ सम्बन्ध से पुनीत बनी तुझको मैं अपने क्रोधानल में भस्म नहीं करता, क्योंकि सज्जन के साथ सात पग भी चले तो वह उसका मित्र हो जाता है; तू तो बहुत वर्षों तक साथ रही है। १४९

हे पापिनी ! मुझे तेरी या तेरे गर्भ की परवाह नहीं है। तेरी जहाँ जाने की इच्छा हो वहाँ जा। तूने अपने हाव-भाव, रूप और चेष्टा से मेरा बड़ा अकल्याण किया है। १५०

पर हे पापिनी ! तेरे गर्भ से तेरे जैसी अधम और पापिनी स्त्री की उत्पत्ति होगी, ऐसा मैं अपने ज्ञान-चक्षु से देख रहा हूँ, इसलिए भविष्य की प्रजा के उद्धार के लिए मैं उसे सावधान करता हूँ। १५१

पराशर उवाचः—कर्म और स्त्री-स्वभाव का पूरा ज्ञान प्राप्त किये हुए मुनि स्त्रियों को इस प्रकार शाप देने लगे। १५१

कण्डु उवाचः—जहाँ-जहाँ स्त्री होगी वहाँ-वहाँ नरक का द्वार खुला रहेगा, विनाश होगा और बुद्धि नष्ट होगी। १२३

जहाँ स्त्री का सहवास होगा वहाँ से संयम चला जायगा। जहाँ स्त्री पर प्रीति होगी वहां से ब्रह्मचर्य चला जायगा। जहाँ स्त्री सेवा करेगी वहाँ देहदमन, नीति और व्रत का विनाश होगा, जहाँ स्त्री की हँसी सुनायी देगी वहाँ से ब्रह्म-ज्ञान अदृश्य हो जायगा। १२४

जिस आत्मा को ब्रह्ममय होकर रहना हो उसका जन्म ही नहीं होना चाहिए, क्योंकि स्त्री बिना जन्म हो ही नहीं सकता, और जिसको जन्म धारण करके शुद्ध रहना हो उसे सदेह आनन्द की आशा नहीं रखनी चाहिए, कारण यह है कि स्त्री सहज ही क्षणिक आनन्द दे सकती है।१२५

जिसे ब्रह्मविद्या प्राप्त करनी हो, जिसे महान् कार्यारम्भ करना हो, जिसे ज्ञान और धर्म का प्रचार करना हो उसे स्त्री का संग नहीं करना चाहिए, और हो भी जाय तो वह रुचिकर है, ऐसा कभी स्वीकार नहीं करना चाहिए। १२६

पराशर उवाचः—हे मैत्रेय ! इस प्रकार शाप देकर परम कृपालु कण्डु मुनि ने उस कपटी अप्सरा को चले जाने की आज्ञा दी। १२७

ऋषि के उग्र शाप से संत्रस्त और अपने प्रयोजन में निष्फल होकर निराश प्रम्लोचा निराधार बन निश्वास-पर-निश्वास फेंकने लगी। १२८

बहुत वर्षों से प्रिय बना हुआ आश्रम छोड़ते हुए मुनि द्वारा तिरस्कृत अप्सरा का हृदय फटने लगा। १२९

वह आश्रम से जाने लगी तो जिस-जिस जगह उसकी दृष्टि पड़ती वहाँ-वहाँ के संस्मरण उसके मन में ताज़े होने लगे और उसकी आँखों से आँसू बह चले। १६०

मैत्रेय उवाचः—हे पराशर ! फिर मुनि द्वारा तिरस्कृत प्रम्लोचा का क्या हुआ वह हमें कहो जिससे हमारी जिज्ञासा शान्त हो। १६१

पराशर उवाचः—प्रम्लोचा की कथा ध्यानपूर्वक सुनो। हे मैत्रेय! मुनि से इस प्रकार तिरस्कृत होकर वह अप्सरा स्वर्ग में जाने के लिए अन्तरिक्ष मार्ग से गमन करने लगी। १६२

दया उत्पन्न करके अपना कार्य-साधन करना जिसका स्वभाव है ऐसी वह अप्सरा आहें भरकर दुःख का भाव प्रदर्शित कर चारों ओर देखने लगी। १६३

स्त्रियों के स्वभाव से अपरिचित और कण्डु मुनि की महत्ता परखने में अशक्त जड़ सृष्टि में उस अप्सरा को इस प्रकार निःश्वास फेंकते देख आर्द्रता आ गयी। १६४

उस कपटी अप्सरा का आक्रन्दन सुन सकने के कारण और ऋषि के क्रोध के निमित्त भयव्याकुल होकर आकाश में बादल छा गये। १६५

वायु एकत्रित हो गया, उसके मन्द और खेदयुक्त संचालन से दसों दिशाएँ शोकपूर्ण हो उठीं और वेग से बहती गोमती दयार्द्र हृदय की व्यथा का अनुभव करती हुई क्षणभर को रुक गयी। १६६

अप्सरा ज्यों-ज्यों अन्तरिक्ष में घुसने लगी त्यों-त्यों भय से उसके शरीर में ऋषि द्वारा स्थापित गर्भ पसीने की राह बाहर निकलने लगा। १६७

उस गर्भ की विन्दुओं को आर्द्र पल्लवकरांगुलि से वृक्षों ने बचाया और दुःखिनी की सहायता करने में तत्पर वायु ने उन विन्दुओं को एकत्रित किया। १६८

आर्द्रता जिसका परम लक्षण है, ऐसे सोम ने अपनी अमृतमय किरणों से गर्भ का पोषण किया और इस प्रकार वृक्षाग्र के गर्भाशय में से मारिषा नाम की अपूर्व कन्या उत्पन्न हुई। १६९

सोम ने इस वार्क्षेयी मारिषा को दस प्रचेताओं से ब्याह दिया, और उनसे दक्ष प्रजापति का जन्म हुआ जो ब्रह्मा के पुत्र हुए। १७०

हे मैत्रेय! स्त्री की अधमता को जिसने समझा है और स्त्री का जिसने त्याग किया है ऐसे महात्मा कण्डु मुनि सृष्टि के एकाकी भोक्ता

बनकर निरंकुशतापूर्वक जप, तप, शम, दम से यह भव मृतवत् हो गया। १७१

हे मैत्रेय! संसार का सुख सभी त्यागी मृतकों के समान है। ज्ञानी जीता है और उससे ही भावी भव को सुख मिलता है, ऐसा वेद-विदों का प्रमाण है। १७२

इस प्रकार सभी सुखों का त्याग कर प्रम्लोचा के सहचर के स्मरण रूपी विकार को भी वश में करके, तप से शरीर सुखाते हुए उस मुनि का अन्त में विष्णुलोक में वास हुआ। १७३

हे मैत्रेय! इस प्रकार ब्रह्मचर्य के आत्म प्रतिपादक, स्त्री-द्वेषी और मुनियों में श्रेष्ठ कण्डु मुनि का आख्यान मैंने आपको श्रवण कराया। इस आख्यान का रहस्य मैं थोड़े में कहता हूँ सो सुनना। १७४

सभी जीव स्त्री से ही उत्पन्न होते हैं। यह सभी क्षणिक आनन्द उसीके सहचार से उत्पन्न होते हैं। स्त्री से ही जीवन है, ऐसा विबुध कह गये हैं। १७५

इसलिए ब्रह्म को प्राप्त करनेवाला, तप को अपनानेवाले ज्ञानी इस देह को ही मृत्यु-समान मानकर स्त्रियों का सदा त्याग करना इष्ट मानते हैं। १७६

इति श्री विष्णुपुराणे प्रथम अंशे, पंचदश अध्याय अन्तर्गत कण्डु आख्यान सम्पूर्ण।

भावी पत्रकारों के लिए

श्रीमान् भाई रायपुरा ने सम्पादक-अंक के लिए लिखने का निमंत्रण भेजा। उनको इन्कार तो किया नहीं जा सकता, और लिखूँ क्या यह सूझता नहीं। सम्पादक-अंक कैसा हो सकता है? 'स्वदेशे पूज्यते राजा' वाली बात होती है कि नहीं? प्रत्येक सम्पादक अपने पत्र का राजा ही तो होता है? और सबको जमा करने से क्या लाभ? नवग्रह एकत्रित हों और जिस परिणाम पर पहुँचें उसका कुछ फल तो होता ही है न? ऐसे ही विचारों के चक्कर में क्या लिखा जाय, यह नहीं सूझता।

और कुछ मौलिक विचार भी तो होता है। मनुष्य सम्पादक क्यों बनता है? कितने ही यह समझते हैं कि ईश्वर ने उन्हें ही ख़ास मंत्र लेकर पैदा किया है—इसलिए सम्पादक बनकर उस मंत्र का प्रचार करने के लिए वे सम्पादक-पद ग्रहण करते हैं। कितनों ही को अपना लेख पत्रों में देखने की इच्छा होती है। कितनों ही को मित्रों की मदद करनी होती है, और शत्रु को लज्जित करना होता है। कितनों ही को उदीयमान लेखकों को लांछित करने की आकांक्षा होती है। कितनों ही को बड़े लेखक के साथ दोस्ती गाँठने की इच्छा होती है। कितनों ही को ऐसा लगता है कि उनके बिना साहित्य या जन-जीवन सूना हो जाता है। कितनों ही को ऐसा लगता है कि विज्ञापन देने वालों का उनके बिना काम नहीं चलेगा। कितनों ही को धन कमाने का मन

होता है और कितनों ही को पैसा बिगाड़ने की लालसा होती है।

इन सबका वर्गीकरण वैज्ञानिक दृष्टि से किया जा सकता है। बायोलाजी (वनस्पति-शास्त्र) और जुओलाजी (प्राणि-शास्त्र) के समान सम्पादकलाजी—सम्पादन-शास्त्र की विशेष आवश्यकता है और जबतक अनेक सम्पादन-शास्त्र का सतत अभ्यास करनेवाले इस मानव-जन्तु का प्रकार-निश्चय नहीं हो जाता तबतक ज्ञान के इस महान् विषय का संस्कार होने से रह जाने का भय रहता है। अब यहाँ इसकी कुछ थोड़ी-सी रूपरेखा दे देना व्यर्थ नहीं होगा।

सम्पादक दो प्रकार के होते हैं—(१) उच्च और (२) नीच।

(१) उच्च श्रेणी का सम्पादक अपने को ईश्वरादत्त सत्ता का अधिकारी मानता है। उसकी अपनी लेखनी में, बुद्धिमत्ता में, विद्वत्ता में, विवेक में और सम्पूर्णता में श्रद्धा होती है। प्रत्येक विषय के प्रत्येक लेखक उसका अपना ही अभिप्राय ब्रह्मवाक्य होता है, ऐसा वह समझता है।

(२) निम्न-श्रेणी के सम्पादक यह मानते हैं कि उनकी सेवा से दुनिया का बेड़ा पार हो गया है। उनकी दुनिया का और खासकर अपने पाठकों की अल्पबुद्धि, अज्ञान, अशक्ति और जड़ता का उन्हें तीव्र भान होता है। प्रत्येक प्रश्न बिना उनकी सलाह लिए अनिश्चित ही रह जाता है, इसका उन्हें सदा ज्ञान रहता है।

उच्चश्रेणी के सम्पादक में मिज़ाज बहुत होता है; निम्नश्रेणी के सम्पादक में अहंकार-भाव का कोई पार नहीं होता। वह सभी के लेखों के प्रति तिरस्कार-भावना रखता है। निम्नश्रेणी का सम्पादक उनकी ओर माया-भरी मेहरबानी से देखता है। उच्च-सम्पादक पाठकों को निर्बुद्धि गँवार समझता है। निम्नश्रेणी का सम्पादक अपने पाठकों को भोला और कान का कच्चा समझता है।

दोनों प्रकार के सम्पादकों के मन में दो प्रकार की दुनिया होती है—अच्छी और बुरी; और दो प्रकार के मन्तव्य होते हैं—सच्चे और

झूठे। उनके पत्र के लाभ में हो सो तो सच्ची दुनिया है और बाकी सब झूठ।

लेख के दृष्टि-विन्दु से सम्पादक तीन प्रकार के होते हैं—

(१) जो लेखक की अवगणना करता है।

(२) जो लेखक के साथ सहचार करता है।

(३) जो लेखक की खुशामद करता है।

जो लेखक की अवगणना करता है उसे जितने चाहे लेख मिलते हैं। जो लेखक के साथ सहचार रखता है उसे बड़ी कठिनाई से लेख मिलते हैं। पहला सम्पादक अप्रिय होता है। दूसरे सम्पादक को कोई किसी हिसाब में नहीं गिनता और तीसरे सम्पादक की वाह-वाह होती है। इस विचित्रता में कैसे महान नियम छिपे हैं यह विषय भावी-सम्पादन-शास्त्रियों की खोज का विषय है।

सम्पादक की एक श्रेणी तो वाचक के विरुद्ध जाती है, दूसरी श्रेणी उन्हें रिझाने के लिए तप करती है। तीसरे सम्पादक अपने को मदारी समझते हैं और वाचक-वृन्द को सहस्र शीशवाला रीछ समझते हैं। चौथे अपने पाठकों को छोटी पाठशाला के विद्यार्थी समझते हैं और अपने को सातवीं जमाअत के शिक्षक मानते हैं।

इसके उपरान्त सम्पादकों के स्वभाव, विशेषता, निर्णय, दृष्टि-विन्दु आदि अनेक प्रकार के विषयों पर विवेचन किया जा सकता है। डर केवल इस बात का लगता है कि मैं अधिक लिखूँ तो भावी सम्पादकों को लिखने के लिए क्या रह जायगा? अब तो केवल यही हो सकता है कि जिस प्रकार उगते बाग में विज्ञान-शास्त्री प्रत्येक पेड़ पर टिकट लगाता है, उसी प्रकार गाँधीजी से लेकर स्कूल-बोर्डिङ्ग के चौबेजी पत्र के सम्पादक गाँडाभाई तक सभी पर टिकट लगा दिया जाय और अपने टिकट तैयार करने का काम प्रत्येक सम्पादक को सौंप दिया जाय। टिकट तैयार करने का काम सरल हो; इसलिए नीचे की तालिका क्षमा-याचनापूर्वक तैयार करता हूँ—

१—प्रकार—उच्च या नीच ।

२—लेखक के प्रति दृष्टि ।

३—पाठक के प्रति दृष्टि ।

४—सम्पादक बनने का उद्देश्य ।

५—आदि, आदि ।

विशेष टिप्पणी—टिकट भरनेवाले शर्म के मारे अपनी ओर अन्याय न करें ।

प्रत्येक सम्पादक पृथ्वी-प्रलय के इरादे से ही कार्य आरम्भ करता है । कुछ समय बीत जाने पर भी सागर में एक बिन्दु जल बढ़ता या घटता देखकर उसे आश्चर्य होता है, फिर वह मानव-जाति की कृतघ्नता के प्रति तिरस्कार प्रकट करता है, और फिर आत्मसन्तोषी बन प्रलय की ज़रा-भर भी पर्वाह नहीं करता या इच्छा नहीं रखता । पहले दोषार्थ वह अपनी दुनिया के सुधारने के लिए वह उत्सुक रहता है, और दूसरे के संसार को निर्लज्जतापूर्वक अपने आप सुधरने के लिए छोड़ देता है ।

सम्पादक के ज्ञान की कोई सीमा नहीं हो सकती । मंगल-ग्रह के पागल कुत्तों तक को मारने की युक्ति वह जानता है, ऐसा पाठक को लगना चाहिए । यदि पाठक को ऐसा न लगे तो सम्पादक ज्ञानी नहीं है । जब तक यह कला हाथ में न हो तब तक सम्पादक-पद की जोखिम उठानी योग्य नहीं है, यह बात निर्विवाद लगती है ।

सम्पादक को एक ही वस्तु की आवश्यकता होती है और वह है रद्दी पत्रों की डाक की । डाक अगर बड़ी न हो तो उदीयमान लेखकों, कवियों और विद्वत्ता के अजीर्ण से घबराये बुद्धिमानों की कृतियों से सम्पादक गुंगलाभाई भरते हैं और व्यर्थ के लेखों के भार से पृथ्वी के रसातल चले जाने की सम्भावना नहीं रहती ।

सम्पादक में एक गुण होना चाहिए । उसने भूलकर कल क्या लिखा था, यह उसे आज याद नहीं रहना चाहिए । यदि वह इस

गुण का विकास न कर सके तो नालायक बनता है, और अपने तथा पाठकों पर दुस्सह खोज का बोझ डाल देता है ।

सम्पादकगण व्यक्तिगत स्वतंत्रता में विश्वास रखते हैं—पर अपनी नहीं, दूसरों की । वे मनुष्य-मात्र को अपना बन्धु मानते हैं—पर अपने बड़े भाई को कुटुम्ब के श्रेष्ठजन को घर का मालिक बना चुकने के बाद ही । सम्पादकगण आपस में समानता कैसे रख सकते हैं यह बात उनकी समझ में नहीं आती; क्योंकि ऐसा प्रतीत होता है है कि प्रत्येक का अपना सिंहासन तो अपनी अभेद्य सम्पूर्णता के पाये पर रचा हुआ होता है ।

कितने ही ऐसे लोग जो सम्पादक होने के लिए ही पैदा हुए हैं, ऐसा मानते हैं कि अबतक राज्यतन्त्र, एकशासन, वर्गशासन और लोकशासन पर चलता है, पर भविष्य में सम्पादकशासन पर ही सारे राज्यतंत्र चलेंगे, और इसके बाद देश की रचना भौगोलिक या राष्ट्रीय एकता पर होने के बदले सम्पादकों के शासन पर हुआ करेगी । भारतीय या अँग्रेजी (बृटिश) विभाग के बदले लोग 'शारदीय' 'नव-जीवनीय' अथवा 'युगधर्मीय' नाम के विभाग खोलेंगे । उस समय राष्ट्रीय अस्मिता ऐसे ही विभागों में खिलेगी और विग्रह भी ऐसे ही समूहों के बीच होगा । और जो एक से अधिक सम्पादकों की प्रेरणा से जीवित होगा उसे लोग 'अराष्ट्रीय' या 'नगण्य' समझेंगे ।

सम्पादकों की वृद्धि 'एमीबा' नामक जन्तु के ढंग से होती है । 'एमीबा' नामक जीव की अभिवृद्धि मादा से नहीं होती । प्रत्येक 'एमीबा' का योग्य समय पर एक से दो टुकड़े हो जाते हैं और वह एक जंतु से दो बनकर फिरने लगता है । फिर दो से चार हो जाते हैं और इस प्रकार गोत्र बढ़ता हा जाता है । उसी प्रकार सम्पादकों की अभिवृद्धि होती है और उनका विनाश भी इसी प्रकार होगा, ऐसा कितने ही विज्ञानशास्त्री मानते हैं । इस प्रकार एक में-से दो होते-होते प्रत्येक सम्पादक 'एकोहं बहुस्यामि' होते जाते है, और चालू

ज़माने में ही कोई ऐसा समय आजायगा तब तीन रुपये पाँच आने छः पाई में चौबेजी अखबार की हज़ारों प्रतियाँ प्रतिदिन तैयार हो सकेंगी। इससे प्रत्येक पाठक लेखक बन जायगा और हर लेखक सम्पादक हो जायगा। प्रतिदिन प्रत्येक सम्पादक अपने पत्र की हजारों प्रतियाँ छपवाकर निकाला करेगा। यह क्रिया विज्ञान की खोज से दिन-प्रतिदिन तेज़ी से चलेगी। प्रत्येक गाँव और हर घर में लोग अपने-अपने पत्र निकालेंगे और सम्पादकों की अभिवृद्धि उस जन्तु से भी अधिक बढ़ जायगी। पीछे पाठकों की समाप्ति हो जायगी और केवल सम्पादक ही रह जायँगे। अपने पत्र के लिए खुद लेख लिख, छाप और प्रकाशित कर स्वयं ही उसके पाठक बनेंगे और अधिकाँश पत्र में तो इस प्रकार के समाचार पढ़ने को मिलेंगे—"सम्पादक-सेठानी रसोइया को 'रसोई-जीवन' की १२४०६ के अंक द्वारा भोजन बनाने का आदेश करेंगी, और रसोइया-सम्पादक पाक विद्या के ३४६२१ अंक द्वारा खाना खाने का समय हो गया है, इसकी सूचना देगा। फिर अन्त में मनुष्य-जाति सम्पादक जाति के नाम से विख्यात होगी। धर्म का स्वरूप और 'अहं ब्रह्मास्मि' के बदले 'अहं सम्पादकास्मि' का जाप होगा। वैज्ञानिकों को काग़ज़ और मुद्रणयंत्र बनाने के सिवा और कोई धन्धा नहीं रहेगा।

अन्त में सम्पादक-पद पर पहुंची हुई सारी जनता कागज और यंत्र कूटते-कूटते निर्वीय और हताश हो जायगी, और सम्पादक आत्मबल को दबाने में भग्नहृदय हो जायेंगे, और आखिर 'तन्त्री-नाश' नाम का विक्रम-संवत्सर आयेगा जब सिंहराशि का शनि होगा। तब सम्पादक टूटे यन्त्र और रद्दी कागज के ढेर पर सूजी आँखों से सम्पादकीय अश्रुपात करते हुए यह शरीर छोड़कर 'असम्पादकीय' बनी दुनियाँ का त्याग करेगा।

वैकुण्ठ से वृन्दावन

वैकुण्ठ में सूर्यनारायण प्रसन्नतापूर्वक तप रहे थे।

वैकुण्ठ के उद्यान में एक स्वर्गीय पीपल के नीचे रत्न के आसन पर लक्ष्मीजी बैठी थीं। सृष्टि के अक्षुण्ण भण्डारों के स्वामी की स्त्री को शोभा देनेवाला वह आसन स्वर्णमय था। एक अण्डा-जैसी मोती की नथ उनकी नाक में झूल रही थी।

सामने सरस्वतीजी तिरस्कार से वीणा लिये काष्ठवत् खड़ी थीं। ऐसा प्रतीत होता था कि धनाढ्य पड़ोसिन के पास कोई उसकी पुरानी प्रतिस्पर्द्धी आ गयी हो। हीरा जड़े हुए उस छोटे आसन पर पीपल की डालों से रस झर रहा था।

"क्यों," गर्व से लक्ष्मी ने कहा—"क्या अब भी तुम्हारे कुछ भक्त रह गये हैं?"

भग्नगौरव सरस्वती ने उत्तर दिया—"हमें कौन पूछता है? आजकल तो जिसका घरवाला (पुरुष) है वही गौरवशालिनी है।"

"कुछ पता है," लक्ष्मी ने दर्प के साथ नाक का मोती हिलाते हुए कहा—"एकदम नया समाचार है कि तुम्हारे एक लाख, अट्ठाईस हज़ार, तीन सौ नौ भक्तों ने अब मेरी सेवा करने का व्रत ले लिया है।"

"मुझे इस ताज़े समाचार का पता है," सरस्वतीजी ने तिरस्कार-पूर्वक कहा—"मैं तो अब दूसरे ही क्षण अपूज्य हो जानेवाली हूँ।

मेरा नाम मुँह पर रखनेवाले भी तो अन्दर से तुम्हारा ही नाम रटते रहते हैं। मुझे सन्तोष इतना ही है—"

"क्या ?"

"कि मेरी पूजा उठ जाने के पश्चात् संसार में जीवित रहने के योग्य कुछ न रह जायगा।"

"ओ हो !" भगवान् विष्णु की पटरानी ने कहा—"तुमने भी अभिमान करना सीख लिया है!"

सरस्वतीजी ने क्रोध से ओठ दबाते हुए कहा—"अब तो मेरे पास यही एक वस्तु रह गयी है न ?"

इस प्रकार की आवाज़ हुई जैसे कोई बड़ा हवाईजहाज़ शोर करता हुआ आता हो। आकाश में बादल-से छा गये। गरुड़जी उड़ते-उड़ते आये, और अगासी पर खड़े हो गये, और उनके स्वर्ण-जैसे चमकते पंख पर-से भगवान् उतरे।

विष्णु भगवान् की भ्रूभंगी क्रोधयुक्त थी। जिस हाथ से उन्होंने गदा थाम रखी थी वह काँप रहा था। कमल-नेत्रों की रेखाएँ लाल हो रही थीं। राधा के लिए तरसते ओठ क्रोध से भिंच रहे थे।

लक्ष्मीजी ने उधर दृष्टि डाली और त्रिलोकाधिपति की स्त्री को शोभा देनेवाली असंलग्नता से यह क्रोध देखती रहीं। बेघरवाले के क्रोध से घबराने-जैसी अल्पता का अनुभव करनेवाली मूर्खा नहीं थीं।

"त्रिलोकीनाथ," सरस्वती ने तनिक ठठोली के साथ पूछा—"आज आप कुछ गरम क्यों लग रहे हैं ?"

मुख के मौन और एकाग्र दृष्टि से भगवान् इस प्रकार आगे बढ़े जैसे राजा बलि ने तीनों लोक नापने के लिए तीन डगें भरी थीं। फिर पंचजन्य मुँह से लगाकर शंखनाद किया।

गरुड़, जो छुट्टी पाकर अपने अस्तबल में गप्प मारने चले गये थे, तुरन्त हाथ जोड़कर भगवान् के पास आ उपस्थित हुए। वृद्ध वैनतेय के पंख कुछ ढीले पड़ गये दिखायी देते थे। बोले—"आज्ञा कृपानाथ !"

भगवान्—"गरुड़ !"

गरुड़—"अन्नदाता !"

"राधा को भेजो तो।"

लक्ष्मीजी तिरस्कार से हँसी। उस हँसी से भगवान् के नेत्रों की रेखाएँ और भी लोहित-वर्ण हो उठीं। सुदर्शन को सँभालनेवाला हाथ काँप रहा था।

"क्या होने जा रहा है ?" त्रिभुवननाथ उबल पड़े—"घमण्डी स्त्री के सामने किसीकी चली है ?"

"क्या है, त्रिभुवननाथ ?" सरस्वतीजी ने पूछा।

"क्या क्या ? तू तो एकदम निकम्मी है—उस राधा और तारा से भी निकम्मी, और यह," उन्होंने लक्ष्मीजी की ओर घुड़ककर कहा—"मेरी सृष्टि को भूखों मार डालने के लिए बैठी है।"

"अहं—से ही यह क्रोध है क्या ?" लक्ष्मी ने मिठास-भरे शब्दों में कहा।

"मैंने सृष्टि-रचना की, उसी समय प्रद्युम्न की माता को स्पष्ट कह दिया था कि सहस्रों मनुष्य इस सरस्वती के होंगे और एक राधा का पर (लक्ष्मी को लक्ष्यकर) इसके लोभ का अन्त नहीं है।"

लक्ष्मीजी ने गर्व से नाक चढ़ायी—"मैं कोई तुम्हारे बल पर नहीं कूदती।"

"इसीलिए तो मुझे देखते रहना पड़ता है न ? पर अब क्या होने जा रहा है ? अब तो सहस्र-में-सहस्र ही लक्ष्मी की सेवा करते हैं।"

"मैं वही कह रही थी न—" सरस्वतीजी ने लक्ष्मी की ओर तिरस्कारपूर्वक दृष्टि से देखकर द्वेषी पड़ोसिन की सुलभ मिठास से कहा—"थोड़े दिनों में तो मैं अपूज्य ही हो जानेवाली हूँ।"

"कहते लज्जा नहीं आती ?" क्रोधपूर्वक वैकुण्ठनाथ ने कहा—"गरुड़ कहाँ गया ?"

उन्होंने फिर पंचजन्य को फूँक लगायी और गरुड़ पंजा जोड़े आ उपस्थित हुए।

"कहाँ गया था ?"

"राधाजी ने कहा कि आती हूँ।"

"चलो यह वैजयन्ती सँभालो—ठिकाने से रखना।" गले में कुछ भार लगने के कारण भगवान् ने माला निकाल डाली।

"जी !"

इतने में नूपुरों की झनकार सुनायी दी और षोड़शवर्षीया राधिकाजी हँसते हुए आ उपस्थित हुईं। वैकुण्ठ में भी वसन्तऋतु आ गयी।

"अब यह सब मामला आप अकेले ही करें। मैं जाती हूँ।" लक्ष्मीजी मचककर उठीं और प्रस्थान करते हुए बोलीं।

भगवान् क्रोधपूर्वक देखते रहे और जगज्जननी अहंकारपूर्वक चली गयीं।

"कैसे हो ?" राधाजी ने हँसकर पूछा—और उनके नेत्र नाच उठे।

"कैसे क्या ? सिर फोड़ूँ।" वैजयन्ती उतारने के बाद पीताम्बर से पसीना पोंछते हुए भगवान् ने कहा।

"कुछ कहो तो सही।"

"राधे ! मैं थक गया हूँ। ऐसा लगता है कि शिवजी भाई को कहकर इस सृष्टि का नाश करा दूँ।"

"करा दीजिए तब तो पीड़ा ही दूर हो जायगी।" सरस्वती एकदम बोल उठीं।

"अरे ऐसा भी कहीं होता है ?" राधिकाजी ने कहा—"फिर मेरे भक्तों का क्या होगा ?"

"तुम्हारा कोई भक्त रह भी गया है ?" सरस्वती ने आश्चर्यपूर्वक पूछा।"

"हमारे तो जितने-के-तितने ही बने हुए हैं।"

"तू तो मूर्ख है। लक्ष्मी पल-पल करके सृष्टि की स्वामिनी होती जा रही है!"

"वैकुण्ठनाथ, भूलते हो!" हँसते हुए मुक्ता-सी दन्तपंक्ति दिखाकर राधा ने कहा।

"कैसे?"

"जो लक्ष्मी का लाड़ला है वह मेरे लिए तरसता है, जो सरस्वती का भक्त है वह मुझे याद करता है—"

"हैं!"

"हाँ, और जो मेरा पूजक है वह तो मेरा है ही।"

"सचमुच! मैं नहीं मानता। लक्ष्मी पृथ्वी पर ही वैकुण्ठ बसा देती है। उसे कौन छोड़े?"

"गोपीजनवल्लभ! वह भले ही वैकुण्ठ बसाये। तुम भूल गये—वैकुण्ठ छोड़कर तुम वृन्दावन आये थे तब की बात?" राधिकाजी ने हँसकर कहा। उनके नयन फिर नाच उठे। वैकुण्ठनाथ के नेत्रों में भी हँसी दिखायी दी; फिर भी उन्होंने ठण्डी आह भरी।

"हा राधे! वृन्दावन-सम वन नहीं, और तारा के समान सखी नहीं।"

"तो जहाँ वृन्दावन मिल सके वहाँ वैकुण्ठ की किसे पर्वाह होगी?"

"राधे, तुम्हारे वचनों से मेरे हृदय में आनन्द का प्रसार होता है। सरस्वती मैया, तुम्हारे क्या विचार हैं?"

"इससे मुझे क्या? यह ले राधा के भक्त मेरी सहायता से काव्य और नाटकों के द्वारा अङ्गार प्रकट करते थे। अब टेलीफोन लग गया है—दो ही शब्दों में टप से प्रियतमा पर उद्‌गार प्रकट किया जाता है। मेरा तो कोई रहा ही नहीं।"

"देखो सरस्वती मौसी! ऐसा कहती हो? वह लाठी के ठाकुर मेरे भक्त होते हुए भी तुम्हारी सेवा में लगे रहे, यह बात भूल गयीं?"

"ऐसे कितने हुए हैं?"

"यह बात रहने दो," भगवान् ने कुछ दुखी होकर कहा—"तुम राधा, सच कहती हो या झूठ, यह देखना है—चलो।

"कहाँ ?"

"नीचे पृथ्वी पर।" हृषिकेश ने फिर पंचजन्य फूँक दिया। गरुड़जी आ उपस्थित हुए। उनका वृद्ध शरीर इतनी कठिन सेवा से काँप रहा था। "वैजयन्ती लाओ, तैयार हो जाओ।"

"जो आज्ञा !" कहकर गरुड़ अन्दर से वैजयन्ती माला लाये और उसे भगवान् ने धारण किया।

"चलो राधे, गरुड़ पर सवार हों।"

दोनों गरुड़ पर चढ़ गये।

"मैं भी आऊँ ?" सरस्वती ने पूछा।

"नहीं," विनोद करते हुए राधा ने कहा—"मैं और नन्दलाल—दो ही जायँगे। आप तो आखिर बालकुमारी हैं। कौन जाने हमसे मर्यादा-रक्षा हो सके या नहीं।" और हँस पड़ीं।

गरुड़ उड़ चले। हाँपते-हाँपते लक्ष्मीजी ने आकर पूछा—"राधा कहाँ गई ?"

"पृथ्वी पर, तुम्हारी पराजय देखने।"

"चारों अँगुली से शक्कर नहीं खायी जाती।" कहकर लक्ष्मीजी तिरस्कारपूर्वक चली गयीं।

"गरुड़ की पीठ पर राधा-कृष्ण विहार करने लगे। आकाश में गरुड़जी को उधर रुके रहने की आज्ञा वैकुण्ठनाथ ने दी।

"यह कौन-सा प्रदेश है ?" त्रैलोक्यनाथ ने नीचे सूक्ष्म दृष्टि डालकर पूछा—"मैं बहुत दिनों पर आया इसलिए याद नहीं रहा।"

"यह तो आपके यादवों का आनर्त है।"

"कितना बदल गया है, और यह क्या ? सभी मुहल्ले ही एक-एक नगर-जैसे बन गये हैं।"

"यह मोहिनी नगर है। महा आनर्त की राजधानी।"

"यह तो लक्ष्मी का मन्दिर है। यहीं से लक्ष्मी-भक्त उभरते हैं।"

"तुमको सर्वत्र लक्ष्मीजी ही दिखायी देती हैं, चलो तुम्हें दिखाऊँ गरुड़जी, यह जो तोपों-जैसी वस्तु दिखायी देती है वहाँ हमें उतारिये तो।"

गरुड़जी भूमि पर उतर पड़े और राधागोविन्द उनकी पीठ पर-से उतरे।

"आपको यहाँ विलम्ब होगा?" पक्षिराज ने पूछा।

"क्यों?" भगवान् ने पूछा।

"मुझे भूख लगी है और इन पहाड़ियों में एक-दो कोमल साँप दिखायी देते हैं।"

"यह बकवास है!" राधा ने हँसकर कहा।

"नहीं, ऐसा कहना पुराने कर्मचारियों के प्रति अत्याचार है।"

"होगा; अब हमें मानुषी दृष्टि से न दिखायी देनेवाला स्वरूप धारण कर लेना चाहिए।" राधाजी ने कहा।"

"अच्छा," कौतुकवश भगवान् ने कहा।

दोनों अदृश्य हो आगे चले।

एक रेवड़ीवाला बैठा था। दूसरा एक गँडेरीवाला बैठा था। उन दोनों को पीछे छोड़ दैवी डग भरते हुए वे आगे चल पड़े।

कुछ दूर जाकर दोनों एक गाड़ी के आगे खड़े हो गये। गाड़ी में एक गहनों से लदी स्त्री बैठी थी। वह अधिक वाचाल स्वभाव की नहीं प्रतीत होती थी। पास ही उसका एक चाहनेवाला खड़ा था। एक का मुँह समुद्र की ओर था, दूसरे का उसके विपरीत।

"देखो, यह लक्ष्मीजी का प्रताप," राधाजी ने कहा—"ये दोनों बीस वर्ष तक एक-दूसरे में लीन रहे।"

"पर अब तो ऐसा कुछ दिखायी नहीं देता।"

"दिखायी क्या दे? यह पहले मिस्टर आठ रुपये महीने की एक कोठरी में रहते थे और यह सेठानी खुद बर्तन माँजने का काम करती

थी। दोनों हार-थककर रात को एक-दूसरे के प्रेम का आनन्द लेते थे।"

"फिर ?"

"फिर क्या ? हमारी पटरानी प्रसन्न हुईं, इस आदमी ने बेहद धन कमाया और इस स्त्री को हीरा-मोती से लाद दिया। अब क्लब और पार्टी तथा जीमखाने के सिवाय किसी को दूसरे की पर्वाह नहीं रह गयी है।"

"मैं कहता था कि लक्ष्मी की जीत हो रही है।"

"गलत बात है, देखो।"

उस पुरुष ने स्त्री से कहा—"डियर, मैं क्लब में जाता हूँ।"

स्त्री ने तिरस्कारपूर्वक उत्तर दिया—"ऑल राइट (ठीक) जाओ, तो गड़बड़ नहीं करना। रतजगा करना पड़ता है।"

"और तुम्हारी ब्रिजपार्टी से रत जगा नहीं करना पड़ता ?" पुरुष ने कहा।

"तुम्हारे डान्सेज़ (नाच) जितना नहीं।" स्त्री ने मिज़ाज के साथ कहा।

भगवान् का मुँह सूख गया।

"तुम कहती हो कि ये प्रणयी थे।" उन्होंने राधा से कहा।

"थे और हैं। केवल लक्ष्मी ही आड़े आती हैं।"

"जा जा; बातें बनाती है।" भगवान् ने राधाजी से कहा।

"अच्छा; देखना है।" राधाजी ने कहा।

"क्या ?"

"देखो।" कहकर राधिकाजी ने भगवान् का सुदर्शन लेकर गाड़ी के पास डाल दिया। घोड़ा चौंक पड़ा; एक दौड़ती आ रही मोटर आ टकरायी और दूसरे ही क्षण वह रसिक महाशय चीख़ते हुए मोटर के नीचे आ गये।

"यह क्या कर रही हो ?" गोवर्द्धनधारी ने कहा।

"देखो तो सही।"

इस स्त्री ने देखा कि उसके पतिदेव बिलकुल पहियों के नीचे आ गये हैं तो वह अपनी सीट से उठ खड़ी हुई और साड़ी की कोर और पाउडर की पर्वाह न करके गाड़ी से कूदकर उसने लहू-लुहान पति को अपने हाथों में सँभाल लिया।

"अ र र र ! यह क्या किया ?"

"विजय दिलाने की यही रीति है।" राधिकाजी ने हँसकर कहा।

"किस प्रकार ?"

अब यह रसिक कद्रूप और मूर्ख बन जायगा—पैसा कमाने में अटकेगा और यह सेठानी पटरानी न रहकर प्राणयिनी रह जायगी। क्लब, जीमखाना छोड़कर दिन-रात वह इसकी सेवा करेगी और वह पुरुष नाच छोड़कर इस स्त्री के लिपट रहने में सुख पायेगा।

"अरी, वाह री मेरी राधा !"

"चलो, अब किसी और को मिलें।" थोड़ी दूर चलने पर बड़ी रोलस रायस (मोटर) में एक अधेड़ अवस्था का पुरुष बैठा था। वह एक मोटी सिगार पी रहा था।

"यह तो सच्चा लक्ष्मीभक्त है।" विष्णुजी ने कहा।

"इसने सारे जीवन में लक्ष्मी के अतिरिक्त और किसी की सेवा नहीं की है।"

"इस नगर में ऐसे कितने व्यक्ति होंगे ?"

"तुम यह मानते हो कि यह लक्ष्मीदास सचमुच लक्ष्मी की पूजा करता है ?"

"तो और क्या ? पैसे कमाने और खर्च करने के सिवा इसने और क्या किया है ?"

"ठीक, ठहरो। इसके पाकेट में इसकी डायरी है वह पढ़ देखें।" राधा-माधव दिव्यचक्षु (चश्मा) चढ़ाकर डायरी बाँचने लगे—

ता० ३१-१२-१९२६

"आज सड़सठ लाख पूरा हुआ। करोड़ कब पूरे होंगे ?.....आज

लड़की आयी थी रुपये माँगने। तानूबाई भी मोती के शेअर माँगती थी। मेरे पास तो सब रुपये ही लेने आते हैं। ठीक है पैसा है, नहीं तो मेरे पास काला कुत्ता भी न दीखता.....लड़की, तानूबाई, नौकर.....पर सभी पैसे के सम्बन्धी हैं। —मेरे लिए, बिना धन के मेरे लिए, तरसता तो कोई मिलेगा ही नहीं। कोई ऐसा नहीं है कि मुझे देखकर.....मेरे पैसे के लोभ बिना, हेतु बिना बुलाये.....ऐसा कोई मिलेगा? अरे राम, कोई नहीं मिलेगा।"

"राधा!" भगवान् ने कहा—"मुझे नहीं पता था कि तू इतनी जबर्दस्त है।"

"अब इस ओर देखो," समुद्र-तट पर बैठे एक खादीधारी की ओर इशारा करते हुए राधिकाजी ने कहा—"यह कौन है पहचानते हो?"

"नहीं।"

"यह बड़े तत्त्वज्ञानी हैं! अपना सारा जीवन सरस्वती के चरणों में अर्पित कर दिया है। इन्होंने सुकोमल स्त्री त्यागकर अडिग ब्रह्मचर्य धारण कर रखा है। इन्होंने धन-सम्पत्ति छोड़कर अपरिग्रह का व्रत ले रखा है।"

"तब तो अब भी सरस्वती के सेवक हैं।"

"तनिक ठहरो। यह उनका एक मित्र आ गया है। सुनो क्या कहता है?"

"ओ हो, पण्डितजी! क्या कह रहे हैं?"

"कुछ नहीं" पण्डितजी ने उत्तर दिया।

"मैं एक बात पूछने आया हूँ?"

"क्या?"

"आपके मतानुसार संसार के साहित्य में सुन्दर-से-सुन्दर पंक्ति कौन-सी है?"

"सुनना!" राधिकाजी ने मुरारी के कान में कहा।

"मुझे तो यह पद सबसे सरस लगता है—

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीम् तनोति।
इयमधिक मनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतिनाम् ॥१

"धत्तेरे की" कहकर भगवान् फिरे—"तू तो इसे बड़ा ब्रह्मचारी कह रही थी।"

"तुम्हारे-जैसा बाल ब्रह्मचारी!" राधिकाजी ने हँसकर कहा—"इसका शरीर और बुद्धि सरस्वती के चरणों में है। इसके अन्तःकरण की कल्पना मुझे ज्ञात है।"

"मुझे क्या पता कि तू सर्वव्यापिनी है।"

कुछ आगे बढ़कर वे खड़े हो गये। एक युवक बैठा था, उसका चेहरा चिन्ताग्रस्त था, उसकी आँख दूर क्षितिज पर थी।

"गोपाल!" राधाजी ने कहा—"इसे देखो।"

"हाँ," दिव्यचक्षु का उपयोग करते हुए भगवान् ने कहा—"यह ऐसा व्यापारी है जिसके प्रत्येक कारबार में-से पैसा झरता है—"

"हाँ, और जिसके प्रत्येक काव्य में-से सरस्वती का प्रसाद झरता है ऐसा भी।"

राधाजी ने हँसकर ऊपर देखा—"ओ हो! और उधर भी देखा?"

विष्णु भगवान् ने ऊपर देखा। अन्तरिक्ष में मयूर पर बैठी सरस्वतीजी नीचे उतरती दिखायी दे रही थीं।

"अरे! पर यह तो लक्ष्मी भी आ रही हैं। देखो उनका कमलासन आ रहा है।" विष्णुजी ने दूसरी ओर दिखा कर कहा।

---

१. कमल सेवार से लिपटा हो तो ही सुन्दर लगता है; चन्द्रमा का कलंक मलिन है; तो भी उसकी शोभा में वृद्धि करता है। वल्कल वसन पहनकर भी ये सुन्दरियाँ सुरम्य लगती हैं। मधुर आकृति का अलंकार रूप क्या नहीं है?

राधा खूब हसी। बोली—"निसर्गभिन्ना लक्ष्मी और सरस्वती ने उस युवक के लिए सन्धि की है।"

"क्यों ?"

"दोनों मिलकर मुझे हराना चाहती हैं इसलिए।"

"अब समझा," त्रैलोक्यनाथ ने कहा—"इसमें राधा अब तेरा कहाँ ठिकाना लगेगा ?"

"घबराते क्यों हो ? तनिक ऊपर दृष्टि डालो।" राधा ने अँगुली से इशारा करते हुए कहा। एक गाड़ी खड़ी हुई और एक युवती निकल कर उस युवक के पास आयी।

"देखो, उस युवक के मुँह की ओर देखो। उसकी आँखों में मेरी विजय दिखायी देती है या नहीं। ऊपर देखो लक्ष्मी और सरस्वती के मुख पर फैला हुआ भयंकर निश्चय तो देखो ! दोनों कैसी कद्रूपा-सी दिखाई देती हैं ?" राधाजी ने हँसकर कहा।

"देखो देखो, लक्ष्मीजी उस स्त्री की आत्मा में पैठ रही हैं। सुनो !"

वह युवती उस युवक के साथ बात कर रही थी।

"प्यारे, तुम यह बात छोड़ दो। तुम मुझे स्वीकार करोगे तो क्या होगा ?"

"क्या होनेवाला है ?"

"तब तो तुम्हें अपना धन्धा छोड़ना पड़ेगा।" युवती ने लक्ष्मीजी की प्रेरणा से कहा।

"यह तो मैंने पहले ही समझ रखा है।"

"पर तुम भाग्यवान् हो, और धनाढ्य होगे। तुममें किस बात की कमी है ?"

"तुम्हारी !" युवक ने हँसकर कहा।

"पर धन छोड़कर तुम कैसे रहोगे ? तुम्हारे सुन्दर, सुकुमार शरीर का क्या होगा।"

"तुम तो हो न।"

"धन बिना प्रतिष्ठा नहीं रहेगी; प्रतिष्ठा बिना मान कहाँ और मान बिना जीवन कुछ भी नहीं—"

"पगली कहीं की ! धन, प्रतिष्ठा और मान से कोई सुखी हुआ है ? ऐसा होता तो धनाढ्य लोग जहर क्यों खाते ! प्रतिष्ठावाले हाय-हाय क्यों करते—"

लक्ष्मीजी घबरायीं। उन्होंने सरस्वतीजी से सहायता माँगी। सरस्वतीजी उस युवक की आत्मा में प्रविष्ट हुईं।

"देखो विट्ठलवर !" राधाजी ने भगवान् से कहा—"दोनों पुरानी शत्रु एक हो गयी हैं !"

"अब तुम्हारा क्या हाल होगा ?"

"कुछ नहीं, देखो !"

उस युवती ने युवक से कहा—"पर भोलानाथ, मेरे लिए संसार छोड़ोगे तो तुम्हारी आत्मा का क्या होगा ? तुम्हारी काव्यममता का क्या होगा ? तुम्हें सब अधम समझेंगे तो तुम ऊँचाई पर कैसे उड़ोगे ? तुम ऊँचे नहीं उड़ोगे तो दैवी सन्देश कौन भेजेगा ?"

"प्राणप्यारी !" युवक ने कहा—"मैं गान क्यों गाता हूँ—सुख प्राप्ति के लिए। मैं काव्यरचना किस लिए करता हूँ—आनन्द की अनुभूति के लिए। तुम्हारा साहचर्य सुख और आनन्द दोनों लायेगा, फिर काव्यों की क्या पर्वाह रहेगी ?"

सरस्वती और लक्ष्मी ने आमने-सामने देखा—दोनों ने उस बाला को एक साथ प्रेरणा की।

"पर प्यारे ! दुनिया तुम्हें घबरायेगी, डरायेगी, धमकायेगी ! फिर—"

"तो तुम्हारा नाम जिह्वापर रख हँसते-हँसते चिता पर चढ़ जाऊँगा।"

"देखा !" राधिका ने भगवान् से कहा।

"प्राणनाथ," उस युवती ने कहा—"तुम अद्भुत हो ! जैसी मैं हूँ वैसी तुम्हारी—"

दोनों मिले, लक्ष्मी और सरस्वती की आँखों में विष छा गया। उन्होंने अन्तिम प्रयत्न किया।

"प्राणनाथ," युवती ने कहा—"आज से लक्ष्मी और सरस्वती दोनों में वैर होगा।"

"पगली" युवक ने युवती को अपने निकट खींचते हुए कहा—"राधारमण क्या हमें भुला देंगे ?"

राधिकाजी गर्व से देखती रहीं। लक्ष्मी और सरस्वती वाहनारूढ़ होकर चलने लगीं।

वह युवक और युवती जैसे संसार की बहार ले रहे हों उस प्रकार उठे। उन्हें निश्चय था कि कल सवेरे के बाद उनके लिए सृष्टि निर्जन हो जायगी फिर भी उनके मुख पर तेज था।

"इन सबका क्या होगा ?" भगवान् ने पूछा।

"कल से ये बेकार हो जायँगे। भूखे-प्यासे निर्जन आरण्य में भटकेंगे।"

"अ र र र—"

"केवल मैं ही इसकी संभाल लूँगी, पर इन दोनों से क्रुद्ध—लक्ष्मी और सरस्वती में-से एक को भी मनाया न जा सकेगा।"

त्रैलोक्यनाथ ने आँख चमकाई, ओठ दबाये, सिर के बाल खड़े होने से मुकुट हिल उठा। उन्होंने पंचजन्य पकड़ा और एक, दो, तीन बार नाद किया। दिशाएँ काँप उठीं, सागर गर्ज उठा, दिग्पाल सिहर उठे, गरुड़जी अधकटा साँप चंगुल में दबाये तुरन्त आ उपस्थित हुए।

त्रिभुवननाथ की दृष्टि आकाश में ठहरी हुई थी। उनमें-से धूमकेतु की पूँछ के समान तेज की रेखा निकल रही थी।

झंझावात आरम्भ हुआ, और देखते-ही-देखते सरस्वतीजी का मयूर, लक्ष्मीजी का कमलासन नीचे उतर आये और उन-पर-से

भयग्रस्ता शारदा और कमला क्रमशः मयूर-पुच्छ और कमल-नाल पकड़े आ उपस्थित हुईं।

"लक्ष्मी ! शारदा !" भयंकर गर्जन के साथ सम्बोधन करते हुए भगवान् ने कहा—"उस युवक और युवती को देखा ! सावधान यदि उनपर क्रोध किया तो।"

"मुरारि !" राधिकाजी ने टोका—"जाने दो इन दोनों को। लक्ष्मी और सरस्वती की कृपा उन बेचारों पर होगी तो उन्हें भारी पड़ जायगा। अब किसी गाँव में जाकर झरने के कल्लोल के साथ आत्मगुंजन करने दो।"

"अच्छा !" क्रोध का शमन करते हुए भगवान् ने कहा—"ठीक, जाओ।"

"अब घर वापस चलना है क्या ?" लक्ष्मीजी ने जरा तिरस्कार के साथ पूछा।

भगवान् ने उत्तर नहीं दिया, और उन्होंने राधा से कहा—"राधे ! चलो वृन्दावन। पुराने संस्मरण ताजा कर आयें। नहीं तो मेरा क्या हाल होगा ? गरुड़जी, चलो !"

गरुड़जी तैयार हुए। राधा-कृष्ण उनपर सवार हुए और वे उड़ चले।

❀ ❀ ❀

वृद्ध गरुड़जी ने निःश्वास छोड़ा। जब वह 'गलितम् पलितम् मुण्डम्' हो गये तब उनके युग-प्राचीन स्वामी में यह नई उत्कण्ठा कहाँ से स्फूर्तिमान हुई ? उनकी वृद्ध कल्पना गरुड़जी का चित्र उभारने में भी असमर्थ थी, फिर अपने स्वामी के प्रति—सेवाधर्मः परमगहनो योगीनामप्यगम्यः।

फौजदार साहब

वह गांधी-युग के मध्याह्न का अहमदाबाद था। सारे संसार की दृष्टि, सारे भारत की आशा अहमदाबाद—साबरमती-तट के एक राष्ट्र-विधाता पर अटकी हुई थी।

बृटिश-शासन काँप रहा था। कल सुबह गाँधीजी क्या कहेंगे और क्या करेंगे, इस पर वह दृष्टि जमाये बैठा था।

इस दैवी नायक की राजधानी—अहमदाबाद ने आत्मबल का शस्त्र धारणकर विजय-प्रयाण आरम्भ करने के लिए एक क़दम आगे बढ़ा दिया था। सबको विश्वास था कि देखते-ही-देखते इस अत्याचारी शासन का पतन होगा। अहमदाबाद में उन दिनों कोई बेबस बेचारा नहीं था। उसी प्रकार वहाँ कोई हिन्दुस्तानी राजभक्त भी नहीं था—इसमें अगर कोई अपवाद था तो वे थे प्रमोदराय फौजदार।

चालीस वर्ष तक उन्होंने बृटिश सरकार की सेवा बजायी, और स्वयं पुलिस के सिपाही से डिप्टी सुपरिण्टेण्डेण्ट बने थे। इन चालीस वर्षों में उन्होंने व्यवस्था, धारा और शान्ति को धर्म माना था, और बृटिश सरकार को इन सबका प्रतिपालक माना था। ताज़ीरात-हिन्द के नियमों का भंग करना उनके मत से बड़े-से-बड़ा पाप था। विक्टोरिया फिर एडवर्ड, उसके बाद जार्ज; इनकी सम्राट्-परम्परा की वफ़ादारी उनके विचार में सबसे श्रेष्ठ पुण्य था। किसी अपराधी को पकड़ने के लिए वे जाते, तो एक-एक पग रखने में अड़सठ तीर्थ की परिक्रमा

के समान उन्हें गर्व और तपोमयता का भान होता। जिस प्रकार ब्राह्मण के पुण्य से पृथ्वी रसातल में जाने से रुक जाती है उसी प्रकार उनकी सेवा से वह सातवें पाताल चली जाने से अटकी रह जाती है, यह भी उनका ख़याल था।

उनकी वफ़ादारी में स्वार्थ की गन्ध नहीं थी। उनके विचार से व्यवस्था और वफ़ादारी संसार के बड़े-से-बड़े नियम थे। जो पुलिस रखवाली न करे, जो मजिस्ट्रेट अपराधी को दण्ड न दे, तो सृष्टि का क्या हो, इसकी कल्पना वे स्वयं नहीं कर सकते थे। यदि पृथ्वी पर धारा और व्यवस्था न हो तो पृथ्वी हो तो क्या, और न हो तो क्या? एक महापुरुष ने भारत में 'वफ़ादारी' या राजभक्त की व्याख्या इस प्रकार की थी—"जो अराजभक्ति के अपराध के लिए गुनहगार सिद्ध नहीं हुआ हो ऐसा व्यक्ति।" पर प्रमोदराय को इस व्याख्या की आवश्यकता नहीं थी। उनकी वफ़ादारी तो ज्वलन्त, भक्ति-भरी और श्रद्धापूर्ण थी। जिस प्रकार गीताकार ने सारी जनता को साधु और दुष्कृतों में विभाजित कर दिया वैसे ही फौजदार प्रमोदराय ने भी व्यवस्थाशीलों और व्यवस्थाविरोधियों के रूप में सारी जनता को विभाजित कर दिया था।

उनका जीवन भी व्यवस्थामय था। उनके काग़ज़ात, कपड़े-लत्ते हथियार आदि में भी अद्भिग व्यवस्था थी। उन्होंने व्यवस्थामय संसार की रचना की थी। हफ्ते में कब शाक बने और कब दाल, इसका निश्चय वे वर्षों पहले कर रखते थे। उनकी पत्नी महीने में चार दिन अधिक रात बीत जाने पर अच्छे कपड़े और गहने पहन सकती थी।

फौजदार साहब का कोई दोस्त नहीं था; उन्हें अपने काम के अतिरिक्त और किसी बात में मज़ा नहीं आता था। उनका काम कलाकार की दृष्टि से सम्पादित होता था। उनका मृदुतापूर्ण मुखमण्डल, स्नेह-भरी आवाज़ अपराधियों के लिए परहेज के काम आती। उनका

छटापूर्ण रंग-ढंग कठोर-से-कठोर आज्ञा देने और उसका पालन करने के काम आता था।

वे सभी राजनीतिक आन्दोलनों को बड़ी नज़र से देखते थे और यह मानकर चलते थे कि उनमें भाग लेनेवाले सभी भावी बन्दी हैं। वे उनके साथ दोस्ती और मिठास का बर्ताव करते, पर केवल एक कला-दृष्टिपूर्ण धारा और व्यवस्था के प्रतिनिधि की चतुराई से। बहुत से अधिकारी प्रमाणपत्र पाने, तनख्वाह बढ़वाने, खिताब पाने, ऊपरी अधिकारियों को प्रसन्न करने के लिए राजनीतिक जीवन में भाग लेनेवालों को कष्ट पहुँचाते थे। फौजदार साहब ऐसे घोर पापियों को तो बीन-बीनकर विनष्ट करने को तरसते थे, पर खूबी के साथ।

कोई विलासी पुरुष सुन्दर उपवन में बैठ शीतल, सुगन्धमय समीर का आनन्द ले रहा हो और सुन्दरी के सुकोमल हाथों से स्पर्शित तारों से झंकृत निरन्तर सुमधुर संगीत सुनाता हो; तथा कोई ज्वालाभरी फुलकार मारता, पैर पीटता, विकराल यमराज-सा विनाश प्रसारित करता आ रहा हो—इसी प्रकार शान्त, सुव्यवस्थित अहमदाबाद में शान्ति-रक्षा में दत्तचित्त फौजदार साहब के राज्य में असहयोग का डंका बजाते अनुयायियों पर आदेश चलाते महात्माजी उतर आये।

इस विनाश को रोकने की फौजदार ने अपने मस्तिष्क में युक्ति रची, कमर-पट्टा सख्त किया और घर में तीन हथकड़ियों के बदले छः रखने लगे।

सभाओं, समाचारपत्रों, स्वयंसेवकदलों की व्यवस्था का वे विरोध करने लगे।

जैसे-जैसे दिन व्यतीत होते गये, त्यों-त्यों पृथ्वी को जड़ें उखड़ने-सी लगीं। सविनय अवज्ञा कानून का भंग ही तो था, और उसे परम कर्तव्य कहनेवालों को दिन-दहाड़े फिरते देख फौजदार के असन्तोष का पार नहीं रहा। वह इन काँटों को निकाल डालने के लिए तैयार थे, पर ऊपरी अधिकारी उन्हें शान्त रहने की आज्ञा करते थे, इसलिए

वह उभरते कारणों की उपेक्षा न कर केवल सावधान होकर बैठ रहते थे।

गाँधीजी द्वारा सुलगायी गयी उत्साह की भयंकर ज्वालाएँ चारों ओर दावानल की भाँति फैलती जा रही थीं; पर फौजदार को उसकी गरम आँच भी नहीं लग रही थी—पुलिस का न्यायी धर्म-शासन, और ताज़ीरात-हिन्द के वेदवाक्यों की पवित्रता में निश्चल श्रद्धा रखने-वाले उन महात्मा का जीवन ऐसा दावानल देखकर गरम हो उठता, उसे दबाने की उनमें ताकत थी; पर न जाने क्यों कोई उन्हें वह ताकत अज़माने नहीं देता। दुनिया का क्या होने वाला है।

यह पापाचारियों की विजय चारों ओर व्यवस्था का भंग, अपनी निष्क्रिय अशक्ति, बृटिश साम्राज्य की भीरुता—इन सबका विचार वे सदा किया करते। ये विचार करते समय उनकी अक्खड़ चाल और भी अक्खड़ बन जाती थी। कहीं धारा और व्यवस्था का गौरव घट न जाय इस डर से वे अपने कपड़े स्वच्छ रखते, कमरपेटी-तलवार चमकाकर रखते, मूँछों को अधिक मरोड़ते। साथ ही मुँह पर मिठास आवाज़ में मृदुता, रंग-ढग में सिधाई और शोभा अधिक आने लगी थी। उनकी सावधानी अब सर्वग्राही होने लगी और उनके हेतुपूर्ण हास्य से अभ्यस्त होकर सत्याग्रही सावधानी भूलने लगे।

× × ×

दीनेश ठाकुर एक उदीयमान वकील थे। कांग्रेस के नेता थे। स्वयंसेवक सैन्य के नायक थे और गाँधीजी के दाहिने हाथ गिने जाते थे। उन्होंने मुहल्ले-मुहल्ले में असहयोग का प्रचार किया था। घर-घर सविनय कानून भंग की शिक्षा दी थी, होटल-होटल में उन्होंने चाय के लिए सत्याग्रह कराया। वे बड़े प्रबल कहलाते थे; लोकप्रिय थे। फौजदार साहब ने बहुत दिनों से उन्हें देख रखा था—एकान्त में सोता मनुष्य एकदम किसी खुजलाहट से जाग उठे और हाथ पर खटमल रेंगता हो तो जैसा लगता है वही हाल इन्सपेक्टर साहब का उन्हें देखकर होता,

और तभी से उन्होंने भलमनसाहत का बर्ताव बढ़ाया, और तब से वे दीनेश के सगे चाचा से भी विशेष रूप में उसके जीवन के आदर्श में दिलचस्पी लेते दिखायी देने लगे।

कई बार रात को जब वे यह जाँच करते कि छः में छहोहथकड़ियाँ तैयार हैं या नहीं, तो वे यह सोचते कि कौन-सी हथकड़ी दीनेश के हाथ की शोभा बढ़ायेगी, कौन-सी वल्लभभाई के हाथ की और कौन-सी गाँधीजी के हाथ की।

फौजदार साहब—जो अब सचमुच डी० एस० पी० थे, आज बहुत उत्साहित मालूम होते थे। दीनेश को गिरफ्तार करने के लिए आज उन्हें वारण्ट मिला था। अब यह तूफान दब जायगा, और व्यवस्था की पुनः स्थापना होगी—आज दीनेश, कल वल्लभभाई, परसों गाँधीजी—इस प्रकार के विचार इन्स्पेक्टर साहब—नहीं अब प्रमोदराय फौजदार साहब के मन में उठ रहे थे। फिर यह काँपती पृथ्वी स्थिर होगी और विनाश रुकेगा।

सारे दिन दीनेश-ही-दीनेश उनके विचार में आता रहा। वह हथकड़ी में कब आयेगा, वह पकड़े जाते समय क्या कहेगा, उसे कितने दिनों की सज़ा होगी, ये सब विचार उसके दिमाग में गूँजे। कई बार उसे खुद पकड़ने का विचार भी प्रमोदराय फौजदार ने किया।

धाराबद्ध जीवन व्यतीत करनेवाले फौजदार साहब की कलादृष्टि सूक्ष्म हो रही। रात को आठ बजे दीनेश खाना खाने बैठा हो, उसकी स्त्री भोजन परोसकर खड़ी हुई हो कि उसी समय जाकर उसे पकड़ा जाय, यह कल्पना उनके दिमाग में घूमी। दीनेश पंचो× पहने होगा, उसकी पत्नी रेशमी वस्त्र। थाली के पास लालटेन रखी होगी या मोमबत्ती और खाने को क्या रखा होगा ?.....

नीचे किसीने किवाड़ खटखटाया। इस समय कौन आया ?

× धोती के बदले घर के भीतर पहने जाने वाले पाँचहाथी वस्त्र।

परंसन काकी ने किवाड़ खोले। पर फौजदार ने सुन लिया।

"भाई हैं ?" किसीने बाहर से आवाज़ दी।

"हाँ हैं; क्यों कमला बहन ?" काकी की आवाज आयी।

"जरा भाई से काम है।" वह स्त्री बोली।

आगन्तुक स्त्री जीने पर चढ़ने लगी।

फ़ौजदार साहब की आँखें चमकीं। उनके ओठ भिंच उठे। दीनेश ठाकुर की माँ ! उन्होंने मेज़ की दराज़ खींची और उसमें पड़ा वारण्ट और हथकड़ी देखी, दराज़ फिर अन्दर कर दी और दुष्ट व्यवस्था-विनाशी की माँ को मिलने आगे आकर कुर्सी पर बैठ गये। उनके मुख पर सुमधुर हास्य का आवरण छा रहा था।

सफेद ड्रेस, चमकते बटन और कमरपेटी, जोधपुरी ब्रिचीस, अकड़ी हुई सफेद मूँछें, गहरी रेखाओं से मुक्त तेजस्वी माथा, दृढ़ निश्चल बड़ी-बड़ी आँखें, यह सब इस आदर्श फौजदारी व्यवस्था को आदर्शरूप बना रहे थे। इन्हें देखकर कोई यह नहीं कह सकता था कि बृटिश साम्राज्य खतरे में है।

भारी शरीर के कारण कमला बहन घुटने पर हाथ का सहारा लगाते-लगाते ऊपर चढ़ीं।

"भाई, आऊँ क्या ? हँसकर वह ज़ीने चढ़ने के बाद ज़रा दम लेने को रुकी।

"आओ।" फ़ौजदार ने स्वागतपूर्वक कहा।

जिन दिनों स्त्रियाँ दस सेर* का कड़ा पहन कर मगन भाई के कुएं पर पानी भरने जातीं और दस रात तक उछल-कूद मचाकर गीत गाती थीं, कमला बहन उस युग की स्त्री का नमूना थीं। हाल का अधोगति-प्राप्त निर्माल्य-युग उन्हें कभी आकर्षक होगा ऐसी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी; जवानी में अनघड़ शृंगार और सस्ते गहनों

---

* गुजरात का सेर २७ तोले का होता है।

के द्वारा कमला बहन कितने ही हृदयों को आकर्षित कर चुकी थीं, यह बात फौजदार को मालूम थी; परन्तु उस स्मरण से अधिकारी के कठोर व्यवस्थापूर्ण हृदय में आर्द्रता का कोई भी संचार नहीं हुआ।

"क्यों कमला बहन, आज तो बहुत दिनों बाद दर्शन हुए?" फ़ौजदार साहब ने पूछा। केवल उनकी आँखें ही कुछ हँसीं।

"भाई!" कमला बहन ने फ़ौजदार के पाँव के पास बैठते हुए कहा —"आज मेरे दीनू का जन्म-दिवस है," वह कुछ थमी, पर फ़ौजदार साहब के हँसते मुखमण्डल पर कोई अन्तर नहीं आया। उन्होंने मूँछों को एक बार मरोड़ा। कमला बहन ने अपना बूढ़ा मुँह मटकाया और बोली:—"भाई! गाँव में जो गप्प सुनाई दे रही है वह क्या सच है?"

"कौन-सी?" जैसे गप्प जैसी वस्तु से-ही वे अपरिचित हों, उस प्रकार मुँह बना निर्दोषतापूर्वक आँखें फाड़कर फ़ौजदार साहब बोले।

"यही कि दीनू आज पकड़ा जायगा?"

फ़ौजदार साहब चुपचाप मूँछों पर ताव देते रहे।

"भाई! आज दीनू का जन्म-दिवस है।"

"यह तो तुम कह चुकीं।" फ़ौजदार साहब ने मिठास के साथ कहा।

"और भाई, उसकी स्त्री को बच्चा होने वाला था सो वह सूरत से बच्चा जनकर अभी लौटी है।"

"मुँह!"

"भाई! इतना करो कि आज की रात उसे कोई न पकड़े," कमला बाई ने चिरौरी करते हुए कहा—"कल के बाद उसका जो भी करना हो करना।"

"कमला बहन! सत्याग्रही को जेल के समान सुख और कहाँ मिल सकता है?" फ़ौजदार साहब ने कहा। उनकी आँखें हँसी।

"भाई! अब तो उसे गाँधी-उन्माद हो गया है, पर जैसा भी हो, मेरे तो ले-देकर वही एक है।"

फ़ौजदार साहब ने जवाब नहीं दिया। उनका ले-देकर एक है, तो उससे उनको क्या? धारा और व्यवस्था ले-देकर एक होनेवालों की कहाँ तक रक्षा करे।

"भाई! मुझ गरीबिनी की इतनी बात भी न मानोगे? एक रात में क्या बिगड़ जाने वाला है?"

"कानून को जन्म-दिवस की क्या पर्वाह?" फ़ौजदार ने जैसे कोई बड़ी प्रसन्नता की बात पूछी।

"पर मुझे तो है न?"

"पर उसमें मैं क्या करूँ?"

"पर तुम चाहो तो कर सकते हो।"

"मेरे हाथ में होता भी तो मैं दीनू के लिए कुछ न करता।"

"भाई! ऐसे कठोर क्यों होते हो।"

"वह शान्ति और व्यवस्था का शत्रु बन बैठा है। कोई मदद कर भी कैसे सकता है?" फ़ौजदार ने कठिनाइयाँ सामने रखते हुए कहा। कुछ देर तक कमला बहन खिन्न मुख हो देखती रहीं। फ़ौजदार साहब ने कमरपेटी पर हाथ फेरा।

"चलो; और कोई बात?" फ़ौजदार साहब ने हँसकर कुर्सी के हाथों पर हाथ का सहारा लगा उठने का भाव प्रकट करते हुए कहा।

"भाई, इतना तो करना ही पड़ेगा।" कमला ने नीचे देखते हुए कहा। फ़ौजदार साहब ने मौन-द्वारा अपनी असमर्थता प्रकट कर दी।

"मैं सारे जन्म हतभागिनी ही रही," कहकर कमला बहन उठने लगीं—"नहीं तो क्या हमारा विवाह-सम्बन्ध टूटता?"

फ़ौजदार साहब जैसे स्मृतियाँ ताज़ी कर रहे हों, इस प्रकार आँखें फाड़कर देखते रहे। कुछ देर हँसे—"अच्छा तुम्हें अभी तक याद है?"

"मुझे क्यों याद न होगा? क्यों, क्या मैं वाड़ी नहीं आयी थी और तुमने मुझे शिकरम में बैठाकर ईख काटकर नहीं दिया था?" कमला बहन के कठोर स्वर में स्मरण-भिंदी मिठास आयी।

अचानक फ़ौजदार साहब की दृष्टि अपनी अँगुली पर पड़ी। उनकी अँगुली पर एक घाव अस्पष्ट रूप में दिखायी देता था। उनके मुँह पर हास्य लिखा गया। उनकी आँखों से भावना छलक पड़ी। थोड़ी देर तक वह कमला बाई की ओर जैसे मज़ाक से देखते रहे। "अच्छा सब कुछ याद है," उन्होंने कमला का भाव अपने शब्दों में दुहराते हुए कहा—"अभी वह ईख काटते समय लगा हुआ घाव मेरी अँगुली पर है। देखो—" कहकर उन्होंने अँगुली ऊपर उठायी।

कमला बहन ने पास आकर यह अँगुली देखी। "हाँ, अब भी निशान है," वह हँसी। पर फिर तुरन्त गम्भीर स्वर में कहा—"भाई, वह सब तो अब सपना हो गया। तुम मेरे भाग्य में नहीं लिखे थे। जैसे-तैसे ब्याह करके राँड़-दल का पेट भरा। ज्यों-त्यों करके एक सन्तान भी हुई तो उसका यह हाल है! कमला बहन आँचल आँखों पर ले गयीं। "भाई तुम सुखी होने के लिये पैदा हुए थे और मैं नहीं।"

फ़ौजदार साहब जैसे हृदय के किसी चीरे को जोड़ने का प्रयत्न करते दिखायी दिये। मानो यह सोच रहे हों कि परसन के बदले कमला उनकी गृहिणी हुई होती तो उनके जीवन-प्रवाह में कुछ अवर्णनीय बात हुई होती। उन ईख के टुकड़ों का संस्मरण इतना सुन्दर है; तो फिर न जाने वास्तविक जीवन न जाने कितना सुखी होता। ऐसे विचार फ़ौजदार साहब के मुखमण्डल पर स्पष्ट देखने में आये। कमला बहन ने उसका अध्ययन कर निःश्वास भरकर कहा—"और यह दीनेश भी बाप का सुख न देख सका; वे अब तक होते तो देखता।" और फिर बैठ गयी।

फ़ौजदार प्रमोदराय इस प्रकार देखते रहे जिसका कुछ मतलब ही समझ में नहीं आता था। ऐसा दिखायी देता था कि उनके स्वस्थ हृदय में अपरिचित पवन झकोर मार रही है।

उन्होंने कमला बहन की ओर देखा और उनकी आँखों में अद्भुत आर्द्रता आ गयी। शीतल पवन की लहरी दूर से गीत-ध्वनि लिये आ रही हो और हृदय में आह्लाद-का संचार करे, वैसी प्रसन्नता उनके

य में प्रसारित हो रही है, ऐसा उनके मुखमण्डल से प्रतीत ता था।

दोनों एक-दूसरे की ओर देखते रहे। कमला बहन को लगा कि र क्षण हाथ में आई मोहिनी सरक जाय, ऐसी कमज़ोरी के साथ जदार साहब निःशब्द बैठ रहे हैं। इन सब बातों को ध्यान में करके ड़ी देर बाद कमला बहन बोलीं—"भाई! मैं जाती हूँ। मुझे देर रही है। आज दीनू का जन्म-दिवस है और घर पर मेहमान न्योते े हैं। बहू भी बच्चे के साथ आ गयी है।"

फ़ौजदार साहब ने मूँछें फिर मरोड़कर ऊपर चढ़ायीं।

"भाई! आज दीनू को न पकड़ना," हँसकर कमला बहन ने ा—"देखो, ध्यान रखना!"

फ़ौजदार साहब ने खखारकर गला साफ कर डाला—कोई और ावाज़ न निकाल सके।

"गिरफ्तार ही करना हो तो कल सवेरे करना।" कहकर कमला न ने ज़ीने से आड़बन्द पर हाथ रख उतरने की तैयारी की।

"अच्छा...." आख़िर फ़ौजदार साहब के गले से निकल पड़ा और मला बहन ज़ीना उतर गयी।

× × × ×

फ़ौजदार साहब अकड़कर खड़े रहे। धारा और व्यवस्था का सारा र उनके हृदय में उभर आया—उनका मुख कठोर हो गया—ऐसा ्त कि पहचान में न आ सकता था। व्यवस्था का विरोध और साथ ठगाई! कमला ने जो कुछ कहा था, उसे कटुता के साथ उन्होंने र—फिर याद किया।

उन्होंने दराज़ खोला, वारण्ट फिर से पढ़ा; उसे हथकड़ी के साथ ा में रखा।

नीचे उतरकर वे खाड़िया की अँधेरी गलियों में गये। उनके ाबूत कदम, तेज़ दृष्टि, तलवार की मूठ पर हाथ देखकर वे अन्धकार

की अव्यवस्था पर सत्ता चलानेवाली धारा की सजीव मूर्ति मालूम पड़ते थे।

वे दीनेश के घर गये। उसका घर छोटा और पुराना था। उसका धन्धा बड़ा मकान बनवाने-योग्य अभी तक न बन पाया था। किवाड़ खटखटाने के पहले उन्होंने जाली में-से अन्दर दृष्टि डाली।

आँगन में दीनेश और उसके दो मित्र भोजन करने बैठे थे। सामने कमला लड़के को स्नेह-भरी दृष्टि से देख रही थी। उसकी गोद में दो महीने का पौत्र था। दीनेश की बहू शर्माती, हर्षाती, खाना परोस रही थी। एक अगरबत्ती की सुगन्ध चारों ओर फैल रही थी।

फ़ौजदार साहब ने कुछ देर देखा। व्यवस्था-विरोधियों को देखकर उन्होंने दाँत पीस लिये। कमला ने जो बातें की थीं उन्हें यादकर उन्हें उन्मादी क्रोध आ गया।

"कौन है?" कमला बहन ने पूछा।

फ़ौजदार साहब ने ध्यान से देखा। दीनेश और उसके मित्र स्तब्ध रह गये। दीनेश की बहू फीकी पड़ गयी, कमला बहन की आँख में वेदना थी—और था उलाहना का भाव।

"जब वह सात वर्ष का था तभी उसे ईख का टुकड़ा काटकर दिया था! ....." उन्होंने कमला बहन की बात याद की और खखारकर हँस पड़े—"कोई नहीं; यह तो मैं हूँ।"

"कौन प्रमोद काका!" दीनेश की स्वस्थ आवाज़ आयी।

"आओ हिंडोले पर बैठ जाओ। बूट पहने ही आ जाओ, कोई हर्ज नहीं। मैं समझ गया क्यों आये हो। भोजन तो कर लूँ। माँ, काका को दूध तो दे....ना-ना काका, ऐसे काम नहीं चलेगा; आज तो मेरा जन्म-दिवस है; कुछ तो लेना ही पड़ेगा।"

फ़ौजदार साहब की दृष्टि के आगे सारी सृष्टि नाचने लगी। अगरबत्ती की सुगन्ध उन्हें वश में कर रही थी। उनके और दीनेश के बीच पारदर्शक पर्दा पड़ा था।

फ़ौजदार साहब हिंडोले में बैठ गये। कैसे स्नेहपूर्ण स्वागत था!

"बहू! काकाजी को अच्छा दूध ला दो।" कमला ने बहू को आवाज़ दी। इसी आवाज़ ने साठ वर्ष पहले ईख माँगी थी।

"भाई!" फिर वही आवाज़ आयी—"यह दीनू का बेटा है।"

फ़ौजदार साहब की ज़बान जैसे तालू से सट गयी हो—वे केवल हाथ आगे बढ़ा सके। उनकी कुण्ठित दृष्टि ने अपने हाथ में छोटे-से शिशु को देखा...और वे हँसे। उनकी आँखों में शरारत का तूफ़ान चमक उठा—यदि साठ वर्ष ठीक से गुज़रे होते तो उन्हें भी लड़का होता और उस लड़के के ऐसा ही बच्चा—" उन्होंने मन-ही-मन सोचा और अकथनीय ढंग से देखते रहे।

"काका, मुझे ले चलने की जल्दी है?" दीनेश ने आवाज़ दी।

"जल्दी कैसी? किसलिए? जल्दी कोई नहीं है। मैंने तो सुना तेरा जन्म-दिवस है इसलिए आ गया।"

उन्होंने कमला बहन की आँखें आभारपूर्ण हर्ष से चमकती देखीं। जब उन्होंने ईख का टुकड़ा दिया था तब भी यही आँखें चमकी थीं न?

फ़ौजदार साहब ने अपने ही मन से मज़ाक किया और हँस पड़े। उन्होंने दूध लिया और पिया। वे भी हँसे और अन्य सब लोग भी। उन्होंने सबसे बातें कीं, वह छोटा शिशु रोने लगा। वे तो जहाँ-के-तहाँ बैठे रहे। क्षण-क्षण में अगरबत्ती में-से अधिकाधिक मादक सुगन्ध आ रही थी।

दीनेश भोजन करके उठा, वह और उसके मित्र पान खाने बैठे। फिर कमला बहन और दीनेश की बहू भोजन करने बैठीं।

फ़ौजदार साहब की बुद्धि कर्त्तव्य करने का आदेश करती थी। धारा और व्यवस्था सनातन दैवी-धर्म हैं। इस धर्म का उल्लंघन करनेवाले को दण्ड मिलना ही चाहिए; पर वह इस समय दीनेश को खुद पकड़े तो उसके आनन्द में भंग पड़ेगा। कमला की बात याद करके उसे हँसी

आ गयी.....यदि कमला उसकी स्त्री हुई होती तो दीनेश उसका बेटा होता, फिर तो यह छोटा शिशु उसका पौत्र होता।.....वह स्वयं इस आनन्दी और स्नेह-पूर्ण कुटुम्ब का प्रधान होता।.....उन्हें मन-ही-मन हँसी आयी। कमला उनकी भलमनसाहत का लाभ लेने आयी थी। वह दीनेश, उसकी बहू और शिशु भी।

उन्हें अपना जीवन मरुभूमि-जैसा लगा। उसमें उन्हें दिन में दो बार खाने का और महीने में एक बार तनख़ाह लेने का आनन्द मिलता है।

पर धारा और व्यवस्था का क्या हो ?

उन्होंने निश्चय कर लिया और ठहाका मारकर हँस पड़े। घर के स्नेहपूर्ण वातावरण में उनकी ज़बान में और खूबी आ गयी। वे अपनी जवानी और बचपन के लतीफ़े सुनने लगे।

"दीनू, एक बात की खबर है तुझे ? कमला बहन ने मेरा हाथ काट दिया था।"

"मेरी माँ ने ? वह कैसे ?" दीनेश ने पूछा। कमला बहन घबराने लगी और घबराकर देखती रही कि कहीं वह बेटे से प्रेम-प्रसंग की बातें न कह डाले।

"तुझे क्या पता, तेरी माँ के साथ तो मेरा विवाह हुआ था।"

"क्या कहते हो ?" दीनेश का एक मित्र बोला।

"यह बात तो मैं जानता हूँ कि आजकल के बच्चे तुम लोग क्या जानोगे ?" फौजदार साहब ने कहा—"कमला बहन एक दिन बाड़ी में आयीं और हम दोनों चुपचाप शिकरम में बैठकर ईख चूसने बैठे।"*

सभी हँस पड़े। कमला बहन नीचे से ऊपर नहीं देख सकीं। दीनेश की बहू शर्म के मारे भीतर की ओर दब गयी।"

---

* गुजरात में वर द्वारा बहू को ईख का टुकड़ा चूसने के लिए देने की प्रथा है। —अनुवादक

"ईख काटते समय मेरी अँगुली कट गयी थी।"

सभी हँस पड़े। कमला नीचे ही देखती रही।

"तो फिर आपकी अँगुली माँ ने कैसे काटी?"

"इनकी ईख के लिए कटी न भई, बस?" फ़ौजदार ने कहा। उनके गले से ऐसी आवाज़ निकल रही थी जो खुद उन्हींको अद्भुत लग रही थी—"यह देखो न वह अँगुली।" बायें हाथ की बीच वाली अँगुली उन्होंने ऊपर की, और दीनेश का एक मित्र उसके पास प्रकाश ले गया, कमला बहन के सिवा और सब फ़ौजदार साहब की अँगुली देखने लगे। सबको बात सच लगी—घाव इतना बड़ा था कि अँगुली पर अब तक निशान था—इतने वर्ष बीत जाने पर भी वह स्पष्ट था।

फौजदार साहब की बड़ी आँखें विभिन्न रीति से कमला बहन पर ठहरी हुई थीं; और वह बेचारी नीचे से ऊपर नहीं देख सकती थी। दीनेश ने उन दोनों को देखा। फिर बात का विषय बदल गया। फौजदार साहब और कमला बहन ने कुछ पुरानी बातें निकालीं और नवयुवक उन्हें मज़े ले-लेकर सुनते रहे।

बारह बजे तो मण्डली बिखरी। दरवाजे तक कमला बहन और दीनेश फौजदार को पहुँचाने आये।

"प्रमोद काका! मुझे कब पकड़ना है?" दीनेश ने पूछा। कमला बहन ने चिन्तातुर होकर फौजदार की ओर देखा।

"तुझे?" फौजदार ने हँसकर कहा और एक अकल्पनीय ढंग से देखकर बोले—"माइ ब्वाय! मैं जब तक अहमदाबाद पुलिस में हूँ तब तक तो नहीं।" फौजदार साहब की आवाज़ से गला भरा हुआ मालूम पड़ता था। कमला बहन की आँख में कृतज्ञता दिखायी दी। दीनेश की नज़र फिर इन दोनों पर पड़ी।

"थैंक्यू।" दीनेश ने कहा।

"आइयेगा भाई !" * एक आवाज़ आयी।

किवाड़ बन्द हो गया, और चारों ओर अन्धकार छा गया। फ़ौजदार खुद गली में थे। उनके पाँव उन्हें ले जा रहे थे, पर हृदय अन्दर सोये आनन्दी कुटुम्ब में था।

ठंडी हवा चल रही थी। वे टोपी उतारकर मस्तिष्क ठण्डा करने लगे।.....

.....जैसे अकल्पनीय आह्लाद पीछे छोड़ आये हों, उसी प्रकार वे पीछे देखने लगे। अन्धकार में सामने देखा। एक पुलिसमैन ने डिप्टी सुपरिण्टेण्डेण्ट को सलाम की—उन्हें अपने अब पद का ख़याल आया।

उन्होंने एकदम निश्चय कर लिया। पुलिसमैन से उन्होंने किराये की गाड़ी मँगायी, और गाड़ी में बैठकर कलक्टर के पास गये।

रात के एक बजे उन्होंने कलक्टर को जगाया, और उनसे देर तक बातें करते रहे।

जब दो बजे वे अपने घर आये तो उनका चेहरा खिला हुआ था। ऐसी सुखद रात उन्होंने ज़िन्दगी-भर में नहीं बितायी थी।

× × × ×

दूसरे दिन गाँव-गप्प के तार प्रसारित हुए।

एक तार यह था कि दीनेश ठाकुर पकड़े जानेवाले थे, पर प्रमोद-राय फ़ौजदार ने कलक्टर से मिलकर इस्तीफे की धमकी देकर वारण्ट रद करा दिया है।

एक दूसरे तार में यह था कि दीनेश ने रात को फौजदार साहब को घर बुलाकर सत्याग्रह छोड़ देने का वचन देकर वारण्ट रद कराया है।

एक तीसरे गप्प-तार द्वारा यह बात प्रसारित हुई कि दिनेश की माँ ने समझा-बुझाकर वारण्ट रद कराया है।

---

* गुजरात में विदा देते समय यह कहने की प्रथा है।—अनुवादक

ये सब तार तो प्रसारित हुए ही; पर दोपहर तक यह सब विवरण युक्त गप्प तार भी प्रसारित हो गये कि फौजदार साहब ने इस्तीफा कैसे फाड़ा, वह तथा कमला रोज शिकरम के अन्दर बैठकर ईख कैसे चूसा करते थे।

दीनेश ने किन शब्दों में सत्याग्रह का परित्याग किया और इन सभी बातों की पक्की जानकारी रखनेवाले मुहल्ले-मुहल्ले में हो गये।

इन गप्प-तारों में इतनी हकीकत तो थी ही कि दूसरे दिन दीनेश को कोई पकड़ने नहीं आया। किस कारण ऐसा हुआ, इसकी खोज करने की छूट सभी को थी।

दीनेश ने रात आनन्दपूर्वक व्यतीत की और सवेरे जल्द उठा। उसे फौजदार की बातों में विश्वास नहीं था, इसलिए गिरफ्तार होने की प्रतीक्षा करने लगा। आठ बजे, नौ, दस, ग्यारह बज गये; पर किसी के दर्शन नहीं हुए। फिर वह स्वयं कोर्ट में गया, पर वहाँ भी वारण्ट नहीं था, इसलिए वह निराश लौटा। सत्याग्रह-शिरोमणि के रूप में सबसे पहले गिरफ्तार होने का सम्मान उसे न प्राप्त हो सका। वह बेचारा खिन्न हो गया।

फिर उसने गाँव-गप्प सुनी। पहले तो उसने ध्यान नहीं दिया; पर पीछे ढाई बजे गुजरात क्लब में चाय पीने गया। वहाँ भी उसने वैसी ही बात होती सुनी।

एक ने व्यंगपूर्वक कहा—"मेरी माँ भी डिप्टी सुपरिण्टेण्डेण्ट के सामने बैठकर ईख चूसती होती तो मुझे भी कोई न पकड़ता।"

ये शब्द दीनेश के कानों में पड़े और वह चौंका। क्यों इसमें कुछ सत्य है? उसके हृदय में शंका उत्पन्न हुई।

फौजदार साहब और कभी उसके यहाँ नहीं आये थे, फिर कल ही क्यों आये? और कभी कुछ नहीं था तो उन्हें उसकी माँ के साथ इतनी बात करने की छूट कहाँ से मिली? कल फौजदार हँसते थे तो उसकी माँ नीचे क्यों देख रही थी? "जब तक मैं पुलिस में हूँ तब

तक" ऐसा आश्वासन देने का क्या मतलब ? हे भगवान् ! और उन्होंने मुझे 'माइ ब्वाय' कहकर सम्बोधन किया था।.....वह कटी हुई अँगुली।

उसके क्षुब्ध मस्तिष्क में प्रकाश आया। उसकी माँ के लिए ही फौजदार ने उसे छोड़ दिया है, और कलक्टर के पास वारण्ट रद करा दिया है। उसकी आँखों के सामने अँधेरा छा गया। उसकी माँ !... खुद किसका लड़का है ? दीनेश भावनाशील था, नीतिमान था, और अपने को जन्मजात सत्याग्रही मानता था। पर उसकी माँ....."हे भगवान्," वह बड़बड़ा उठा—"मुझे क्या मालूम ?"

ज्यों-ज्यों उसे रात के प्रसंग का विवरण याद आने लगा त्यों-त्यों इसे विश्वास होता गया। उसका सिर चक्कर खाने लगा। उसका खून खौल उठा, सिर दुखने का बहाना कर वह कोर्ट से घर जाने के लिए निकला; पर घर जाने का मन नहीं हुआ। उस घर जाऊँ जहाँ ऐसी माँ रहती है !

उसे वह कटी अँगुली ही दिखायी देती रही; तूफान उठा, अन्धकार छा गया। उसके मन में आया कि वह साबरमती पुल पर-से गिरकर आत्मघात कर ले। "अरी माँ ! तूने मुझे दूध क्यों पिलाया ? मुझे भूखों क्यों नहीं मार डाला ? मुझे क्यों कूट-पीसकर पढ़ाया-लिखाया और मेरा ब्याह क्यों रचाया ? मुझमें अच्छे संस्कार क्यों डाले ?"

उसके भाव उसे घर ले गये। वहाँ स्त्री-बच्चे से मिलकर, साबरमती आश्रम जाकर उसने निश्चय किया कि गाँधीजी के पूज्य पदारविन्द में आश्वासन ढूँढा जाय। जब वह घर गया तो कमला बहन उसके बच्चे को लिये बैठी थी। उसकी गोद में अपने पुत्र को कलंकित होते देख उसका जी काँप उठा; पर वह कुछ बोल नहीं सका। ऊपर चला गया और सिर पकड़कर सो रहा। उसकी नज़र के सामने फौजदार साहब की कटी अँगुली दिखायी दी। "ईख का टुकड़ा ! हे भगवान् !

मैं कैसे जिऊँगा ?" उसने आक्रन्दन किया। उसे चैन नहीं आया। वह टोपी लगाकर नीचे उतरा। माँ को देखकर उसके क्रोध का पार नहीं रहा; उसकी चलती तो—अरे उसकी पूज्य माता ! पर यह पूज्य ! और वह किसका लड़का है ? 'माइ ब्वाय' 'हे प्रभु' वह बड़बड़ाया। उसे कँपकँपी आ गयी।

उसके मस्तिष्क में तूफान आ गया। वह बाहर निकला; पर जाय कहाँ, यह न सूझ सका। आश्रम में तो इस समय सब काम में लगे होंगे; वहाँ जाना उसे नहीं रुचा। तो फिर कहाँ जाय ? वह पैदल ही कोचरब की ओर चल पड़ा। जहाँ तक पैदल चल सका चलता रहा। रात आ गयी फिर भी उसने अपना चलना जारी रखा, फिर भी उसकी लज्जा की होली का अभी तक शमन नहीं हुआ।

उसे ऐसा लगा कि उसके मस्तक पर तो भयंकर कलंक लगा है। उसे अपनी निर्बलताओं, अपनी वासनाओं का मूल अब मालूम हुआ। उसके रक्त में अनीति का धब्बा है। कल तक वह अपने को दैवी अंश मानता था; अब उसकी अधमता की कोई सीमा नहीं रही।

उसका जीवन अकारथ गया। उसने ऐसी धारणा की थी कि वह अपने आत्मबल से गाँधीजी की सेवा करेगा, सत्याग्रही सैन्य को विजय प्राप्त करायेगा, आर्यावर्त्त—की स्वाधीनता प्राप्त करायेगा। वह खिल-खिलाकर हँस पड़ा। उसका आत्मबल ! वह स्वयं एक अधमता का परिपक्व रूप है, फिर कैसा उसका आत्मबल !

उसने निश्चय किया कि उसे किसी भी प्रकार या तो जेल में पहुँच जाना है या फिर आत्मघात कर लेना है। आखिर वह जेल क्यों न जाय ? अपने पाप का प्रायश्चित्त क्यों न करे ? सच्ची बात है, वह स्वयं भले ही अधम हो, पर अपनी आहुति द्वारा मातृभूमि के उद्धार की साधना वह क्यों न करे ? स्वदेश के लिए न मर सके तो उसका जन्म किस काम का ? उसके हृदय को कुछ आश्वासन मिला। उसने संकल्प किया—माँ के पाप का प्रायश्चित्त करने का। फौजदार साहब

की कटी हुई अँगुली इस संकल्प की अधिष्ठात्री थी। वह बाहर-ही-बाहर आश्रम चला गया, घर सन्देशा कहला भेजा।

दूसरे दिन से दीनेश सत्याग्रह की ज्वाला बन गया। खाना, पीना, सोना सब कुछ उसने छोड़ दिया। उसने व्रत लिया कि वह अपने आत्मबल से ब्रिटिश शासन को उलट देगा। उसकी आँखों के सामने फौजदार साहब की कटी अँगुली सदा दिखायी देती और वह उसकी व्रतनिष्ठा को दृढ़ से दृढ़तर बनाती जाती थी। अहमदाबाद के तूफ़ान में, पंजाब के जुल्मों की आँच में, बारडोली सत्याग्रह में सबके मुँह पर दीनेश ठाकुर का नाम था। सारे भारत में उसकी कीर्ति प्रसारित हो गयी। ज्यों-ज्यों उसकी कीर्ति बढ़ती थी त्यों-त्यों उसे अपनी अधमता का भान अधिक होता था; और वह अधिकाधिक रूप में आत्माहुति देने को तत्पर दिखायी देता।

इस प्रायश्चित्त में लगकर उसने कुटुम्ब को भुला ही दिया। उसकी आमदनी बन्द हो गयी और उसकी कठिनाइयाँ बढ़ गयीं।

पर फौजदार साहब दो-तीन दिनों बाद दीनेश के बच्चे को खिलाने जाया करते, और घण्टे-दो-घण्टे वहाँ बिता आते। इस प्रसंग से उनका सूखा जीवन हरा होने लगा। आखिर उन्होंने एक कुटुम्बीजन के रूप में कमला बहन की आर्थिक कठिनायाँ दूर करने का अधिकार माँग लिया और उस अधिकार का उपभोग वे करने लगे।

जब यह बात दीनेश के कान तक पहुँची तो उसकी आत्मा काँप उठी। उसके कारण उसने अपने प्रायश्चित्त को और भी दृढ़ बनाने का दृढ़ संकल्प कर लिया। जीवन में इस प्रतिज्ञा की साकार मूर्ति फौजदार साहब की कटी अँगुली थी, जिसने उसे त्यागियों से भी अधिक त्यागी बना दिया।

× × ×

गाँधीजी ने बारडोली-आन्दोलन का आदेश प्रकाशित कर दिया था। उन्होंने राष्ट्रनेता के रूप में गर्वपूर्वक ब्रिटिश शासक का आह्वान

किया। उनके व्यक्तिगत अनुयायी उनके उस आदेश का पालन करने के लिए कटिबद्ध हो गये। वातावरण में प्रबल उत्साह था। सत्याग्रही और सरकार दोनों ही पक्ष अपना-अपना बल-संचय कर रहे थे। दो दिन हुए प्रमोदराय स्पेशल ड्यूटी पर बारडोली पहुँचे हैं, यह बात दीनेश ने सुनी।

१६२२ ई० की ११ वीं फरवरी थी। दीनेश आश्रम के शिविर से बाहर निकला। उसका अंग सूख गया था; उसकी आँखों में अस्वाभाविक चमक आ गयी थी। थोड़े दिनों में वह या तो खुद जेल में जायगा या किसी पुलिसमैन की गोली का शिकार होगा। उसके जीवन के उग्र समारम्भ की पूर्णाहुति होने की अवस्था आ गई थी।

कोई आड़ में खड़ा था। उसने ऊपर देखा। फौजदार साहब—कद्दावर, वृद्ध और गौरव की मूर्ति बने खड़े थे, उनका मुख वात्सल्य-भाव से प्रफुल्लित था। दीनेश चौंका—उसी प्रकार जैसे काले नाग के सामने खड़ा हो।

"दीनेश, कैसे हो?" फौजदार साहब ने पूछा।

"आप कहाँ से? कैसे आये?" दीनेश ने पूछा। गाँधीजी के साथ रहकर उसमें अपमान करने की शक्ति क्षीण हो गयी थी।

"तुझे बचाने के लिए।"

"मुझे! किसलिए? आपको क्या?"

"तुझे तेरी माँ, बहू और बच्चे को लेजाकर सौंपना है।"

"सौंप चुके!" दीनेश ने तिरस्कारपूर्वक कहा—"मैं तो कल सवेरे पहुँच जानेवाला हूँ।"

"हाँ; अहमदाबाद न!" फौजदार ने हँसकर कहा।

"आपको क्या पता?" दीनेश ने कटुवाहट के साथ कहा—"सरकारी अधिकारी को स्वदेश क्या, सत्याग्रह क्या और स्वतन्त्रता क्या?" कहकर दीनेश पीछे लौटा।

फौजदार साहब का मृदु हास्य उसके कान में पड़ा।

वह गाँधीजी के आश्रम शिविर को लौट आया।

वहाँ गड़बड़ मच रही थी। सत्याग्रह-सेनानियों की टोलियाँ तैयार थीं, और धीरे-धीरे घबराहट के साथ बात कर रही थीं। हर एक के मुख पर व्यग्रता थी। प्रत्येक की आँखों में अकुलाहट।

राष्ट्र के जन्म-मरण का भयानक प्रसंग था। चौरीचौरा के उपद्रव के बारे में विचार करने के लिए महात्माजी एकान्त-सेवन कर रहे थे।

एक मनुष्य पर, एक पल पर सारे देश के इतिहास का, भावी का आधार था। उस मनुष्य और उस पल पर शासन चलाने की सत्ता किसीको नहीं थी। क्या होगा?

समय का प्रवाह क्षणभर के लिए रुक गया।

एक मीठी और प्रतापपूर्ण आवाज ने बाहर खड़े हुओं को बुलाया।

सब अन्दर गये। अहिंसा के ईश्वरीय दूत के मुख पर ग्लानिपूर्ण हास्य था। विप्लव-वृत्ति और अहिंसा-वृत्ति दोनों के बीच तुमुल युद्ध का घोष सुनायी दे रहा था।

"उपद्रव बन्द किये बिना छुटकारा नहीं होगा।" राष्ट्र-विधाता ने कहा, और इतिहास के अनेक प्रकरण लिखने का अधिकार ले लिया।

कितने ही प्रसन्न हुए और कितने ही दुःखी। दीनेश ने धड़कन से मन्द पड़ती छाती पर हाथ रखा। सत्याग्रह नहीं—उपद्रव नहीं—मार-पीट नहीं,—कैद नहीं,—बन्दूक की बहार नहीं,—मृत्यु नहीं।

वह वहाँ से हट गया—निराशा से मन्द पड़े हृदय को किसी भी प्रकार शान्त करने। उसके आगे फौजदार साहब की कटी अँगुली ज्वालामय सत्य की तरह दौड़ती थी।

यह बात सच है कि मरना चाहनेवाला कभी नहीं मरता। मौत के पीछे भटकने पर भी वह उनको नहीं मिलती। उनके भाग्य में तो निराशा रूपी मरण ही लिखा गया होता है।

"कहाँ जाता है?"

दीनेश चौंका—जैसे किसी भूत ने टोका हो। फौजदार साहब उसके पास आये।

"क्यों भई, अब तो अहमदाबाद आयेगा न ?" उन्होंने फिर कहा।

"किस लिए आऊँ ? आपकी ईख की बातें सुनने ? कभी नहीं। मैं तो मरनेवाला हूँ।" दीनेश की आवाज़ में क्रन्दन था। फौजदार साहब आँख फाड़कर देखते रहे।

"क्या ?" उन्होंने सख्ती से पूछा।

"कुछ नहीं," दीनेश ने भरी हुई आवाज में कहा—"आपका काला मुँह मुझे नहीं देखना है।"

फौजदार ने एकदम आगे बढ़कर दीनेश के खवे पर हाथ रखा।

"मूर्ख ! क्या बकता है ?" तू भी बदमाशों की गप्पबाज़ी में आ गया ? बेवकूफ, उस पर मरना चाहता है ?" फौजदार साहब ने दीनेश की बात का मतलब समझकर कहा।

"हाँ-हाँ !"

"अरे मूर्ख," फौजदार ने उसके खवे को ज़ोर से हिलाकर कहा—"सारे जीवन में तेरे जन्म-दिवस पर ही मैंने कमला बहन से दो बातें की हैं।"

"क्यों तुम्हारा तो विवाह—"

"पागल कहीं का ! यह तो झूठी बात है। तुझे खबर है कि कमला बहन मुझे कहने आयी थीं कि तेरा जन्म-दिवस है, इसलिए तुझे उस रात न पकड़ूँ।"

"हाँ, मुझे कहकर हो गयी थीं।"

"पर किस हक से कहने गयी थीं यह मालूम है ?"

"नहीं।"

"उनसे असल में मेरा विवाह हुआ था, यह बात तो बनाकर कही गयी। मैंने भी यह बात कबूल की है।"

"पर आपने इस्तीफे की धमकी देकर मेरा वारण्ट क्यों रद्द कराया?"

"दीनेश, पहले तो विवाह की मजाक में कही गयी बात मैंने मंजूर की। फिर वहाँ आया। तेरे घरवालों का हेत-हवाल देखा। उस कुटुम्ब-जाल में गुँथाने की मुझे उससे पुष्टि मिली, और कुटुम्ब दुखी न हो; इसलिए वारण्ट रद्द कराया। तू वकील होकर भी ऐसी मूर्खता-भरी बातें करता है। मेरे बेटा नहीं था इससे मैंने तो जाना था कि मुझे बेटा मिल जायगा!" फौजदार साहब ने म्लान मुख होकर कहा।

दीनेश ने ऊपर देखा। कठोर एकाकी सन्तानहीन वृद्ध फौजदार की आवाज़ में उसने स्नेहलालसा देखी। उस वृद्ध पुरुष के शुष्क जीवन में हरियाली उगाना तो एक उपकार था। उस समय वह यहाँ आया है और उसे वापस ले जाना चाहता है—माँ के साथ की हुई बात वह स्वीकार करता है। पर वह कटी अँगुली।

फौजदार हँसा और कुछ देर ठहरा।

"बेवकूफ! चल मेरे साथ।"

आगे-आगे फौजदार, पीछे दीनेश, इस प्रकार वे गाँव में आये और दोनों पहले फौजदार के घर गये। वहाँ जाकर फौजदार साहब एक पुरानी फाइल लेकर लौटे।

"अच्छा हुआ कि आज ही बारडोली अदालत में-से अपना पुराना केस पढ़ने के लिए यह फ़ाइल लाया था।" उन्होंने पन्ना उलटकर एक पृष्ट दीनेश को पढ़ने के लिए दिया। दीनेश ने अज्ञात भाव से उसे पढ़ना आरम्भ किया। वह प्रमोदराय की रिपोर्ट थी—

"चोर को पकड़ते हुए उसके हाथ के हथियार से लग जाने के कारण मेरे बाँये हाथ की बीच की अँगुली को सख्त घाव लगा है। डाक्टर का कहना है कि इस अँगुली का जख्म अच्छा होने में दस दिन लगेंगे।"

दीनेश की आँखों के सामने अँधेरा छा गया। जब वह स्पष्ट देख सका तो फौजदार साहब वात्सल्य-भाव से हँस रहे थे।

दीनेश की आँखों में आँसू आ गये। उसने खड़े होकर हाथ जोड़कर कहा—"प्रमोद काका, तुम्हारा बेटा बनकर रहने का अधिकार चाहता हूँ—दोगे न?" उसकी आवाज़ में आर्द्रता थी।

फौजदार साहब खड़े हो गये, कमरपेटी ठीक की, खँखारकर गला साफ किया और कोट की बायीं बाँह से आँखें पोंछकर उन्होंने दीनेश का आलिंगन कर लिया।

प्रणय—पुराना और नया

वह सदियों का सुदृढ़ खड़ा हुआ गौरवान्वित पत्थर से निर्मित विशाल भवन था। वहाँ पहुँचकर मैं खड़ा हो गया। पहरेदार उसकी रक्षा कर रहे थे। दरवाजे पर किसी श्रद्धालु मुसलमान ने सुन्दर और मरोड़दार अरबी अक्षरों में संगमर्मर में कुछ खुदाया था। फाटक खुला। मैं अन्दर गया और मेरी कोठरी मिली—ऊँची, पर छोटी-सी। दो वर्ष के लिए यही मेरा आवास, शयनगृह, अध्ययन-कक्ष था। इसमें जो कुछ था मेरी समृद्धि थी; और उसकी सफेद सादी दीवारें, कब्र की दीवारें, सारे जगत् के साथ मेरे सम्बन्ध के बीच में आड़े खड़ी थीं।

रात-दिन मैं उसीमें बैठता, और अनेक बार इस भव्य भवन की करुण कथा पर विचार करता। यह गुनहगारों के अस्थि-पंजर के रूप में नहीं निर्मित हुआ था। किसी उदार सुलतान ने हर्ष और गर्व के आवेश में देश-देश के मुसाफिरों के लिए इसकी रचना करायी थी। एक दिन ऐसा था जब इसके सामने के विशाल चौगान में ऊँट, घोड़ा और बैल दूर देश के अतिथियों को लाकर थक जाने के कारण कुछ दिन विश्राम पाते थे। इसके जबर्दस्त दरवाजे में-से उस समय वृद्ध, युवा और बालक सभी जाते-आते थे। इस्लामी दुनिया के यात्री अनेक कोठरियों में विश्राम करते थे।

मेरी कोठरी भी किसी दिन किसी पैगम्बर-पूजक पीर की प्रार्थना से गूँजी होगी, और किसी युवक की लालसा और आशा से भरे हृदय

की धड़कनों से यह दीवारें भी प्रतिध्वनित हुई होंगी। और शायद समरकन्द की कोई स्वरूपवती अपनी प्रणयमस्त काली आँखों की विद्युत्छटा से इसके अन्धकार को प्रकाशित करती रही होगी। और अब इस कोठरी में आकर रहते थे मृत्यु की बाट देखनेवाले, न्याय का शिकार बने हुए खूनी। मैंने विचार किया कि समय बलवान है या पुरुष। जहाँ कभी रुस्तम और सोहराब का शौर्य गूँजता था वहाँ आज गिलहरियाँ कूदती हैं। जहाँ सिकन्दर का जयघोष होता था वहाँ चमगादड़ों की चीख प्रतिध्वनित होती है।

मैं गम्भीर विचार में बैठा, और जीवन-मरण की बिना खुली तहों को उधेड़ता रहा। समय क्या है? विजय क्या है? मानव की महत्त्वाकांक्षा क्या है? और मानवीय कर्मों में जैसे हर्ष और शोक लिखा हुआ है उसी प्रकार इन विशाल भवनों के कर्म में भी होगा? यदि इन पत्थरों में कोई प्राण डाल दे तो उनकी जिह्वाएँ क्या-क्या कथाएँ सुनायें? कैसे अनुभव और दुःख? कैसे सौन्दर्य और कैसे सुख दृष्टि के सम्मुख आ खड़े हों? इस कक्ष की आत्मा यदि साकार-रूप धारण करे तो..... मैंने विचार किया—

तेल चुक गया और धीमा पड़ता दीया मरते व्यक्ति की चेतनता के समान ठण्डा पड़ गया। मैं कल्पना में व्यस्त निश्चेष्ट बैठा रहा। फैले अन्धकार में मैं इस कक्ष में मढ़े संस्कारों से अपने प्रश्न पूछता रहा.....घड़ी व्यतीत हुई.....फिर दो घड़ी.....इस कोठरी का अधिष्ठाता कौन रहा होगा? सारा संसार शान्त था। मेरा हृदय भी जैसे थम गया था। बाहर से एक मोर बोला.....कक्ष में अच्छा, अस्थिर प्रकाश आया? मैं ज़रा झपकी लेकर जगा.....आँखें मसलीं .....एक वृद्ध मुस्लिम सज्जन धीमे कदम से मेरे कक्ष में आये।

वृद्ध सज्जन का वेश अपरिचित था। उनकी लम्बी लाल दाढ़ी उनकी छाती पर फैलती थी। हरे रंग की बड़ी पगड़ी सुन्दर वार्धक्य से रमणीय बनी हुई कपाल की रेखाओं पर छत्र का काम दे रही थी।

सुर्मे से शोभित पलकों में अलमस्त नयन चमकते थे। उनके एक हाथ में तेल का एक लटकता दीपक था और दूसरे हाथ से वे हुक्का गुड़गुड़ा रहे थे। आने पर कक्ष में इत्र की मधुर सुगन्ध प्रसारित हो गयी।

मैं घबराया। इस समय कारावास का द्वार किसने खोला? न वार्डर, न जमादार, न जेलर, यह उमरखय्याम के मित्रों में-से चले आते हुए ज़ईफ कहाँ से आ गये! मैं बोलने लगा; पर आवाज नहीं निकली। उन्होंने आहिस्ता कदम आकर, दीपक को दीवार से टिकाकर रख दिया, और जहाँ मैं बैठा था उसके सामने मेरे क्षोभ को मन्द हास्य के द्वारा तिरोहित करते हुए पैर मोड़कर बैठ गये। रात को अकेले कक्ष में अपरिचित व्यक्ति का आगमन किसे अच्छा लगेगा? और उस पर भी इस दरवेश वेशी पुराने हुक्काबाज़ के सामने मेरा हृदय काँप उठा।

"आप कौन हैं?" मैंने थोड़ी देर में पूछा।

"बच्चा, जिसे तूने बुलाया है वही; इस कक्ष का अधिष्ठाता।" उन्होंने मज़ाक में कहा।

"आपका नाम क्या है जनाब?" छुटकारा न देख मैंने नम्रता का सहारा लिया। अपरिचितों का बच्चा बनने का सौभाग्य मुझे नहीं रुचा।

"मेरा नाम हाफ़िज़ है।" बुड्ढे ने कहा।

"हाफ़िज़!" मैंने अपना स्मृति-कोष टटोलते हुए कहा। मुझे यह नाम याद नहीं आया।

"क्या बात! मेरी ग़ज़लों से तो दुनिया मुहब्बत के तराने का सबक़ सीखती है।"

"हाफ़िज़—हाफ़िज़," कुछ याद आया—"हाफ़िज़, जिसने सनम के एक तिल के लिए समरकन्द और बुखारा को निछावर कर दिया था, वही—"

बुड्ढा ठठाकर हँस पड़ा।

"हाँ वही—मैं वही हूँ—वही हाफ़िज़ हूँ बच्चा।"

पर संशयात्मा मैं सिर धुनता ही रहा।

"किन्तु कवियों के सिरताज, आप यहाँ बीजापुर में कैसे?"

"बेटा, यहाँ तो मेरा एक पक्का शागिर्द रहता था। वह मेरी ग़ज़लें गाता और एक-एक शब्द का मतलब समझता था। उसका आशिक दिल पल-पल उसी में सराबोर रहता था। अभी तक ये दीवारें उसकी आवाज़ की गूँज—प्रतिध्वनि सुनाती हैं—मधुर, कम्पायमान और ग्लानिभरी। अब भी इन मेहराबों में छुपा है उस दीवाने का आखिरी निःश्वास। जो कुछ मैंने गाया उसका अनुभव उसने किया था, जो मैंने सिखाया उसमें उसने सुधार किया। मैं तो सनम की ख़ातिर समरक़न्द और बुखारा खो बैठा था; पर उसने अपनी यौवन-मस्त ज़िन्दगानी खो दी; और उसीलिए मैं आता हूँ अपनी आत्मा को सन्तोष देने और अपने गीतों को फिर से सुनने।"

प्रणय की परीक्षा में अपने को प्रवीण समझता मैं इस पुराने इश्क की आत्मश्लाघा को न सह सका।

"जनाब, प्रणय का गान गाना सरल है; लेना और देना तो बड़े महँगे लाभ हैं। समरक़न्द और बुखारा आपके नहीं थे इसलिए उनका लाभ तो सदा सह्य था। मैंने भी प्रणय का घाव सहन किया है और प्रणय-तप का सेवन किया है। मैंने भी प्रणय-रत नर-नारियों को थोड़ी-बहुत शिक्षा दी है।

वृद्ध की आँखें चमकीं, और उसने दाढ़ी पर हाथ फेरा। कोठरी में हिना की गमक भर गयी, और उसने हुक्का इस प्रकार गड़गड़ाया जैसे हँस रहा हो।

"नादान! जिगर के जंजालों को तू क्या जाने इश्क का मोह-वैविध्य। बता तो कितनी नाज़नीनों की क़दमबोसी की है तू ने?"

मैं खिसिया उचका-उचकाकर इस तरह हँसा जो इस ज़माने के लोगों को शोभा देता।

"मुरब्बी ! हम आधुनिकजन कदमबोसी की गुलामगीरी को नहीं पसन्द करते। हमारी रीति ऐसा नहीं करने देती—हम तो नाज़नीनों की स्मृति-पूजा करते हैं।"

कविवर हँसे—"जो जानता है वही कह सकता है। जो कह सकता है वही जानता भी है। जो नहीं जानता वह नहीं कहता; वह इश्क को पहचान ही नहीं सकता।" उन्होंने हुक्के को तिरस्कारपूर्वक गड़गड़ाया।

"अर्वाचीनों के अभिमान का पार नहीं है। पर हमने देखा, जाना और अनुभव किया है। उसका एक अंश भी तुम्हारे कर्म में नहीं लिखा है। क्या सरो की सँकरी छाया में घास पर बैठ, बहते झरने में दिलदार का चश्म देखा है ? एक शराब के जाम में-से दोनों ने इश्क पिया है ? और चिराग यानी चाँद जब मसजिद के मीनारों पर ठहरा रहता है उस वक्त काली अँधियारी आँख में देखता हूँ तेरी तस्वीर ?"

"मैंने क्या किया है, यह मैं नहीं कहना चाहता," मैंने कहा—"युग-युग में मदन-स्वरूप बदलता है; आत्मा भी बदलती है।"

"और अँधेरी रात में श्वेत संगमर्मर-जैसे श्वेत काकेशश की सुन्दरी के हृदय पर मस्तक रखे तारा शोभायमान हो ? और पूर्णिमा की आधी रात को ईरानी रमणी के गाल के तिल पर जीवन न्यौछावर किया है ? और उगते आफ़ताब में काश्मीरी रमणी के ?"

"बहुत हुआ कविवर ! हम अर्वाचीनी तो बहुत संक्षेप में कहते हैं—हमारा धर्म प्रणय है—जो एक संसार में एक ही बार स्वीकार किया जाता है, उसी में हम मरते हैं और उसी में जीते हैं ?"

"कैसी बदनसीबी की बात है ! भला एक गुलाब चुनकर कोई बाग़बान हुआ है ? एक परी मेहर का कदम चूमकर कोई आशिक नहीं हुआ। आज की नाज़नीनों के नैनों में जुदा ही जादू भरा है !"

"मियाँजी ! हम अर्वाचीनी तो अपनी प्रियतमा के गुलाम हैं। उनके सिवा हमें किसी और के जादू की ज़रूरत नहीं पड़ती, और न

हम उसकी प्रशंसा करते हैं। और हमारे घर बाँदियाँ नहीं बैठी हैं फिर हम परी मेहर के कदम चूमने जायँ और वे देखती रहें। वे तो भोग-माया हैं—हमें खा जायँ, समूचे का समूचा ही।

"मुझे लगता था कि इस ज़माने में कुछ ऐसी बेवकूफ़ी होनी चाहिये, बेवकूफ़ो!"

"कविवर! हमारा ज़माना हमारे लिए पूरा है।"